कृष्णदास संस्कृत सीरीज–१०४

श्रीकृष्णमिश्रयतिप्रणीतं

प्रबोधचन्द्रोदयम्

'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

સાહિત્ય

चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला

२०

श्री कृष्णमिश्रयति प्रणीतं

प्रबोधचन्द्रोदयम्

'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्

व्याख्याकार :—

पं० रामनाथ त्रिपाठी शास्त्री

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

वाराणसी

१९७७

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३४

मूल्य

C. S. S. OFFICE
Rs. 85/-

© चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १३८, वाराणसी–२२१००१

(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० ८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)

फोन : ६३१४५

CHAUKHAMBA AMARABHARATI GRANTHAMALA
20

PRABODHACANDRODAYA

OF

SRI KRISHNA MISHRA YATI

Edited With
'Kalyani' Sanskrit -Hindi Commentries

BY

Pt. RAMANATHA TRIPATHI SHASTRI

Chaukhamba Amarabharati Prakashan
VARANASI–221001
1977

© Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Oriental Publishers & Book – Sellers
Post Box No. 138
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001
(INDIA)

First Edition
1977
Price Rs. 8–00

Also can be had of
The Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8, Varanasi–221001 (India)
1977
Phone : 63145

दो शब्द

'प्रबोधचन्द्रोदय' एक विख्यात दार्शनिक नाटक है। उसका 'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेत यह अभिनव संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्रन्थ के गूढतरभावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना मेरे प्रयास का उद्देश्य रहा है उसमें मैं कहाँ तक सफल रहा हूँ यह निर्णय पाठकों पर छोड़ता हूँ।

'प्रबोधचन्द्रोदय' के इस संस्करण को वर्तमान कलेवर देने में यथा समय प्राप्त कतिपय संस्करणों से मुझे सहायता मिली है। मैं उन सभी पूर्ववर्ती टीका एवं विद्वानों का हृदय से आभार मानता हूँ जिनकी कृतियों ने पथप्रदर्शक का काम कर मुझे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता प्रदान की है।

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन के कर्मठ संचालक महोदय तथा उनके कर्त्तव्यनिष्ठ सहयोगी जन धन्यवाद के पात्र हैं जिनके प्रशंसनीय सहयोग से यह संस्करण पाठकों के करकमलों में पहुंच सका है।

अन्त में अज्ञानवश अथवा प्रमादवश हुई सभी त्रुटियों के लिए विद्वज्जनों के समक्ष नतमस्तक हो क्षमा-प्रार्थी हूँ। इति-

श्री गङ्गादशहरा
वि० संवत् २०३४

विद्वद्विधेय
रामनाथ त्रिपाठी

भूमिका

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक वा प्रकरण ?

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक है या प्रकरण ? इस विषय पर विचार करने से पूर्व प्रबोधचन्द्रोदय के शान्तरस की उपयुक्तता पर विचार कर लेना समीचीन होगा। 'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा' इस वचन के अनुसार नाटकादि में वीर अथवा शृङ्गार से भिन्नरस का प्राधान्य रीतिशास्त्रविरुद्ध अत एव अयुक्त है। काव्यप्रकाशकार 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः' की मान्यता देकर भी शान्त को नाट्य का रस नहीं मानते—'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीर-भयानकाः। बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।'

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा। रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः॥" ऐसे शान्तरस को अभिनय का विषय बनाना उपहासास्पद-सा प्रतीत होता है, इसी लिए प्रायः आचार्यों ने शान्तरस को अभिनय के लिए अनुपयुक्त घोषित कर दिया।

शान्तरस नाटक के लिए क्यों अनुपयुक्त है ? इस पर विना विशदविवेचन किये, केवल शान्तरस के अभिनय को उपहासास्पद मानकर नाटक में शान्तरस के प्रयोग को अयुक्त ठहराना वस्तुतः तर्कहीन अतएव अमान्य है। जो 'शान्त' काव्य का रस हो सकता है, वह नाट्य का रस क्यों नहीं हो सकता ? शान्तरस का स्थायीभाव 'शम' है। जो लोग 'निर्वेद' या 'तृष्णाक्षयसुख' या 'आत्मज्ञान' कहते हैं उनका भी वही तात्पर्य है। ये सब समानार्थक हैं, इनमें तात्त्विक भेद नहीं है। इस 'शम' के 'दृश्य' अथवा 'श्रव्य' काव्य के बन्ध से अभिव्यञ्जन में कोई वैषम्य नहीं। जैसा कि विश्वनाथ कविराज ने स्पष्ट कहा है—

'युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥

यश्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः।'

(साहित्यदर्पण, ३।२५०)

विशिष्टाद्वैत दर्शन के आचार्य वेदान्तदेशिक भी 'शम' के अभिनय अथवा वर्णन में कोई भेद या अनुपपत्ति नहीं मानते हैं—

'असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम् ।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारैः परैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः ॥

न हि वयमवधूतनिखिलधर्माणामलेपकानां मतमभिनेष्यामः ।''' सन्ति खलु भगवता गीताचार्येण सहस्रशः प्रतिपादिताः सात्त्विकेन त्यागेन परिकर्मिता निवृत्ति-धर्मपद्धतिनियता विविधा व्यापारा यदभिनयेन रंगोपजीविनामाजीवावकाशः ।'

(सङ्कल्पसूर्योदय, १।१६)

अतएव परवर्ती कवियों ने नाटकों में भी शान्तरस का सफल प्रयोग किया है। 'जीवानन्दम्,' 'विद्यापरिणयनम्,' 'अमृतोदयम्,' 'चैतन्यचन्द्रोदयम्' इत्यादि में सर्वत्र शान्तरस का अच्छा निर्वाह हुआ है और इनमें कहीं कोई ऐसा स्थल नहीं है जो सहृदयों के लिए उद्वेजक हो। इस लिए 'एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा' यह वचन अथवा नाट्य में शान्तरस की अप्रयोज्यता बताने वाली मम्मटोक्ति चिन्त्य है।

रूपक के दस भेदों में 'नाटक' प्रधान माना गया है। 'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा' का ऊपर प्रत्याख्यान किया जा चुका है। अतः अन्य भी किसी रस की प्रधानता हो सकती है। यही बात रूपकभेद-विशेष 'प्रकरण' आदि में भी समझनी चाहिए अर्थात् 'प्रकरण' में केवल शृङ्गाररस की ही प्रधानता हो यह नियम चिन्त्य है; शान्तरस की प्रधानता भी अयुक्त नहीं है। हाँ 'नाटक' में 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्' के अनुसार इति वृत्त रामायण आदि के प्रसिद्ध राम आदि महापुरुषों के चरित के आधार पर रचित होना चाहिए जिसका 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में अभाव है अतएव इसे 'नाटक' नहीं 'प्रकरण' कहना अधिक समीचीन है। 'प्रकरण' का इतिवृत्त लौकिक अथवा कविकल्पित हुआ करता है (भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्) प्रबोधचन्द्रोदय का सारा इतिवृत्त कवि-कल्पित ही है। प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ-काम परायण चित्रित किया जाता है। प्रबोध-

चन्द्रोदय का नायक विवेक, एक आध्यात्मिक भाव-विशेष का प्रतीकरूप होने के कारण तथा रूपक के शान्तरसप्राधान्य की मान्यता स्थापित हो जाने से धीरप्रशान्त एवं केवल धर्मपरायण है और जात्या 'विप्र' माना जाना चाहिए। नायिका उपनिषद्देवी को कुलजा मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

प्रबोधचन्द्रोदयकार श्रीकृष्ण मिश्र

काल—श्रीकृष्ण मिश्र ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' की प्रस्तावना में गोपाल, कीर्तिवर्मा और कर्णराज का स्मरण किया है उसी से इनके काल के विनिश्चय में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

कीर्तिवर्मा—यह चन्देलवंश का राजा था। जैजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देलों का राज्य इतिहास में बड़ा शक्तिशाली कहा गया है। चन्देल लोग अपने को ऋषि चन्द्रात्रेय की सन्तान मानते हैं। उनका कथन है कि ऋषि चन्द्रात्रेय का जन्म चन्द्रमा द्वारा हुआ था। श्री कृष्णमिश्र ने इसी लिए 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में कीर्तिवर्मा को चन्द्रवंशी कहा है। चन्देलराजाओं ने चन्द्रात्रेय को अपने अभिलेखों में अपना आदि पुरुष माना है। संभवतः इसी नाम के आधार पर उनका नाम 'चन्देल' पड़ा। इनके प्रमुख नगर थे—छतरपुर, महोबा, कालिंजर और खजुराहो। खजुराहो चन्देल राज्य की राजधानी थी। कीर्तिवर्मा के बड़े भाई का नाम देववर्मा था। ये दोनों विजयपाल के पुत्र थे।

कर्णराज—जैजाक भुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देलों के राज्य के दक्षिण में आधुनिक जबलपुर के निकट कलचुरि राजपूतों का राज्य था। कलचुरि राज्य की राजधानी त्रिपुरी थी। इस लिए इनको चेदि, डहल अथवा त्रिपुरी के कलचुरि कहते हैं। कर्णराज इसी वंश का शासक था। इसका वास्तविक नाम लक्ष्मीकर्ण था। इसके पिता का नाम गांगेयदेव था।

कीर्तिवर्मा और कर्णराज का सङ्घर्ष—कलचुरिनरेश गांगेयदेव (१०१९–१०४० ई०) के उपरान्त उसका प्रतापी पुत्र लक्ष्मीकर्ण अथवा कर्णराज सिंहासन पर बैठा। और इधर चन्देल राजा विजयपाल की १०५० ई० में मृत्यु होने के बाद उसके बड़े पुत्र देववर्मा ने शासनसत्ता प्राप्त की। कलचुरि नरेश ने चन्देल नरेश देववर्मा पर आक्रमण कर उसे सिंहासनच्युत कर दिया

और उसके छोटे भाई कीर्तिवर्मा को अपनी सेना में नौकरी करने के लिए बाध्य किया। सन् १०६० ई० के लगभग देववर्मा की मृत्यु होने के बाद कीर्तिवर्मा ने ब्राह्मण योद्धा गोपाल की सहायता से कर्णराज को हराकर पुनः अपने भाई द्वारा खोया हुआ राज्य प्राप्त कर लिया। ४० वर्ष शासन करने के उपरान्त ११०० ई० में कीर्ति वर्मा की मृत्यु हुई।

कीर्तिवर्मा की इसी विजय के उपलक्ष्य में श्रीकृष्णमिश्र विरचित यह प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक सर्वप्रथम अभिनीत किया गया था। कीर्तिवर्मा ने श्रीकृष्णमिश्र को राज्याश्रय प्रदान किया था। संभवतः गोपाल की प्रेरणा से ही श्रीकृष्णमिश्र इस नाटक की रचना में प्रवृत्त हुए थे। गोपाल इसके द्वारा अपने मित्र कीर्तिवर्मा की चेदिराजा कर्णराज पर विजय की स्मृति को अमिट करना चाहता था।

कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०६० ई० से ११०० ई० है अतः श्रीकृष्णमिश्र का भी काल ११ वीं शती का उत्तरार्ध विनिश्चित है।

श्रीकृष्णमिश्र का देश—श्रीकृष्णमिश्र ने कहीं अपने निवास देश के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में गौडों की दाम्भिकता का उपहास जिस सरसता एवं सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट होता कि श्रीकृष्णमिश्र गौडों से अत्यन्त निकट का परिचय रखते थे। षष्ठ अङ्क में विहारप्रान्त के मन्दार गिरि पर स्थित मधुसूदन-मन्दिर का सादर उल्लेख किया गया है। अतः इस बात की दृढ संभावना की जाती है कि श्रीकृष्णमिश्र विहार के ही रहने वाले थे।

कथासार

प्रथम अङ्क

मन की दो स्त्रियाँ हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति से मोहकुल और निवृत्ति से विवेककुल की उत्पत्ति हुई। दोनों कुल एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। मोहकुल का नेता मोह है जिसके पक्ष में काम, लोभ, क्रोध, तृष्णा, हिंसा आदि हैं। विवेककुल का नेता विवेक है इसके पक्ष में वस्तुविचार, सन्तोष, छमा, श्रद्धा, शान्ति, करुणा आदि हैं। काम और रति प्रविष्ट होते हैं। रति काम से कहती है कि महाराज मोह का विपक्षी विवेक प्रबलतर है। काम उसे विश्वास दिलाता है कि विवेक की क्या शक्ति है जो हमारे सामने ठहर सके। उसके यमनियम आदि जिन मुख्यमन्त्रियों की बातें कर रही हो उनके लिए चित्तविकार पर्याप्त हैं। खास कर मद, मात्सर्य, दम्भ और लोभ आदि के सामने तो वे यम नियमादि ठहर ही नहीं सकते। रति ने पुनः पूछा कि सुनती हूँ कि आप लोगों का और विवेक का एक ही वंश है। काम ने कहा—वंश ही नहीं हम सब का पिता ही एक है। हमारे पिता मन ने इस संसार को अर्जित किया। पिता के प्रिय होने के कारण हमने उस पर अधिकार कर लिया, इसी लिए यह विवेक हम लोगों को और पिता जी को उन्मूलित करना चाहता है। रति ने कहा कि क्या इतना वड़ा पाप विद्वेषमात्र से किया जा रहा है। काम ने कहा—तुम स्त्री हो डर जाओगी, हमारे वंश में विद्या नाम की कन्या जन्म लेगी जो पूरे कुल को खा लेगी। किन्तु तुम डरो मत, हमारे रहते विद्या किसी तरह भी उत्पन्न न होने पायेगी। यह सुनकर रति ने कहा कि वह विद्या राक्षसी पूरे कुल को अर्थात् विवेकादि का भी विनाश कर देगी तब उसका जन्म लेना विवेकपक्ष को क्यों अभीष्ट है। काम ने बताया कि वह विवेक से उपनिषद् देवी में प्रबोधचन्द्र भाई के साथ जन्म लेगी इस लिए शम-दम आदि उद्योगशील हैं। वे लोग कुलक्षय करने पर तुले हुए हैं उन पापियों को स्व-पर का क्या ज्ञान है?

इधर विवेक काम की बातें सुनकर मति से कहता है कि प्रिये काम की गर्वयुक्त बातें तुमने सुनीं जो हम लोगों को ही पापी ठहराता है? इन दुरात्मा पापी अहङ्कार परायण मदादिकों ने चिदानन्दमय नित्य निष्कलङ्क उस जगत्प्रभु

को बाँध कर दीन दशा प्राप्त करा दी है। फिर भी ये पुण्यात्मा हैं और उसकी मुक्ति के लिए प्रयत्न करने वाले हम सब पापी हैं? मति ने पूछा कि वह परमेश्वर सर्वत्र व्यापक नित्यानन्द स्वरूप होकर भी इस प्रकार कैसे बन्धन में पड़ गया। विवेक ने उत्तर दिया बड़े-बड़े बुद्धिमान स्त्रियों द्वारा छल लिये जाते हैं, इसी लिए परमेश्वर भी माया के द्वारा ही बन्धन में डाल दिये गये हैं। मति ने इसकी मुक्ति का उपाय पूछा तब विवेक ने बताया कि उपनिषत् के साथ हमारा संसर्ग होने पर प्रबोध की उत्पत्ति होगी, तभी यह बन्धन छूट सकता है। मति ने इस विषय में अपनी स्वीकृति दे दी।

द्वितीय अङ्क

महाराज मोह ने दम्भ को बुलाकर आदेश दिया कि विवेक ने प्रबोधोदय की प्रतिज्ञा की है और तीर्थों में शम-दम आदि को भेज दिया है। यह हमारे लिये कुल क्षय का समय आ गया है अतः तुम लोग सावधान होकर इसका प्रतीकार करो। संसार में सबसे बड़ा मुक्तिस्थान काशी है, वहाँ जाकर चारो आश्रमों में निःश्रेयस को विघ्नित करो। तदनुसार मोह वाराणसी में जाकर अपना प्रभाव जमाता है। दक्षिण राढा से अहङ्कार भी वहाँ पहुँच जाता है। बात-चीत के सिलसिले में दम्भ उसे पहचान कर अहङ्कार के चरणों में प्रणाम कर अपना परिचय देता है। अहङ्कार ने दम्भ से कहा कि मैंने तुम्हें द्वापर के अन्त में शिशुरूप में देखा था, तुम अब काफी बड़े हो गये और मैं वृद्ध भी हो चुका हूँ, इसलिए तुम्हें पहिचान न सका। दम्भ के मुख से यह भी उसे ज्ञात हुआ कि दम्भ का परिवार सकुशल है और राजा मोह की आज्ञा से वह भी यही काशी में डटा है। अहङ्कार ने दम्भ से अपने आने का प्रयोजन बताते हुए कहा कि सुना है विवेक से मोह को भय उपस्थित है, इसी को ठीक से जानने आया हूँ। दम्भ ने कहा—बड़े अच्छे मौके पर आप का यहाँ आना हुआ क्योंकि सुनते हैं महाराज मोह भी इन्द्रलोक से यहाँ आ रहे हैं। यह भी अफवाह है कि महाराज ने अपने वास के लिए वाराणसी को अपनी राजधानी चुना है। ऐसा करने में महाराज का प्रयोजन विवेक को उपरुद्ध करना है क्योंकि विवेक; विद्या तथा प्रबोधोदय की जन्मभूमि होने के कारण नित्या काशीपुरी में ही अपने कुल के उच्छेदक

की इच्छा से सदा वास करना चाहता है। यथा समय मोह का आगमन हुआ। उसी समय चार्वाक भी उपस्थित हुआ। चार्वाक ने कुशल-क्षेम बताकर मोह से निवेदन किया—विष्णुभक्ति नाम की एक अत्यन्त प्रभाव शालिनी योगिनी है। यद्यपि कलि ने उसका प्रचार कम कर दिया है, फिर भी उसके द्वारा अनुगृहीत वंश की ओर हम देख भी नहीं पाते हैं। आप इस विषय पर ध्यान रखें। इसी समय पुरी से मद-मान का पत्र लेकर एक पुरुष उपस्थित हुआ। उस पत्र से मोह को ज्ञात हुआ कि शान्ति अपनी माता श्रद्धा के साथ विवेक की दूती बन कर विवेक से मिलने के लिए उपनिषद् को अहर्निश समझाती है। काम-सहचर धर्म भी वैराग्य आदि के द्वारा फोड़ लिया गया है। इन बातों को जान कर महाराज यथोचित कार्य करें। महामोह ने शान्ति को अपने वश में करने का उपाय स.चा कि शान्ति श्रद्धा की पुत्री है। मिथ्यादृष्टि द्वारा उपनिषद् के पास से श्रद्धा को हथिया लें तो माँ के वियोग में शान्ति ढीली पड़ जायगी। तदनुसार श्रद्धा को वश में करने के लिए मिथ्यादृष्टि नियुक्त कर दी गयी।

तृतीय अङ्क

मिथ्यादृष्टि ने श्रद्धा को ग्रस्त कर लिया। शान्ति सर्वत्र श्रद्धा को ढूँढती फिरती है। करुणा नामक सखी के परामर्श से शान्ति श्रद्धा को ढूँढने पाखण्डालयों में भी जाती है। वहाँ उसे दिगम्बर जैन साधुओं के दर्शन होते हैं जो अपने मत को श्रेष्ठता बताने फिरते हैं। वहाँ उसे जो श्रद्धा मिलती है वह तामसी श्रद्धा होती है। इसी प्रकार उसे अपने मत की श्रेष्ठता बताने वाले बौद्ध-भिक्षु के दर्शन होते हैं, वहाँ भी तामसी श्रद्धा ही उसे दिखायी पड़ी। बौद्धभिक्षु और जैन क्षपणक दोनों को सोमसिद्धान्तवादी कापालिक ने नारी-मदिरा के प्रलोभन से आकृष्ट कर लिया और कापालिकीवेष धारिणी राजसी श्रद्धा ने उन दोनों को आलिङ्गित कर मदिरा-पान कराया। वहाँ शान्ति को सन्देह हुआ कि हमारी माता ही तो नहीं है किन्तु करुणा ने बताया कि यह राजसी श्रद्धा है। क्षपणक ने गणना करके कापालिक को बताया कि धर्म और श्रद्धा इस समय विष्णुभक्ति के पास हैं। कापालिक ने कहा—यदि ऐसा है तो महाराज मोह के सामने कष्ट उपस्थित है। इसलिए धर्म और श्रद्धा का आहरण करने के लिए

महा भैरवी विद्या को भेजता हूँ। करुणा और शान्ति यह समाचार बताने के लिए विष्णु भक्ति के पास चल पड़ीं।

चतुर्थ अङ्क

श्रद्धा और मैत्री का प्रवेश होता है। मैत्री ने श्रद्धा से कहा कि मैंने मुदिता से सुना कि महा भैरवी के चङ्गुल से तुम्हें विष्णुभक्ति ने बचाया है, तुम्हे देखने ही जा रही थी। श्रद्धा ने महाभैरवी वाली सारी घटना बतायी। मैत्री ने भी अपनी कथा श्रद्धा से कही कि हम चारो बहनें महात्माओं के हृदय में रहती हैं। विष्णुभक्ति के आदेशानुसार विवेक कामादि की विजय के लिए उद्योग पर होता है। काम को परास्त करने के लिए वस्तुविचार क्रोध विनाश के लिए क्षमा, लोभ को जीतने के लिए सन्तोष को नियुक्त कर विवेक स्वयं रथारूढ हो सेना के साथ चल पड़ा।

पञ्चम अङ्क

विवेक की सेना द्वारा मोहपक्ष का संहार होने पर बन्धुविरोध की कुल संहारकता से श्रद्धा को बड़ा दुःख हुआ। शान्ति और विष्णुभक्ति से मिल कर श्रद्धा प्रसन्न हुई। विष्णुभक्ति के पूछने पर श्रद्धा ने उससे सारा युद्धवृत्तान्त बताया—केशवमन्दिर से आप के चले आने के बाद प्रातः काल दोनों ओर की सेना आमने-सामने आ खड़ी हुई। विवेक ने न्यायदर्शन को दूत बनाकर मोह के पास भेजा। उसने जाकर मोह से कहा—आप भगवान् के मन्दिर, जलाशय-तट, पुण्य कानन तथा पुण्यात्माओं के हृदय को छोड़ कर अनुगामियों को साथ लेकर म्लेच्छदेश में चले जाइए अन्यथा आप का समूल विनाश होगा। यह सुनकर मोह क्रोध से पागल हो उठा। इसी समय हमारी सेना के आगे सरस्वती सहसा प्रकट हुई। वैष्णव, शैव, सौर आदि शास्त्र देवी के पास आए। मीमांसा भी सरस्वती के सामने हाजिर हुई। फिर क्या था, बड़ा घोर संग्राम हुआ। सभी मोहपक्षीय मारे गये। मोह कहीं जाकर छिप गया। प्रिय पुत्रों और प्यारी प्रवृत्ति

का निधन-समाचार सुनकर मन को बड़ा दुःख हुआ, वह आत्म-दाह पर उतारू हो गया। इसी समय वैयासिकी सरस्वती ने उसके पास आकर संसार की वास्तविकता का उपदेश देकर भगवदाराधन द्वारा निर्वृति प्राप्त करने का सुझाव दिया। मन के स्वस्थ होने पर सरस्वती ने पुनः कहा—गृहस्थ को अनाश्रमी नहीं रहना चाहिए, अतः आज से निवृत्ति तुम्हारी धर्मपत्नी रहेगी। इस प्रकार मन को शान्ति प्राप्त हुई।

षष्ठ अङ्क

श्रद्धा विवेक कुल को स्वस्थ देखकर प्रसन्न हुई। शान्ति ने एक-एक करके राजकुल का समाचार पूछा जिसे श्रद्धा ने विस्तार पूर्वक बताया। श्रद्धा से शान्ति को ज्ञात हुआ कि पुरुष ने माया से सम्बन्ध छोड़ दिया है। राजकुल की स्थिति यह है कि नित्यानित्यवस्तु-विचारणा ही प्रिया है, वैराग्य ही एक मात्र मित्र है, यम-नियम आदि साथी तथा शम-दम आदि सहायक हैं। मैत्री आदि वृत्तियाँ परिचारिकाएँ हैं, मुमुक्षा सदा साथ रहती है, मोह—ममता-सङ्कल्प-सङ्ग आदि शत्रु हैं जिनका उच्छेद करना है। श्रद्धा ने यह भी बताया कि फिर भी मोह ने स्वामी पुरुष को फुसलाने के लिये मधुमती विद्या को उपसर्गों के साथ भेजा। मधुमती ने पुरुष को बड़े-बड़े प्रलोभन दिए। माया ने उसके प्रस्ताब की प्रशंसा की, मन ने अनुमोदन किया, सङ्कल्प ने प्रोत्साहित किया, पुरुष भी सहमत हो गया, परन्तु पार्श्ववर्त्ती तर्क ने समय पर उनकी दुरभिसन्धि का पर्दाफाश कर पुरुष को सावधान कर दिया। राजा विवेक, पुरुष से मिला। वहाँ उपनिषत् को समझा-बुझाकर शान्ति ले आयी और वह विवेक से मिली। उपनिषत् विवेक से मिलने में आनाकानी कर रही थी क्योंकि विवेक ने बुरे दिनों में उसकी उपेक्षा कर दी थी। शान्ति ने उसे विवेक को परिस्थिति और विवशता वताकर उसका अमर्ष दूर किया। पुरुष के पूछने पर उपनिषत् ने अपनी बीती मुसीवतों को सुनाया। इसके बाद पुरुष के पूछने पर उपनिषत् ने आत्मा का स्वरूप बताया। उसी समय निदिध्यासन ने आकर पुरुष के समक्ष ही उपनिषद् को कहा कि तुम्हारे गर्भ से विद्या और प्रबोधोदय नाम की दो सन्तानें होंगी, उनमें विद्या को सङ्कर्ष विद्या द्वारा मन में सङ्क्रातकर देना और प्रबोधचन्द्र को पुरुष के हाथों में सौंप कर विवेक के साथ विष्णुभक्ति के पास चली जाना। तदनुसार

विद्या और प्रवोधचन्द्रका उदय हुआ। विद्या बिजली की तरह कान्ति से दिशाओं को आलोकित करती हुई, मन के वक्षः स्थल को विदीर्ण कर परिकर सहित मोह को ग्रस्त करती हुई अन्तर्हित हो गयी और प्रवोधोदय, पुरुष को प्राप्त हुआ। प्रवोधोदय होने से सबका अज्ञानान्धकार दूर हुआ और विष्णुभक्ति की कृपा से पुरुष बन्धन मुक्त हुआ।

दार्शनिक प्रतीक नाटक : नाट्य साहित्य

संस्कृत नाट्य साहित्य में 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि कतिपय ऐसे नाटक हैं जिनमें अमूर्त भावों और गुणों को गतिशील मानव की तरह चित्रित करने का प्रयास किया गया है। ऐसे नाटकों को प्रतीक नाटक, छायाटक अथवा भावनाटक की संज्ञा दी जा सकती है। सम्भव है कि दार्शनिक गूढ भावों का विशद एवं सुगम रूप से प्रभावशाली चित्रण करने के उद्देश्य से ऐसे नाटकों की रचना का सूत्रपात हुआ हो और यह भी सम्भव है कि श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में २५ वें अध्याय से २६ वें अध्याय तक चलने वाली पुरञ्जन की दार्शनिक प्रतीक कथाएँ प्रेरक रही हों किन्तु ऐसी रचनाएँ बहुत परवर्त्ती हैं और इनकी संख्या भी अधिक नहीं है अतः संस्कृत नाट्य साहित्य के प्रारम्भिक विकास में योगदान की दृष्टि से इनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। ऐसी रचनाओं का केवल इस दृष्टि से महत्त्व है कि इनमें अमूर्त भावों एवं गुणों का मानवी-करण हुआ है जो नाट्यसाहित्य में एक मौलिक नवीन प्रयास कहा जा सकता है किन्तु यह भी अवधेय है कि इस शैली के नाटक यदा-कदा छुट-फुट बनते हैं अत एव इनकी कोई अलग क्रम-बद्ध परम्परा स्थापित नहीं हो सकी और न ही इस शैली का कतिपय दोषो के कारण अधिक विकास ही हो सका। ऐसे नाटकों को नाट्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल आकार-प्रकार अवश्य दिया गया, मान्य नियमों से भी अलङ्कृत किया गया है फिर भी जैसा चाहिए वह नाटकीय रूप इनमें निखर नहीं सका है। अमूर्त भावों के मानवी-करण के प्रयास में उनका मानवरूप इतना अधिक स्फुट नहीं होना चाहिए कि उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जाय और न इतना कम विकसित होना चाहिए कि वे जीवनहीन व्यक्तित्व के कारण अपने भावमात्ररूप में ही बने रह जाँय; किन्तु होता ऐसा है कि या तो उन भावों का

मानवरूप अधिक स्फुट होकर उनके उद्देश्य को नष्ट कर देता है, या इतना कम विकसित हो पाता है कि वे भावमात्र ही बने रह जाते हैं। ऐसी रचनाओं में सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए किया गया प्रयास इतना प्रत्यक्ष होता है कि घटनाओं की रञ्जकता और सरसता विनष्ट हो जाती है। किसी दार्शनिक-सिद्धान्त को नाटकीयरूप देने के प्रयास में पूरी सफलता प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस दिशा में सफलता के लिए कवि में यथार्थ चित्रण क्षमता, प्रौढकत्वशक्ति और सतर्क अद्‌भुद प्रतिभा का होना नितान्त आवश्यक है।

प्रबोधचन्द्रोदय : कथावस्तु

श्रीकृष्णमिश्र की एकमात्र रचना प्रबोधचन्द्रोदय एक गम्भीर सफल दार्शनिक प्रतीक नाटक है जिसमें मानव हृदय के दो स्वभावतः विरुद्ध वृत्तियों का चित्रण है। एक पक्ष की वृत्तियाँ आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति रखने वाली हैं और दूसरे पक्ष की वृत्तियाँ उसके प्रतिकूल प्रवृत्ति रखती हैं। अन्त में आत्म-ज्ञानोन्मुख वृत्तियों की विजय और आत्मज्ञान विमुख वृत्तियों की पराजय का सफल उपस्थापन है। मन की दो पत्नियाँ हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति से मोह, और निवृत्ति से विवेक नामक दो शक्तिशाली पुत्रों की उत्पत्ति है। सौतेले भाई होने के कारण घोर विरोध दोनों में होता है। मोह के पक्षपाती काम, क्रोध, अहङ्कार, लोभ, तृष्णा दम्भ आदि हैं। मोह की स्त्री मिथ्यादृष्टि है। इसमें मोह के अतिरिक्त काम-क्रोधादि भी आसक्ति रखते हैं। विवेक के परिजन हैं मति, करुणा, शान्ति, श्रद्धा, क्षमा, सन्तोष, वस्तुविचार आदि। श्रद्धा को महाभैरवी आक्रान्त कर लेती है किन्तु विष्णुभक्ति उसकी रक्षा करती है। श्रद्धा की पुत्री शान्ति अपनी माँ की खोज में भटकती है पर उसे कहीं भी श्रद्धा दिखायी नहीं देती। इसी प्रसङ्ग में जैन बौद्ध-सोमसिद्धान्त में सात्त्विकी श्रद्धा का, कौशलपूर्ण ढङ्ग से अभाव दिखाया गया है। मोह और विवेक का सङ्घर्ष बढ़ कर युद्ध का रूप धारण कर लेता है। अन्त में विवेक की विजय होती है। इस विजय में विष्णुभक्ति ने विवेक की बड़ी सहायता की। मन अपने पुत्र मोहादि तथा पत्नी प्रवृत्ति के वियोग में दुःखी हो आत्मदाह के लिए उद्यत होता है। उसी समय वैयासिकी सरस्वती पहुँच कर उसे आश्वस्त करती है। वह पुनः निवृत्ति को पत्नी और शम-दम आदि को पुत्र रूप में

स्वीकार करता है। इधर शान्ति; रूठी हुई उपनिषद् देवी को बहुत समझा-बुझा कर विवेक से मिलाती है। उसके द्वारा विद्या और प्रबोधोदय की उत्पत्ति होती है जिससे सबकी संसारनिवृत्ति होती है।

कथा वस्तु की पाँच अर्थप्रकृतियाँ

अर्थ प्रकृतियाँ 'अर्थ' अर्थात् मुख्यफल के हेतु होती हैं। अर्थ प्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकारी और कार्य।

(१) **बीज**—नायक के मुख्य फल का वह हेतु 'बीज' कहलाता है जिसका कथा के प्रारम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अभिधान किया जाता है परन्तु जो उत्तरोत्तर विकसित और वृद्धिशील होता जाता है। तदनुसार प्रस्तुत नाटक में प्रथम अङ्क के आरम्भ में काम की '**सा खलु विवेकेनोपनिषद्देव्यां प्रबोधचन्द्रेण भ्रात्रा समं जनयितव्या**' उक्ति कथा का 'बीज' है।

(२) **बिन्दु**—अवान्तर वृत्तान्त के द्वारा मूलकथा का विच्छेद होने पर जो हेतु अग्रिम इतिवृत्त को अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ाता है, 'बिन्दु' कहलाता है। तदनुसार प्रस्तुत नाटक में दम्भ के प्रति (द्वितीय अङ्क में) अहङ्कार की '**वत्स, मया महामोहस्य विवेकसकाशादत्याहितं श्रुतम्**' उक्ति 'बिन्दु है क्योंकि दम्भ और अहङ्कार के लम्बे संवाद द्वारा मूलकथा के विच्छिन्न होने पर यह अंश उसे जोड़ता है और अग्रिम इतिवृत्त अविच्छिन्नरूप से चल निकलता है।

(३) **पताका**—'पताका' वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है जो दूर तक चलता रहता है और मुख्य फल को प्राप्त करने में प्रधान नायक की सहायता करता है। प्रस्तुत नाटक में विष्णुभक्ति का व्यापक वृत्तान्त 'पताका' है जिसमें विष्णुभक्ति महामोह को निरस्त करती हुई 'प्रबोधोदय' रूप मुख्य फल को प्राप्त करने में प्रधान नायक विवेक की सहायता करती है।

(४) **प्रकरी**—'प्रकरी' वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है जो 'पताका' की अपेक्षा छोटा होता है और लक्ष्य तक पहुँचने में नायक का उपकारक होता है। प्रस्तुत नाटक में सरस्वती का वृत्तान्त 'प्रकरी' है जिसमें सरस्वती विवेक की सेना के अग्रभाग में सहसा प्रकट होकर पाखण्डागमों, लोकायतमत, बौद्धमत, दिगम्बरसिद्धान्त, कापालिकमत आदि पर सदागमों को विजयी बनाकर महामोह के पक्ष को ध्वस्त करती हुई प्रबोधोदय में विवेक की सहायता करती है।

(५) **कार्य**—'कार्य'रूप अर्थप्रकृति का अभिप्रायउस प्रधानत या अवस्थित साध्य का है जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ होता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है। प्रस्तुत नाटक में विवेक और उपनिषद् के पुनर्मिलन से प्रबोधचन्द्र की उत्पत्ति होती है। यही इस नाटक का मुख्य कार्य है।

कथावस्तु के कार्य की पाँच अवस्थाएँ

फल के उद्देश्य से प्रारब्ध कार्य की पांच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल की सिद्धि के लिए औत्सुक्य को 'आरम्भ' कहते हैं। फल प्राप्ति के लिए सत्वर किये जाने वाले व्यापार को 'प्रयत्न' कहते हैं। फलसिद्धि के साधक और प्रतिवन्धक के पारस्परिक द्वन्द्व में फलसिद्धि की आशा अथवा संभावना को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं। विघ्नबाधा की निवृत्ति में फलप्राप्ति की संभावना के निश्चय को 'नियताप्ति' कहते हैं। जिस अवस्था में समग्र फल लाभ हो जाता है उसे 'फलागम' कहते हैं।

सन्धिपञ्चक

उपर्युक्त 'अर्थप्रकृतिपञ्चक' रूप वृत्त भेद के साथ उपर्युक्त अवस्थापञ्चक की क्रमिक सम्वद्ध योजना के कारण नाटकीय इतिवृत्त के पांच भाग हो जाते हैं उन्हें ही पाँच सन्धियाँ कहते हैं। वे हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श (अवमर्श) उपसंहृति अथवा निर्वहण।

मुखसन्धि—'वीज' अर्थप्रकृति और 'आरम्भ' अवस्था को मिलाकर मुख-सन्धि होती है। तदनुसार प्रस्तुत नाटक के प्रथम अङ्क में 'मुखसन्धि' है।

प्रतिमुखसन्धि—'विन्दु' अर्थप्रकृति और 'प्रयत्न' अवस्था को मिलाकर प्रतिमुख सन्धि होती है। तदनुसार प्रस्तुत नाटक के द्वितीय और तृतीय अङ्क में 'प्रतिमुखसन्धि' है।

गर्भसन्धि—'पताका' अर्थप्रकृति और 'प्राप्त्याशा' अवस्था को मिलाकर गर्भसन्धि होती है। तदनुसार प्रस्तुत नाटक के तृतीय अङ्क के अन्तिम श्लोक 'मूलं देवी सिद्धये विष्णुभक्ति' रित्यादि श्लोक से लेकर पञ्चम अङ्क के 'यदप्य-भ्युदयः प्रायः प्रमाणादवधार्यते' इत्यादि श्लोक सं० [illegible] 'गर्भसन्धि' है।

विशेष—यह ज्ञातव्य है कि किसी-किसी कथा में 'पताका' नहीं भी होता

है, क्योंकि यह अनिवार्य नहीं है अतः गर्भसन्धि मुख्यरूप से प्राप्त्याशा पर आश्रित होती है।

विमर्शसन्धि—'प्रकरी' अर्थप्रकृति और 'नियताप्ति' अवस्था को मिलाकर 'विमर्शसन्धि' होती है। तदनुसार प्रस्तुत नाटक के पञ्चम अङ्क के श्लोक सं ४ के वाद श्रद्धा और विष्णुभक्ति के संवाद से लेकर अङ्क समाप्ति पर्यन्त 'विमर्श सन्धि' है।

विशेष—'प्रकरी' की भी योजना अनिवार्य नहीं वल्कि वैकल्पिक है अतः विमर्श सन्धि मुख्यतया 'नियताप्ति' अवस्था पर आश्रित होती है।

निर्वहणसन्धि—जिस भाग में, मुखादि सन्धियों में यत्र-तत्र उपन्यस्त बीजादि रूप इति वृत्तांश प्रधानफल के निष्पादक वनते दिखायी दिया करते हैं उसे निर्वहणसन्धि कहते हैं। तदनुसार प्रस्तुत नाटक के षष्ठ अङ्क में निर्वहण सन्धि है।

प्रवोधचन्द्रोदय का वैशिष्टय तथा नाट्यसाहित्य में उसका स्थान श्री कृष्णमिश्र ने गम्भीर भावपूर्ण दार्शनिक विचारधारा को, नाट्य शास्त्रीय सिद्धान्तानुकूल आकार-प्रकार से युक्त और मान्यनियमों से अलङ्कृत एक नाटक का रूप देने का प्रयास किया है। किसी दार्शनिक सिद्धान्त को नाटकीय रूप देना वड़ा कठिन होता है फिर भी मिश्र जी की यह रचना अन्य दार्शनिक प्रतीकनाटकों की अपेक्षा अधिक सफल हुई है। इन्होंने मानवहृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के अन्तर्विरोध का जो कलात्मक नाटकीय चित्र उपस्थित किया है उससे इनकी यथार्थचित्रण-क्षमता का स्पष्ट पता चलता है। इनकी कला का एक उत्कृष्टरूप यह भी है कि इस नाटक में स्त्री-पुरुष मिलाकर लगभग अट्ठाईस पात्र हैं। उनमें प्रायः सभी अमूर्त भाव रूप हैं जिनका मानवीकरण किया गया है। इतने अधिक पात्रों के होते हुए भी चरित्रों का परिस्थितिगत विकास अधिक स्वाभाविक रूप में हुआ है। नाटक के नायक विवेक के केन्द्रीय महत्त्व का सम्यक् निर्वाह करते हुए, किसी भी पात्र को व्यक्तित्वविकास से वञ्चित नहीं होने दिया। नाटक की कथा और उसकी मूल संवेदना कहीं उलझने नहीं पायी। इस सफलता का सारा श्रेय इनकी सतर्क अद्भुत प्रतिभा को है। कथोपकथन की दृष्टि से भी यह नाटक निर्दोष है। कहीं भी निरर्थक और अनावश्यक वार्तालाप को स्थान नहीं दिया गया है। इनके कथोपकथन कथानक को निरन्तर आगे वढ़ाने तथा पात्रों की स्वभावगत चारित्रिक विशेषताओं को अभिव्यक्त करने में पूर्ण सफल हैं।

प्रबोधचन्द्रोदय का वैशिष्टय तथा नाट्यसाहित्य में उसका स्थान

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक की रचना में मिश्र जी का उद्देश्य अद्वैत वेदान्त और विष्णुभक्ति का समन्वयात्मकरूप उपस्थित करना है, जिसका स्वर पात्रों के संवादों के माध्यम से किसी-न-किसी रूप में आदि से अन्त तक गूँज रहा है और जो अन्त में कथा वस्तु के विकास का परिणाम बन जाता है। इस दृष्टि से भी मिश्र जी की यह कलाकृति उच्च कोटि की ठहरती है।

इस रूपक का अङ्गी (मुख्य) रस 'शान्त' है। 'शम' स्थायिभाव है। नायक विवेक और नायिका उपनिषद् है। अनित्यता किं वा दुःखमयता के कारण सांसारिक विषयों की निःसारता के व्यञ्जक वचन आदि अनुभाव हैं। तपोवन, नदी, पर्वत, तीर्थस्थान आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्षपुलकादि सात्त्विक भाव हैं। हर्ष, मति, धृति, जीवदया आदि व्यभिचारी भाव हैं। प्रसाद और माधुर्य गुण हैं। अन्य रौद्रादि रस अङ्ग रूप में आये हैं।

मिश्र जी की सफलता में उनकी प्रौढकवित्वशक्ति का बड़ा हाथ है। इनकी कविता में प्रवाह और प्रसाद है। कविता के द्वारा अमूर्त भावों को मूर्त्तिमान् बनाने, दार्शदिक गूढतत्वों को हृदयङ्गम कराने, किसी सिद्धान्त या वस्तु के स्वरूपचित्रण में मिश्र जी सिद्ध हस्त हैं। देखिये कामदेव का चित्र—

'उत्तुङ्ग पीवरकुचद्वयपीडिताङ्गमालिङ्गितः पुलकिनेन भुजेन रत्या।
श्रीमान् जगन्ति मदयन्नयनाभिरामः कामोऽयमेति मदघूर्णितनेत्रपद्मः॥' (१।१०)

इसी प्रकार कामदेव की गर्वोक्तियाँ (१।११–१६) कितनी तथ्यपूर्ण हैं, इसका अनुभव सामान्यजन को भी है।

वाराणसी में तरङ्गशीतल शिला पर गङ्गा के किनारे बैठकर कुशमुष्टि से दण्ड को मण्डित करके कमण्डलु लिए हुए अक्षसूत्र के प्रत्येक दाने पर अंगुली घुमाते हुए घनिकों के धन का हरण करने वाले दाम्भिकों का जो चित्र मिश्र जी ने 'गङ्गातीरतरङ्गशीतल' इत्यादि (२।५) में प्रस्तुत किया है वह आज भी नवीन-सा ही बना हुआ है। काशी आदि क्षेत्रों में जाने पर आज भी वह दृश्य प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है।

क्रोध के वास्तविक रूप के चित्रण में दार्शनिक कवि मिश्र ने जो कमाल दिखाया है वह अन्यत्र दुर्लभ है —

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि ।
कृत्यं न पश्यति येन हितं शृण ति धीमानधीतमपि न प्रति संदधाति ॥(२।२९)

'पुमानकर्त्ता कथमीश्वरो भवेत्' इस गूढतत्त्व को कितने सरल और सरस ढंग से मिस्र जी हृदयङ्गम कराते हैं, देखिए—

अयः स्वभावादचलं बलाच्चलत्यचेतनं चुम्बकसंनिधाविव ।
तनोति विश्वेचितुरीक्षितेरिता जगन्ति मायेश्वरतेयमीशितुः ॥ (६।१६)

अर्थात् चुम्बक के संनिधान से अचल लौह जैसे चल हो जाता है उसी तरह ब्रह्म के ईक्षण से प्रेरित माया विश्वसृष्टि करती है, यही ईश्वर की ईश्वरता है।

इसी प्रकार द्वितीय अङ्क के श्लोक सं० १८ से श्लोक सं०२३ तक ६ श्लोकों में ही चार्वाकसिद्धान्त के स्वरूप का प्रतिपादन बड़े तर्क पूर्ण ढंग से किया है।

मिस्र जी ने अनेकत्र पात्रों के मुँह से जो नीति श्लोक कहलवाये हैं वे भी भर्तृहरि के नीति श्लोकों के समान ही हृदयावर्जक हैं । इस प्रकार इस नाटक में नाटकीय विधान के साथ कवित्व का स्तुत्य सहयोग मिलता है।

इस नाटक की भाषा सरल एवं सरस है। शैली प्रसादगुणपूर्ण है। शान्तरस-प्राधान्य होने से प्रायः मधुर वर्णों का प्रयोग एवं मधुरपदों की योजना की गयी है वाक्य छोटे-छोटे हैं। लम्बे-लम्बे समासों से बचने का प्रयत्न किया गया है।

अभिनेयता की दृष्टि से भी यह सफल है क्योंकि इस नाटक में सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने के लिए उनका सफल व्यक्तीकरण किया गया है जिससे अभिनेयता में कोई बाधा या कठिनाई नहीं होती।

प्रतीक नाटकों में श्रीकृष्णमिश्र का यह नाटक सर्वप्रथम रचना है फिर भी वस्तु-विषय, वर्णन-शैली, प्रतिपाद्य और कला आदि की दृष्टि से प्रतीक नाटकों में सबसे अधिक सफलता प्राप्त करने के कारण इसका सर्वप्रथम स्थान है।

अन्य कोटि के सामान्य नाटकों से इसकी तुलना करना न्याय्य नहीं होगा, क्योंकि कथोपकथन का वह आनन्द या रसपरिपाक जो स्वभावतः सामान्य नाटकों में प्राप्त होता है, दार्शनिक नाटकों में कदापि सम्भव नहीं है। दार्शनिक नाटकों का आनन्द, दार्शनिक भावना से ही सजीव अभिनय देखने पर प्राप्त किया जा सकता है अथवा दार्शनिक भावना से ही पढ़ने पर पाठक किसी सीमा तक अपनी कल्पना के सहारे दृश्यों के मानसिक चित्र में रमता हुआ ऐसे नाटकों का रसास्वादन कर सकता है।

पात्र–परिचय

(पुरुष पात्र)

१—सूत्रधार	मुख्य अभिनेता (नाटकाभिनयप्रबन्धक)।
२—विवेक	प्रधान नायक।
३—वस्तुविचार	विवेकसेवक।
४—सन्तोष	विवेकसेवक।
५—पुरुष	क्षेत्रज्ञ, आत्मा।
६—प्रवोधोदय	उपनिषदुत्पन्न पुत्र।
७—वैराग्य-निदिध्यासन-सङ्कल्प	मन से उत्पन्न।
८—पारिपार्श्विक,पुरुष,सारथि,प्रतिहारी	इतर जन।
९—महामोह	प्रतिनायक।
१०—चार्वाक	महामोह का मित्र।
११—काम,क्रोध,लोभ,दम्भ,और अहङ्कार	महामोह के अमात्य
१२—मन	सङ्कल्परूप
१३—दिगम्बर, भिक्षु और कापालिक	जैन बौद्ध और सोमसिद्धान्तावलम्वी
१४—वटु, शिष्य, पुरुष और दौवारिक	इतर जन।

(स्त्री पात्र)

१—नटी	सूत्रधार की पत्नी।
२—मति	विवेक की पत्नी।
३—श्रद्धा	शान्ति की माता।
४—शान्ति	विवेक की बहिन।

५—करुणा	शान्ति की सखी।
६—मैत्री	श्रद्धा की सखी।
७—उपनिषत्	वेदान्तविद्या (नायिका)।
८—सरस्वती	विष्णुभक्ति सखी।
९—विष्णुभक्ति	विवेक की सहायिका।
१०—क्षमा	विवेक की दासी।
११—मिथ्यादृष्टि	मोह की पत्नी।
१२—विभ्रमावती	मिथ्यादृष्टि की सखी।
१३—रति	काम की पत्नी।
१४—हिंसा	क्रोध की पत्नी।
१५—तृष्णा	लोभ की पत्नी।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
(१) आदि	
दो शब्द	५
भूमिका	
प्रबोधचन्द्रोदय नाटक वा प्रकरण ?	७
प्रबोधचन्द्रोदयकार श्रीकृष्ण मिश्र	६
कथासार	
प्रथम अङ्क	११
द्वितीय अङ्क	१२
तृतीय अङ्क	१३
चतुर्थ अङ्क	१४
पञ्चम अङ्क	१४
षष्ठ अङ्क	१५
दार्शनिक प्रतीक नाटकः नाट्य साहित्य	१६
प्रबोधचन्द्रोदयः कथावस्तु	१७
कथा वस्तु की पांच अर्थप्रकृतियाँ	१८
कथावस्तु के कार्य की पाँच अवस्थाएँ	१९
सन्धिपञ्चक	१६
प्रबोधचन्द्रोदय का वैशिष्ट्य तथा नाट्य-साहित्य में उसका स्थान	२१
पात्र परिचय	२३
(२) मध्य—	
ग्रन्थ प्रबोधचन्द्रोदय	

प्रथम अङ्क १
द्वितीय अङ्क ५२
तृतीय अङ्क ११०
चतुर्थ अङ्क १५३
पञ्चम अङ्क १९४
षष्ठ अङ्क २३३

(३) अन्त—

परिशिष्टः—

हिन्दी नोट्स (टिप्पणी) २७९
नाटकीय विषयों की संक्षिप्त व्याख्या २८५
नाटकगत शाश्वत सत्य-परक वाक्य एवं सुभाषित २९०
वर्णानुक्रम श्लोक सूची २९७

॥ श्रीः ॥

प्रबोधचन्द्रोदयम्

'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव पयःपूरो यदज्ञानतः
खं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति ।

नमो रामाय देवाय जानकीपतये सदा ।
हरये रघुवीराय ब्रह्मण्याय नमो नमः ॥
जलजाक्षाय नाथाय नीरदाभाय विष्णवे ।
सीतया समवेताय शरण्याय नमो नमः ॥
पितरं निर्मलात्मानं, 'महादेवं' मनस्विनम् ।
'सरयूं' जन्मदात्रीं च, भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥

कृतं हि श्रीकृष्णयतीन्द्रवेधसा, प्रबोधचन्द्रोदयनाम नाटकम् ।
करोमि कल्याण्यभिधां मनोहरां, तदीयव्याख्यां सरलां गुणान्विताम् ॥

अथ दार्शनिककविः श्रीकृष्णमिश्रयतिर्निर्विघ्नं चिकीर्षितग्रन्थसमाप्तये, तस्य सानन्दाभिनयसम्पत्तये, सामाजिकानामानुषङ्गिकमङ्गलसिद्धये च शिष्टाचारज्ञापित-स्मृतितर्कितश्रुतिबोधितकर्त्तव्यताकमष्टपदनान्द्यात्मकं मङ्गलं ग्रन्थतो निबध्नाति—**मध्याह्नेति** । यदज्ञानतः—यस्य=अधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मात्मकस्य तेजसः, अज्ञानतः=अज्ञानात्, मध्याह्नार्कमरीचिकासु—अह्नो मध्यम्=मध्यमो भागः इति मध्याह्नः, तत्र वर्तमानो यः अर्कः = सूर्यः, तस्य मरीचिकासु = मरीचय एव मरीचिकाः =

जिस (अधिष्ठानभूत ब्रह्मात्मक तेज) को न जानने के कारण (संसारी लोगों को) मध्याह्नसूर्य की मरीचिका में जल-राशि के समान, आकाश, वायु, अग्नि, जल

यत्तत्त्वं विदुषां निमीलति पुनः स्रग्भोगिभोगोपमं
सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वात्मावबोधं महः ॥ १ ॥

किरणाः, सिकतादिप्रतिफलिता इति भावः, तासु, पयःपूरः = इव–पयसां जलानां, पूरः=प्रवाहः, स इव, खम् = आकाशम्, वायुः=समीरः, ज्वलनः=अग्निः, जलम्= वारि, क्षितिः = पृथिवी, इति = इतिपदेन शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादीनामहङ्कारादीनां च ग्रहणं कृतमिति बोध्यम्, एवंप्रकारेण त्रैलोक्यम् = त्रयो लोका इति त्रैलोक्यम् (स्वार्थे ष्यञ्) उन्मीलति = दृश्यते, अवभासते इत्यर्थः । यत्तत्वम्— यस्य = ब्रह्मात्मकस्य तेजसः, तत्वम् = अबाधितस्वरूपम्, विदुषाम् = जानताम् (न 'लोकाव्यय'—इत्यादिना कृद्योगलक्षणषष्ठीनिषेधात्तत्वमिति द्वितीया) पुनः= तु, स्रग्भोगिभोगोपमम्— स्रजि = मालायाम्, भोगिनः = सर्पस्य, भोगः = देहः, स उपमा यस्य तत् त्रैलोक्यम्, निमीलति = विलयं याति । अत्रायमाशयः— ब्रह्मरूपिणि वस्तुनि जगद्रूपावस्तुभ्रमः, यथा मध्याह्नार्कमरीचिकासु पयःपूरस्य भ्रमः । मध्याह्नमरीचिकादर्शकस्य मरीचिकाविषयकमज्ञानं पयःपूराकारपरिणतिमासादयति किन्तु सावहिति मरीचिकादर्शनानन्तरं तदज्ञाननिवृत्तौ पयःपूरभ्रान्तिरपसर्पति एवं स्वयंप्रकाशानन्तब्रह्मरूपवस्तुनि तदज्ञानजन्यमखिलचराचरप्रपञ्चरूपमवस्तु समवभासते किन्तु ब्रह्मरूपवस्तुनि ज्ञाते जगद्रूपावस्तुभ्रान्तिर्निवर्तत इति तद् अमलम् = अविद्यातत्कार्यादिदोषशून्यम्, सान्द्रानन्दम्–सान्द्रः = निबिडो नित्यो य आनन्दः, तद्रूपम्, आनन्दघनमित्यर्थः, स्वात्मावबोधम् = स्वयंप्रकाशमित्यर्थः, महः = परमात्मलक्षणं तेजः, उपास्महे = उपासनं कुर्मः, इत्थं सकलचराचरप्रपञ्चस्य ब्रह्मणो रूपत्वे निश्चिते सति तस्मिन् ब्रह्मणि चिरकालपर्यन्तमात्मनो मनोवृत्तिं स्थिरीकर्तुं करणीयं कर्म कुर्म इति भावः ।

अत्र श्लोके प्रथमोदाहरणं संसारिविषयं, द्वितीयोदाहरणं मुक्तविषयमिति ज्ञेयम् । अत्र श्लोके मध्याह्नरविमरीचिकासु पयःपूर इव ब्रह्मणि जगदुन्मीलति, तिष्ठति निमीलति चेत्युक्त्या 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादिश्रुतिनिरूपितं

और पृथिवी इस क्रम से त्रैलोक्य अवभासित होता है (किन्तु) जिसके तत्त्व (अबाधित स्वरूप) को जानने वालों (जीवन्मुक्त) के लिए, माला-सर्प-

अपि च—

अन्तर्नाडीनियमितमरुल्लङ्घितब्रह्मरन्ध्रं
स्वान्ते शान्तिप्रणयिनि समुन्मीलदानन्दसान्द्रम् ।

सृष्टिस्थितिलयकर्तृत्वरूपं ब्रह्मणो तटस्थलक्षणम्, सान्द्रानन्दमित्यादिना सच्चिदानन्दत्वरूपं स्वरूपलक्षणं च प्रतिपादितमिति ध्येयम् । 'खं वायुर्ज्वलनः' इति क्रमे 'तस्माद्वा एतस्मादाकाशस्संभूतः' इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम् । तन्मह 'उपास्महे' इत्यनेनैक्यरूपः प्रतिपाद्यविषयः, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः 'निमीलति' इत्यनेन, 'सान्द्रानन्दम्' इत्यनेन चाविद्यानिवृत्तिपूर्वकानन्दावाप्तिलक्षणं प्रयोजनम्, तत्कामोऽधिकारीत्यनुबन्धचतुष्टयं सूचितम् । 'मध्याह्नार्कमरीचिकासु पयःपूर इव', 'स्रग्भोगिभोगोपमम्' इत्यत्र चोपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडतं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ १ ॥

मङ्गलान्तरमारभते—अन्तर्नाडीति ।

अन्तर्नाडीनियमितमरुल्लङ्घितब्रह्मरन्ध्रम्—अन्तर्नाड्याम् = सुषुम्नायाम्, नियमितः = संनिरुद्धः, यो मरुत् = वायुः, प्राणवायुरित्यर्थः, तेन सार्धं लङ्घितम्= उल्लङ्घितम्, ब्रह्मरन्ध्रं येन तादृशम्, सुषुम्नामाविश्य ब्रह्मरन्ध्रं प्रविष्टमित्यर्थः, शान्तिप्रणयिनि = उपशमं गते, स्वान्ते = अन्तःकरणे, समुन्मीलत् = प्रकटीभवत्, आनन्दसान्द्रम् = स्वप्रकाशानन्दरूपमित्यर्थः, यमिनः—यमोऽस्यास्तीति यमी (नित्ययोगे मत्वर्थीय इनिः) = ध्यानमग्नः, तस्य, चन्द्रार्धमौलेः—चन्द्रस्य अर्धः चन्द्रार्धः, चन्द्रार्धयुक्तः मौलिर्यस्य स तस्य, चन्द्रार्धमण्डितशिरसः शिवस्य, स्पष्टललाटनेत्रव्याजव्यक्तीकृतमिव—स्पष्टं यथा स्यात्तथा, लालाटम् = ललाटस्येदमिति लालाटम् ('तस्येदमि'त्यण्) ललाटस्थितमित्यर्थः, यत् नेत्रम्, तस्य व्याजेन= छलेन व्यक्तीकृतमिव—न व्यक्तमित्यव्यक्तम्, अव्यक्तम् व्यक्तं सम्पद्यमानं कृतमिव इति

शरीर के समान (वह त्रैलोक्य) विलीन हो जाता है, उस अमल (अर्थात् अविद्यातत्कार्यादिदोषशून्य) आनन्दघन, स्वयंप्रकाश तेजोरूप ब्रह्म की हम उपासना करते हैं ॥ १ ॥

योगनिष्ठ शिव के शान्तिमय चित्त में प्रकाशमान, स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मस्वरूप तेज (प्रत्यग्ज्योति) सर्वोत्कृष्ट है जो सुषुम्ना नाडी में अवरुद्ध प्राणवायु

प्रत्यग्ज्योतिर्जयति यमिनः स्पष्टलालाटनेत्र-
व्याजव्यक्तिकृतमिव जगद्व्यापि चन्द्रार्धमौलेः ॥ २ ॥

व्यक्तीकृतमिव = स्वभावतः अचाक्षुषमपि चाक्षुषीकृतमिव, जगद्व्यापि = ब्रह्माण्ड-व्यापकम्, प्रत्यग्ज्योतिः—प्रत्यक् = जडानृताहंकारादिभ्यः प्रातिकूल्येन सत्यज्ञाना-नन्दादिरूपत्वेनाञ्चति = प्रकाशत इति प्रत्यक् = आत्मस्वरूपं ज्योतिः=तेजोरूपम्, जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते । ध्यानावस्थितशिवस्य ध्यानविषयीभूतं प्रत्यग्ज्योतिर्ल-लाटनेत्रव्याजेन सर्वलोकप्रत्यक्षं भवति, तेन तन्मह उपास्महे इति वाक्यार्थः सम्पन्न इत्यवधेयम् ।

अत्र नान्दीद्वये शब्दतः षष्ठाङ्कार्थः सूचितः । अर्थतोऽपि मध्याह्नार्केत्यादि-प्रथमार्धेन ससेनो महामोहः, तृतीयपादेन ससेनो विवेकः, चतुर्थपादेनोभयोः सेना-विलयानन्तरं स्वरूपावस्थानं निर्वहणसन्धिप्रतिपाद्यञ्च सूचितम् । मन्दाक्रान्ता वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' ॥ २ ॥

नान्द्यन्ते सूत्रधार इति । विघ्नोपशान्त्यर्थं प्रथमं विधीयमाना शुभाशीर्वचन-संयुक्ता देवविप्रनृपादीनां स्तुतिः 'नान्दी' । तथा च दर्पणे—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति सञ्ज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥'

इह च तटस्थलक्षणस्य स्वरूपलक्षणस्य च वर्णनेन ब्रह्मणः स्तुतिः प्रयुक्ता । 'चन्द्रार्धमौलेः' इति चन्द्रपदोपादानेनास्या नान्द्याश्चन्द्रशंसित्वं सूचितम् । पद्यद्वि-तयेन अष्टपदात्मिकेयं नान्दी, श्लोकद्वयस्यैकैकपादस्यैकैकपदत्वात् । श्लोकपादस्यापि पदशब्देन व्यवहारे नाट्यप्रदीपप्रतिपादितवाक्यं प्रमाणम्—

के साथ ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट (होकर) उन (शिव) के ललाटस्थ तृतीयनेत्र के मिष से, (स्वभावतः अचाक्षुष होते हुए भी) सर्वसाधारण के समक्ष विशदरूप से विद्यमान सा हुआ ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते सूत्रधारः)

सूत्रधारः— अलमतिविस्तरेण । आदिष्टो-ऽस्मि सकलसामन्तचक्रचूडामणिमरीचिमञ्जरीनीराजितचरणकमलेन बलवदरिनिवहवक्षस्तटकपाटपाटनप्रकटितनृसिंहरूपेण प्रबलतरनरपतिकुलप्रलयमहार्णव-

'श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे ।
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ॥' इति ।

नान्द्याः = उक्तलक्षणरूपाया अन्ते = पाठसमाप्तौ'—

सूत्रधारः—सूत्रं नाटकीयकथासूचकवाक्यं धारयति समुपस्थापयतीति सूत्रधारः, प्रधाननट इत्यर्थः । तथा हि—

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः ॥' इति ।

अपरञ्च—'नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते ।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥' इति ।

अलमतिविस्तरेणेति । अतिविस्तरेण = नान्दीपाठस्यात्यन्तप्राचुर्येण, अलम् = इतोऽधिकं नान्दीपाठो मा विधेय इत्यर्थः । यदीतोऽपि बहुतरं नान्दीपाठो भवेत्तदा कालक्षेपो भविष्यति, अतोऽधिकनान्दीपाठविधानं व्यर्थमेवेति सूत्रधारोक्तेरभिप्रायः । अत्र वारणार्थे तृतीया । विस्तर इत्यत्र 'प्रथने वावशब्दे' (पा० ३।३।३३) इति शब्दप्रथने घञ् प्रत्ययस्य निषेधादप् प्रत्ययः । अन्यत्र तु विस्तारः, वृक्षासनयोस्तु विष्टर इत्येव भवतीति बोध्यम् ।

आदिष्टोऽस्मीति । आदिष्टः = आज्ञप्तः । सकलसामन्तेत्यादिः—सकलाः = समग्रा ये सामन्ताः = माण्डलिकाः, तेषां चक्रम् = समूहः, तस्य चूडासु = मुकुटेषु ये मणयः = पद्मरागादयः, तेषां मरीचिमञ्जरीभिः = किरणसमूहैः, नीराजितम् = कृतनीराजनम्, पूजितमिति भावः (निस् + √राज् + णिच् + कर्मणि क्तः) चरणकमलम्=पादपङ्कजं यस्य स तेन, भूपालगोपालस्य विशेषणमेतत्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । बलवदरिनिवहेत्यादिः—बलवन्तो येऽरयः = शत्रवस्तेषां निवहः =

(नान्दी पाठ के समाप्त होने पर सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—बस, अब अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं । सकल-सामन्तों के द्वारा मुकुटमणियों के किरणसमूहों से जिसके चरणकमल की आरती

निमग्नमेदिनीसमुद्धरणमहावराहरूपेण सकलदिग्विलासिनीकर्णपूरीकृतकीर्तिलतापल्लवेन समस्ताशास्तम्बेरमकर्णतालास्फालनबहलपवनसम्पातनर्तितप्रतापानलेन श्रीमता गोपालेन। यथा खल्वस्य सहजसुहृदो

समूहस्तस्य वक्षस्तटकपाटम्–वक्षस्तटम् = उरोदेशः, स एव (विस्तृतत्वात्) कपाटम्, तस्य पाटने = विदारणे, प्रकटितम् = प्रदर्शितम् नृसिंहरूपं येन तेन, प्रबलशत्रुवक्षःस्थलविदारकेणेत्यर्थः, अत्र ना = नरः, सिंह इवेत्युपमितसमासः, हरिपक्षे ना=नरः, स चासौ सिंहश्चेति कर्मधारयः। प्रबलतरेत्यादिः–प्रबलतराः = अतिशयेन प्रबला इति प्रबलतराः ('द्विवचनविभज्य'–इत्यादिना तरप् प्रत्ययः) दुर्जेया इत्यर्थः, ते च ये नरपतयः = नरेशाः, तेषां कुलम् = समूहः, तदेव प्रलयमहार्णवः = प्रलयकालिको महाविस्तृतसमुद्रः, तत्र निमग्ना = ब्रुडिता या मेदिनी = पृथिवी, तस्य समुद्धरणे = उद्धारे, महावराहरूपेण = आदिवराहतुल्येन, यथा भगवता वराहेण प्रलयपयोधौ निमग्ना पृथिवी समुद्धृता तथैव भूपालगोपालेन सकलप्रबलतरनृपतीन् विजित्य तेभ्योऽपहृत्य पृथिवी स्वायत्तीकृतेति भावः।

सकलदिग्विलासिनीकर्णपूरीकृतकीर्तिलतापल्लवेन—सकलाः=समस्ता या दिश एव विलासिन्यः = अङ्गनाः, तासां कर्णपूरीकृतः = कर्णावतंसीकृतः, (अभूततद्भावेच्विः) कीर्तिलतापल्लवः=यशोवल्लरीकिसलयो येन स तेन, दिगन्तव्यापियशसेत्यर्थः। समस्ताशास्तम्बेरमकर्णतालास्फालनेत्यादिः—समस्ताः = निखिलाः, ये आशास्तम्बेरमाः = दिग्गजाः, तेषां कर्णतालेन = श्रवणसञ्चालनेन यत् आस्फालनम् = आहननम्, तेन बहलः = प्रभूतः, यः पवनः = वायुः, तस्य सम्पातेन = आघातेन, प्रनर्तितः = नृत्तं कारितः, प्रवर्धित इति यावत्, प्रतापानलः—प्रताप एव अनलः = अग्निर्यस्य स तेन। श्रीमता = महानुभावेन, गोपालेन = तन्नाम्ना राज्ञः कीर्तिवर्मदेवस्य सहायकेन मित्रेण।

गोपालस्यादेशं प्रतिपादयति—यथा खल्वित्यादिना। सहजसुहृदः = नैसर्गिक-

की जाती है, जिसने बलवान् शत्रुओं के कपाटसदृश विस्तृत वक्षःस्थल को विदीर्ण करने में (अपने) नृसिंहरूप को प्रकट किया, एवं अत्यन्त प्रबल नृपकुलरूप प्रलयकालिकमहाविस्तृतसागर में निमग्न पृथिवी के उद्धार में महावराह का रूप धारण किया [अर्थात् जिस प्रकार भगवान् वराह ने प्रलयपयोधि में निमग्न पृथिवी का उद्धार किया था, ठीक उसी प्रकार जिस (गोपाल) ने सकल

राज्ञः कीर्तिवर्मदेवस्य दिग्विजयव्यापारान्तरितब्रह्मानन्दरसैरस्माभिः समुन्मीलितविविधविषयरसास्वाददूषिता इवातिवाहिता दिवसाः। इदानीं तु कृतकृत्या वयम्। यतः—

मित्रस्य, स्वभावसहृदयस्य वा। राज्ञः कीर्तिवर्मदेवस्य = जैजाकभुक्तिप्रदेशस्य (आधुनिकबुन्देलखण्डनाम्नः प्रदेशस्य) राजा कीर्तिवर्मा तस्य, दिग्विजयव्यापारान्तरितब्रह्मानन्दरसैः—दिग्विजये यो व्यापारः = संलग्नता, तेन अन्तरितः = वाधितः, ब्रह्मानन्दरसः = आत्मानन्दानुभवो येषां तैः, अस्माभिः=गोपालादिभिः, समुन्मीलितविविधविषयरसास्वाददूषिताः—समुन्मीलितः=आधिक्येन समुद्भूतः, विविधानाम् = नानाप्रकारकाणां, विषयाणाम् = शब्दस्पर्शादीनां यो रसः = आनन्दः, तस्य आस्वादेन = अनुभवेन, दूषिताः इव = गर्हिता इव, विषयसुखस्य हेयत्वादिति भावः। अतिवाहिताः=गमिताः, दिवसाः = दिनानि। कीर्तिवर्मदेवस्य दिग्विजये व्यापृतैरस्माभिर्विषयसुखभोगासक्ततया परब्रह्मानन्दरसमननुभवद्भिर्यानि दिनानि गमितानि तानि गर्हितान्येव आसन्नित्यनुभूयत इदानीमिति भावः। इदानीम् = कीर्तिवर्मणो राज्यस्थापनानन्तरम्, कृतकृत्या वयम् = स्वस्थचित्ता वयम्। वयमित्यत्र 'अस्मदो द्वयोश्च' इत्येकत्वे वहुवचनम्।

कृतकृत्यतायां हेतुं प्रदर्शयति **यत** इत्यादिना।

प्रवलतर भूपतियों को जीत कर, उनसे पृथिवी को छीन कर अपने अधीन कर लिया] जिसकी कीर्ति-लता का किसलय सकल-दिगङ्गनाओं का कर्णभूषण वन चुका है [अर्थात् जिसका यश दिगन्तव्यापी हो चुका है], सकल दिग्गजों के कर्णसञ्चालन जनित वायु से जिसका प्रतापानल अत्यन्त अधिक उद्दीप्त हो चुका है [अर्थात् जिसका प्रताप सकल दिशाओं में प्रख्यात है] ऐसे श्रीमान् गोपाल ने मुझे आज्ञा दी है—"इन सहजसुहृद् राजा कीर्तिवर्मदेव के दिग्विजय में व्यापृत रहने से (वहुत समय तक) ब्रह्मानन्दरस से वञ्चित होकर हमने नानाप्रकार के विषयों के समुद्भूत आनन्द के अनुभव से गर्हित-से दिन विताये हैं [अर्थात् उतने दिन जो विषयसुखभोग में व्यतीत हुए हैं, सम्प्रति हम समझते हैं कि ब्रह्मानन्दरस के अनुभव से वञ्चित रहने से वे दिन गर्हित ही रहे]। किन्तु इस समय हम कृतकृत्य हो चुके हैं। क्योंकि—

नीताः क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा
रक्षावतो क्षितिरभूत्प्रथितैरमात्यैः ।
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपालमौलि-
मालार्चितं भुवि पयोनिधिमेखलायाम् ॥ ३ ॥

तद्वयं शान्तरसप्रयोगाभिनयेनात्मानं विनोदयितुमिच्छामः । ततो

नृपतेः = कीर्तिवर्मणः, विपक्षाः = अरयः, क्षितिभुजः = राजानः, क्षयं नीताः = विनाशं प्रापिताः । प्रथितैः = प्रसिद्धैः, राजनीतिकुशलैरिति भावः, अमात्यैः = मन्त्रिभिः, क्षितिः = पृथिवी, राज्यमिति भावः । रक्षावती = सुरक्षिता, अभूत् = जाता । पयोधिमेखलायाम्–पयोधिः = सागरः, मेखला=रशना यस्याः सा, तस्याम्, सागरावेष्टितायामित्यर्थः, भुवि = पृथिव्याम्, क्षितिपालमौलिमालार्चितम्–क्षितिपालानाम् = राज्ञाम्, मौलिमालाः = मुकुटश्रेणयस्ताभिः अर्चितम् = पूजितम्, नतशिरोभि र्नृपैरङ्गीकृतमिति भावः । अस्य = कीर्तिवर्मणः, साम्राज्यम्–सम्राजो भावः साम्राज्यम् = अधिराज्यम्, विहितम् = कृतम् स्थापितमित्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तं तल्लक्षणं यथा—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ ३ ॥'

तत् = कृतकृत्यत्वाद्धेतोः, वयम् = गोपालप्रमुखाः, शान्तरसप्रयोगाभिनयेन—शान्तः = शान्तप्रधान इत्यर्थः, रसो यस्मिन् तादृशो यः प्रयोगः = नाट्यम्, तस्य अभिनयेन, आत्मानम्, विनोदयितुम् = प्रसादयितुम् ।

यत इत्यारभ्य इच्छाम इत्यन्तेन ग्रन्थेन काव्यार्थसूचकैर्वाक्यैः प्ररोचनाङ्गमुक्तम् । तथा हि 'नीताः क्षयं क्षितिभुजोनृपतेर्विपक्षाः' इत्यनेन विवेकमहाराजस्य महामोहादिजयः सूचितः । 'रक्षावती क्षितिरभूत्प्रथितैरमात्यैः' इत्यनेन यमाद्यष्टाङ्गयोगैरन्तःकरणशुद्धिः सूचिता । 'साम्राज्यमस्य विहितम्' इत्यनेन पुरुषस्य स्वरूपलाभरूपं सायुज्यं सूचितम् । साध्यभूतसायुज्यसूचनेन तत्साधनभूतः प्रबोध-

---

(इन) नृपति (कीर्तिवर्मा) के विरोधी राजा विनष्ट किये जा चुके, प्रसिद्ध (अर्थात् राजनीति कुशल) मन्त्रियों से पृथिवी सुरक्षित हो चुकी, सिन्धुवेष्टित (अर्थात् सम्पूर्ण) पृथिवी पर इन (कीर्तिवर्मा) का साम्राज्य स्थापित हो चुका जिसे सभी नृपों ने नतमस्तक हो स्वीकार कर लिया है ॥ ३ ॥

इस लिए (अब) हम शान्त (प्रधान) रस के नाटक के अभिनय से

यत्पूर्वमस्मद्गुरुभिस्तत्रभवद्भिः श्रीकृष्णमिश्रैः प्रबोधचन्द्रोदयं नाम नाटकं निर्माय भवतः समर्पितमासीत् तदद्य राज्ञः श्रीकीर्तिवर्मणः पुरस्तादभिनेतव्यं भवता। अस्ति चास्य भूपतेः सपरिषदस्तदवलोकने कुतूहलमिति। तद्भवतु। गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्य, नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, इतस्तावत्।

चन्द्रोदयोऽपि सूचितः। आत्मविनोदोपायं प्रतिपादयति तत इत्यादिना। यत् कृष्णमिश्रैस्तत्रभवद्भिः = महानुभावैः, प्रबोधचन्द्रोदयं नाम—प्रबोध एव चन्द्रः इति प्रबोधचन्द्रः, तस्योदयः इति प्रबोधचन्द्रोदयः, अभेदोपचारान्नाटकमपि प्रबोधचन्द्रोदयं नाम। तन्नाम नाटकं निर्माय = विरचय्य, भवतः समर्पितमासीत्। अत्र अस्मद्गुरुभिस्तत्रभवद्भिरिति कविप्रशंसा, प्रबोधचन्द्रोदयं नाम नाटकमिति काव्यप्रशंसा, भवत इति नटप्रशंसा च। तत् = तस्मात्, अद्य = अस्मिन् दिने, शान्तरसप्रधाननाटकाभिनयानुकूल इति भावः। पुरस्तात् = अग्रे, सपरिषदः = परिषत् = सभा, तया सहितस्य, एतेन सभाप्रशंसा। तदवलोकने—तस्य = प्रबोधचन्द्रोदयनाटकस्य अवलोकने = दर्शने, कुतूहलम् = उत्कण्ठा। कुतूहलमिति—अत्रेतिपदेनैतावत्पर्यन्तं गोपालभूपालवाक्यानुवादः, इतः परतः सूत्रधारोक्तिरिति सूचितम्। गृहिणीम् = स्वपत्नीम्, नटीमित्यर्थः, सङ्गीतकम् = 'नृत्तवादित्रगीतानि संगीतकमिहोच्यते।' भरतस्त्वाह—'स्त्रीणां रङ्गोपविष्टानां गानं सङ्गीतकं विदुः।' अनुतिष्ठामि = रचयामि। परिक्रम्य = परिक्रमणमभिनयविशेषः, तत्कृत्वा, इतस्ततः परिभ्रम्येत्यर्थः, नेपथ्याभिमुखम्-नेपथ्यम् = सूत्रधारकुटुम्बगृहम् ('सूत्रधारकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते' इति भरतः) वेशरचनागृहमित्यर्थः, तस्याभिमुखमवलोक्य = अत्र नटी विद्यते न वेति दृष्ट्वा, यद्यन्यत्र सभाभिमुखं दृष्टिं निक्षिप्य सम्बोधयेत्तदाऽवश्यं तस्य लोकानभिज्ञत्वं स्यात्, सम्बोध्यस्य वस्तुतस्तदुपस्थितस्थानाभिमुखेनैव सम्बोधनं विधेयमिति लोकव्यवहारसिद्धत्वात्। इति प्ररोचना।

अपने को विनोदित करना चाहते हैं। इस लिए पहिले, जो हमारे गुरु पूज्य श्रीकृष्णमिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक रच कर आप को दिया था, उसे (ही) आज राजा श्रीकीर्तिवर्मा के सामने आप अभिनीत करें। (पूरी) परिषद् के साथ राजा भी उस नाटक का अभिनय देखने के लिए समुत्सुक हैं।

(प्रविश्य)

नटी—एषास्मि । आज्ञापयत्वार्यपुत्रः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।
(एसम्हि । आणवेदु अय्यउत्तो को णिओओ अणुचिट्ठिग्रदु त्ति)

सूत्रधारः—आर्ये, विदितमेव भवत्या ।

इतः परत आमुखं प्रारभ्यते-आर्ये, इतस्तावदिति । यथोक्तं साहित्यदर्पणे-

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥' इति ।

आर्ये = श्रेष्ठे, साध्वि, प्रिये ! 'पत्नी चार्येति संभाष्या' इति भरतः । पत्न्याः सम्बोधनमिदम् । आर्यपदं तद्भार्यायाः सदाचारिणीत्वं सूचयति । साहित्यदर्पणकारेणाप्युक्तम्—'वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम् ।' इति । इतस्तावत्= मत्सकाशम् (आगच्छ) अन्यत् सर्वं कृत्यं परित्यज्येति भावः ।

नटीति । एषा = इयमहम्, अस्मि = उपस्थिता, आगतास्मीत्यर्थः । आर्यपुत्रः = भवान्, पत्न्या नटया पत्युः सूत्रधारस्य कृते 'आर्यपुत्रः' इति पदं व्यवहृतमिति बोध्यम् । आज्ञापयतु = निर्दिशतु, मामितिशेषः, आदेशमात्रेणैवाहं तदर्थं यतिष्ये इति भावः । कः = कतमः, नियोगः = निदेशः [मया] अनुष्ठीयताम् = क्रियताम् । भवदाज्ञानन्तरमेव तत्कार्यसम्पादनपरा भवामीति भावः ।

सूत्रधार इति । सूत्रधारः-आहेतिशेषः । एवं सर्वत्रोह्यम् । आर्ये = प्रिये ! विदितम् = ज्ञातम् ।

अच्छा, घर जाकर गृहिणी (नटी) को बुलाकर सङ्गीत का आयोजन कर दूँ ।
(घूमकर, नेपथ्य की ओर देखकर),

आर्ये ! जरा इधर तो आओ ।

(प्रवेश कर)

नटी—यह (मैं उपस्थित) हूँ । आर्यपुत्र आज्ञा दें, कौन सा आदेश पालन करूँ ।

सूत्रधार—आर्ये ! जानती ही हो—

अस्ति प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिविपुलबलारण्यमूर्च्छत्प्रताप-
ज्योतिर्ज्वालावलीढत्रिभुवनविवरो विश्वविश्रान्तकीर्तिः ।
गोपालो भूमिपालान्प्रसभमसिलतामात्रमित्रेण जित्वा
साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपतितिलको येन भूयोऽभ्यषेचि ॥४॥

अपि च—

अद्याप्युन्मदयातुधानतरुणीचञ्चत्करास्फालन-
व्यावल्गन्नृकपालतालरणितैर्नृत्यत्पिशाचाङ्गनाः ।

अस्तीति । प्रत्यर्थिपृथ्वीपतीत्यादिः—प्रत्यर्थिनः=विरोधिनो ये पृथ्वीपतयः= राजानः, तेषाम्, विपुलम् = महत्, यत् वलम् = सैन्यम्, तदेव अरण्यम् = वनम्, तस्मिन् मूर्च्छत् = प्रसरत्, यत् प्रतापज्योतिः = प्रतापानलस्तस्य ज्वालाभिः = शिखाभिः, अवलीढम् = आक्रान्तम्, त्रिभुवनविवरम् = त्रैलोक्यरूपं विलं येन सः । विश्वविश्रान्तकीर्तिः—विश्वस्मिन् = जगति, विश्रान्ता, कीर्तिर्यस्य सः, विश्वव्यापियशा इत्यर्थः । गोपालः = तन्नामा योद्धा अस्ति । येन असिलतामात्र-मित्रेण = खड्गैकसहायेन, प्रसभम् = वलात् भूमिपालान् = राज्ञः, जित्वा नर-पतितिलकः=नृपश्रेष्ठः, कीर्तिवर्मा, भूयः=पुनः, साम्राज्ये, अभ्यषेचि=अभिषिक्तः ।

श्लोकेऽस्मिन् गोपालस्य चरितवर्णनेन भाविकथासूचनं कृतम् । तथाहि—यथा गोपालो भूमिपालान् कर्णादीन् विजित्य कीर्तिवर्माणं नरपतिं साम्राज्ये स्थापितवान् तथैव प्रस्तुतनाटकेऽपि विवेको मोहमुख्यान् रिपून् विजित्य पुरूषाख्यं स्वामिनं च सदानन्दे पदे प्रतिष्ठाप्य कृतकृत्यतां गमिष्यति । स्रग्धरा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा-म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥ ४ ॥

अद्यापीति । उन्मदयातुधानेत्यादिः—उन्मदाः = मत्ताः, याः यातुधान-तरुण्यः = राक्षस्यः, तासाम् चञ्चन्तः = चञ्चलाः, कराः = हस्ताः, तेषाम् आस्फालनम् = अन्योन्यसङ्घट्टनम्, तेन व्यावल्गन्ति = चञ्चलानि यानि

विरोधी राजाओं के विशाल सैन्य-वन में देदीप्यमान प्रतापानल की लपटों से त्रिभुवन-विवर को आक्रान्त करने वाले एवं विश्वविख्यात कीर्ति वाले गोपाल नामक योद्धा हैं जिन्होंने केवल खड्ग की सहायता से राजाओं को बलपूर्वक जीतकर नृपश्रेष्ठ कीर्तिवर्मा को फिर से सम्राट् पद पर अभिषिक्त किया ॥ ४ ॥

और भी—जहाँ मतवाली राक्षसस्त्रियों के चञ्चल करों के परस्पर टकराने से

उद्गायन्ति यशांसि यस्य विततैर्नादैः प्रचण्डानिल-
प्रक्षुभ्यत्करिकुम्भकूटकुहरव्यक्तै रणक्षोणयः ॥ ५ ॥

तेन च शान्तपथप्रस्थितेनात्मनो विनोदार्थं प्रबोधचन्द्रोदयाभिधानं नाटकमभिनेतुमादिष्टोऽस्मि। तदादिश्यन्तां भरता वर्णिकापरिग्रहाय।

नृकपालानि=नरमुण्डानि, तान्येव तालाः=कांस्यनिर्मितवाद्यविशेषाः, तेषां रणितैः= शब्दैः, नृत्यत्पिशाचाङ्गनाः—नृत्यन्त्यः = नृत्यं कुर्वत्यः, पिशाचाङ्गनाः=पिशाच-स्त्रियो यासु ताः, रणक्षोणयः = युद्धभूमयः, अद्यापि = इदानीमपि, युद्धस्य चिरविरामादनन्तरमपीत्यर्थः। प्रचण्डानिलेत्यादिः—प्रचण्डानिलेन = अतिवेग-शालिना वायुना, प्रक्षुभ्यन्ति = सातिशयं कम्पमानानि करिकुम्भाः = हस्तिशिरां-स्येव कूटानि = पर्वतशिखराणि, तेषां कुहराणि = गह्वराणि तेभ्यः व्यक्तैः=समुद्-भूतैः, विततैः = विस्तृतैः, नादैः = शब्दैः, यस्य = गोपालस्य, यशांसि=यशोगाथा इत्यर्थः। उद्गायन्ति। राक्षसीनां मत्ततया इतस्ततः परिभ्रमणे कराः परस्परं सङ्घट्टन्ते, कराणामन्योन्यसङ्घट्टनेन करस्थनरकपालान्यपि चञ्चलानि भूत्वा तालाः (वाद्यविशेषाः) इव शब्दायन्ते, तदीयं शब्दमनुसृत्य पिशाचाङ्गनाः युद्धभूमिषु नृत्यन्ति, नृत्यस्य वाद्यविशेषशब्दानुसारित्वप्रसिद्धेः। तादृश्यो रणभूमयोऽद्यापि यस्य गोपालस्य यशः प्रबलवायुप्रपूरितशुष्कगजकुम्भपर्वतशिखरकुहरनिर्गच्छद्भिर्विततैः शब्दैर्गायन्तीति सरलार्थः। अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्—तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वै यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ ५ ॥

तेन चेति। तेन = गोपालभूपालेन। शान्तपथप्रस्थितेन = शान्तिमवलम्ब-मानेनेत्यर्थः। आत्मनः = स्वस्य। नाटकम् = यद्यपि प्रकरणमिदं तथापि नाटक-साम्यात्तथोक्तिः। भरताः = नटाः। वर्णिकापरिग्रहाय = पात्रावबोधकवेशग्रहणाय।

(करों में स्थित) चञ्चल नरमुण्डरूप तालों (वाद्यविशेषों) की खन-खन ध्वनि के अनुसार पिशाचाङ्गनाएँ नाच रही हैं। वे रणस्थलियाँ आज (युद्ध विराम के चिरकाल बाद) भी गोपाल के यश को प्रबलवायु से पूर्ण शुष्क गजकुम्भ समूहरूप पर्वतशिखरों के कुहरों से निकलते हुए शब्दों द्वारा गा रही हैं ॥ ५ ॥

अब वे शान्त पथ के पथिक हो गये हैं। उन्होंने स्वविनोदार्थ प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक के अभिनय करने का मुझे आदेश दिया है। इस लिए अभिनेताओं को (अपने-अपने अभिनेयपात्रों के) वेश-धारण करने के लिए आदेश दो।

नटी—(सविस्मयम्) आर्यपुत्र, आश्चर्यमाश्चर्यम्। येन तथाविधनिजभुजबलविक्रमैकनिर्भर्त्सितसकलराजमण्डलेन आकर्णाकृष्टकठिनकोदण्डदण्डबहुलवर्षच्छरनिकरजर्जरिततुरङ्गतरङ्गमालम्, निरन्तरनिपतत्तीक्ष्णविशिखनिक्षिप्तमहास्त्रपर्यस्तोत्तुङ्गमातङ्गमहामहीधरसहस्रम्, भ्रमद्भुजदण्डमन्दराभिघातघूर्णमानसकलपत्तिसलिलसंघातम्, कर्णसेनासागरं निर्मथ्य मधुमथनेनेव क्षीरसमुद्रमासादिता समरविजयलक्ष्मीः। तस्य साम्प्रतं सकलमुनिजनश्लाघनीयः कथमीदृश उपशमः संवृत्तः। (उज्जउत्त, अच्चरियं अच्चरियं। जेण तधाविहणिअभुअबलविक्कमैक्क-

नटीति। सविस्मयम् = साश्चर्यम्। तथाविधनिजेत्यादिः—तथाविधः = प्रसिद्धो यो निजभुजबलविक्रमः = स्वबाहुबलपराक्रमस्तेनैकेन केवलेन निर्भर्त्सितम्=पराजितम्, सकलराजमण्डलम् = समग्रभूपालसमुदायो येन तादृशेन। आकर्णाकृष्टकठिनेत्यादिः—आकर्णम् = कर्णपर्यन्तम्, आकृष्टः = नामितः, कठिनकोदण्डदण्डः= कठोरचापदण्डः, तस्मात् बहुलम् = प्रचुरम्, वर्षता = मुच्यमानेन शरनिकरेण = बाणसमूहेन जर्जरिताः = क्षतविक्षताः, तुरङ्गाः = अश्वाः, त एव तरङ्गमाला यस्य तादृशम्। इदमग्रेतनं च सकलद्वितीयान्तपदं कर्णसेनासागरमिति पदस्य विशेषणम्। निरन्तरनिपत्तीक्ष्णेत्यादिः—निरन्तरम् = अनवरतम्, निपतद्भिः = प्रवर्षद्भिः, तीक्ष्णैः = निशिताग्रैः, विशिखैः = शरैः, निक्षिप्तैः = प्रहृतैः, महास्त्रैः = आग्नेयादिभिः, पर्यस्ताः = व्यापाद्येतस्ततः प्रक्षिप्ताः, उत्तुङ्गमातङ्गाः = विशालकायगजाः, त एव महामहीधरसहस्रम् = उत्तुङ्गशैलकुलं यस्य तादृशम्। भ्रमद्भुजदण्डेत्यादिः—भ्रमन् = इतस्ततः प्रचलन् यो भुजदण्डः= बाहुदण्डः, स एव मन्दरः = मन्दराचलः, तस्याभिघातेन=आस्फालेन घूर्णमानाः= चक्रगत्या भ्रमन्तः, ये पत्तयः = पदातयः, त एव जलसंघातः = जलराशिर्यत्र तादृशम्। कर्णसेनासागरम् = चेदिराजकर्णसेनारूपसमुद्रम्। निर्मथ्य = मथितं

नटी—(विस्मयपूर्वक) आर्यपुत्र! आश्चर्य है, आश्चर्य! जिसने अपने केवल महान् बाहुबल के पराक्रम से (अन्य साहाय्य की अपेक्षा न कर) समग्रभूपालसमुदाय को पराजित किया, कान तक आकृष्ट कठोर धनुष से प्रभूत बरसते शरसमूहों के द्वारा तुरङ्गतरङ्गमाला को जर्जर कर दिया, अनवरत बरसते

णिब्भच्छिदसअलराअमण्डलेण आकण्णाकिट्ठकठिणकोअण्डदण्डवहलवरिसन्तसरणि-
झरजज्जरिदतुरंअतरंअमालं णिरन्तरणिवडन्ततिक्खविशिखनिक्खत्तमहस्स ल्लत्थ-
तुरङ्गमाअङ्गमहामहीहरसहस्सं भमन्तभुअदण्डमन्दराहिहादघुमन्तसअलपत्तिसलिल-
सङ्घादं कण्णसेणासाअरं णिम्महिअ महुमहणेणेव खीरसमुद्दं आसादिदा समरविज-
अलच्छी। तस्स संपदं सअलमुणिअणसलाणिज्जओ कहं एरिसो उवसमो संवुत्तो)

सूत्रधारः—**आर्ये, निसर्गसौम्यमेव ब्राह्मं ज्योतिः कुतोऽपि कारणात्प्राप्तविकारमपि पुनः स्वभावमेवावतिष्ठते। यतः सकलभूपालकुलप्रलय-**

कृत्वा, सैन्यपक्षे विनाश्येत्यर्थः। मधुमथनेन = विष्णुना, तेनेव। क्षीरसमुद्रम् = क्षीरसागरम्। आसादिता = प्राप्ता। समरविजयलक्ष्मीः = युद्धविजयश्रीः। यथा भगवान् विष्णुः क्षीरसागरं मन्दराचलेन निर्मथ्य लक्ष्मीं वृतवान्, तथैवायं गोपाल-श्चेदिराजकर्णसेनां विनाश्य रणे विजयश्रियमाप्तवानिति भावः। सकलमुनिजन-श्लाघनीयः = सकलमुनिवृन्दप्रशंसनीयः। उपशमः = शान्तिः।

सूत्रधार इति। आर्ये = प्रिये! निसर्गसौम्यम् = स्वभावशान्तम्। ब्राह्मम् = ब्रह्मसम्बन्धि ('ब्राह्मोऽजातौ' इति निपातः)। ज्योतिः = तेजः। कुतोऽपि कारणात् = कस्मादपि हेतोः। प्राप्तविकारमपि = विकृतं सदपि। पुनः = भूयः, कृत्यनिष्पत्त्यनन्तरमिति भावः। स्वभावम् = स्वरूपम्, अविद्यातत्कार्यादिदोष-शून्यत्वलक्षणमिति भावः। अवतिष्ठते=अवलम्बत इत्यर्थः। पूर्वोक्तमेव स्पष्टीकरोति-सकलेति। सकलभूपालकुलप्रलयकालाग्निरुद्रेण—सकलाः = समग्रा ये भूपालाः = नृपाः, तेषां कुलं तत्र प्रलयकालाग्निरिव रुद्रः = क्रूरः, तेन। चेदिपतिना =

तीक्ष्ण शरों तथा अन्य (आग्नेयादि) प्रहृत महास्त्रों से उत्तुङ्गगजसमूह रूप विशाल पर्वतों को ढहा दिया, घूमते हुए भुजदण्डरूप मन्दराचल के आघात से पदाति सैन्यरूप जलराशि को नचा दिया, (इस प्रकार) कर्ण भूपाल के सैन्य-सिन्धु को मथकर (अर्थात् सेना को विनष्ट कर), विष्णु ने जैसे क्षीरसमुद्र को मथ कर लक्ष्मी को प्राप्त किया था वैसे ही विजयश्री को प्राप्त किया, उसे अब सकलमुनियों द्वारा प्रशंसित शान्ति में कैसे निष्ठा हो गयी ?

सूत्रधार—आर्ये! स्वभावतः शान्त ही ब्राह्मतेज किसी (अनिर्वचनीय) कारण से विकार को प्राप्त करके भी पुनः (कृत्य निष्पन्न होने के बाद) अपने

कालाग्निरुद्रेण चेदिपतिना समुन्मूलितं चन्द्रान्वयपार्थिवानां पृथिव्या-माधिपत्यं स्थिरीकर्तुं अयमस्य संरम्भः । पश्य तदा—

कल्पान्तवातसंक्षोभलङ्घिताशेषभूभृतः ।
स्थैर्यप्रसादमर्यादास्ता एव हि महोदधेः ॥ ६ ॥

कर्णभूपेन । समुन्मूलितम् = विनाशितम् । चन्द्रान्वयपार्थिवानाम् = चन्द्रवंशि-राज्ञाम्, श्रीकीर्तिवर्मप्रभृतोनामित्यर्थः । आधिपत्यम् = स्वामित्वम् । स्थिरीकर्तुम्= पुनः स्थापयितुम् । संरम्भः = क्रोधः, क्रोधमयो व्यापार इत्यर्थः ।

उक्तार्थमेव द्रढयति—**कल्पान्तेति** । कल्पान्तेत्यादिः—कल्पान्ते=प्रलयकाले यो वातः = वायुः, प्रचण्डवायुरित्यर्थः, तेन यः संक्षोभः = उच्छलनम्, तेन लङ्घिताः = अतिक्रान्ताः, अशेषभूभृतः = सकलपर्वता येन तथाभूतस्य, महोदधेः= सागरस्य, हीति प्रसिद्धौ, ता एव = प्रकृतिसिद्धा इत्यर्थः, स्थैर्यप्रसादमर्यादाः— स्थैर्यम् = निश्चलत्वम्, प्रसादः = नैर्मल्यम्, मर्यादा = वेला च, पुनर्भवन्ति । अयमभिप्रायः—यथा प्रलयकाले समुद्रः संक्षोभवशात् स्वस्थैर्यप्रसादमर्यादारूप-स्वभावसिद्धगुणान् विहायाशेषभूभृतः (पर्वतान्) आक्रामति, प्रलयकालापाये पुनस्तानेव गुणानाश्रयति, तथैव गोपालोऽपि कार्यवशात् सकलस्थैर्यप्रसादमर्यादारूप-स्वभावसिद्धगुणान् कंचित्कालं परित्यज्य निखिलभूभृतः (राज्ञः) आक्रान्तवान्, कार्यनिर्वाहानन्तरं पुनः पूर्ववदेव गम्भीरः, प्रसन्नः, मर्यादितो भूत्वा स्वाभाविकीं स्थितिमापन्न इति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ६ ॥

स्वभाव (अविद्यातत्कार्यादिदोषशून्य अमल स्वरूप) का अवलम्बन कर लेता है । इस लिए सकलभूपालकुल के विषय में प्रलयकालाग्नि के समान क्रूर (अर्थात् समग्र नृपों को निर्दयतापूर्वक पीडित करने वाले चेदिराज (कर्णभूपाल) के द्वारा विनष्ट किये गये, चन्द्रवंशी कीर्तिवर्मा आदि के आधिपत्य को पृथिवी पर फिर से स्थापित करने के लिये (ही) इस गोपाल का यह क्रोधमय व्यापार था । देखो उस समय—

प्रलय काल में प्रचण्ड वायुवेग जन्यसंक्षोभ वश सकल पर्वतों को (अपने स्थैर्यप्रसादमर्यादारूप स्वभावसिद्ध गुणों का थोड़ी देर के लिए परित्याग कर) लाँघ जाने वाले समुद्र की (प्रलयकाल बीत जाने पर) वही निश्चलता (स्थैर्य) निर्मलता (प्रसाद), वेला (मर्यादा) पुनः हो जाती है ॥ ६ ॥

अपि च। भगवन्नारायणांशसंभूता भूतहिताय तथाविधाः पौरुषभूषणाः पुरुषाः क्षितिमवतीर्य निष्पादितकृत्याः पुनः शान्तिमेव प्रपद्यन्ते। यथा परशुराममेवाकलयतु भवती तावत्।

येन त्रिःसप्तकृत्वो नृपबहुलवसामांसमस्तिष्कपङ्क-
प्राग्भारेऽकारि भूरिच्युतरुधिरसरिद्वारिपूरेऽभिषेकः।
यस्य स्त्रीबालवृद्धावधिनिधनविधौ निर्दयो विश्रुतोऽसौ
राजन्योच्चांसकूटक्रथनपटुरटद्घोरधारः कुठारः॥ ७॥

अपि चेति। भगवन्नारायणांशसंभूताः—भगवतो नारायणस्य अंशोद्भवाः। भूतहिताय = प्राणिनां कल्याणाय। तथाविधाः = तादृशाः। पौरुषभूषणाः— पौरुषम् = शौर्यमेव भूषणं येषां ते, पराक्रमशालिन इत्यर्थः। क्षितिमवतीर्य = भूलोके आगत्य। निष्पादितकृत्याः = कृतकार्याः। पुनः = भूयः। शान्तिमेव प्रपद्यन्ते = शान्तिः = स्वाभाविकी या स्थितिः, तामेव आश्रयन्ति। परशुरामम् = जामदग्न्यम्। आकलयतु = पश्यतु।

येनेति। येन = परशुरामेण, त्रिःसप्तकृत्वः = एकविंशतिवारान्, नृपबहुलेत्यादिः—नृणाम् = क्षत्रियाणाम्, हतानामिति भावः, बहुलः = प्रभूतः, वसा = मेदः, मांसम्, मस्तिकपङ्कः = शिरःसम्बन्धिरसजन्यकर्दमश्च प्राग्भारे = तटे यस्य तादृशे, भूरिच्युतरुधिरसरिद्वारिपूरे—भूरि = अत्यधिकं यथा स्यात्तथा, च्युतम् = स्रुतम्, यद् रुधिरम् = शोणितम्, तस्य सरित् = नदी, तस्याः वारिपूरे=जलराशौ रक्तप्रवाह इत्यर्थः, अभिषेकः = स्नानादिविधिः, अकारि = कृतः। यस्य = परशुरामस्य, असौ = प्रसिद्धः, कुठारः = परशुः, राजन्योच्चांसकूटक्रथनेत्यादि.— राजन्यानाम् = क्षत्रियाणाम्, उच्चाः = उन्नताः, येंऽशाः = स्कन्धास्तेषां कूटम् =

और—भगवान् नारायण के अंश से उत्पन्न ऐसे पराक्रमशाली पुरुष प्राणियों के कल्याण के लिए भूलोक में आकर अपना कर्त्तव्य पूर्ण करके फिर शान्ति (अर्थात् अपनी स्वाभाविक स्थिति) को ही अपना लेते हैं। जैसे तुम सर्वप्रथम परशुराम को ही देखो—

जिसने इक्कीस वार (हत) क्षत्रियों के प्रभूत मज्जा-मांस और मस्तक के संघटक द्रव्यजन्य पङ्क से युक्त तट वाली, अत्यधिक बहे हुए रुधिर

सोऽपि स्ववीर्यादवतार्य भारं भूमेः समुत्खाय कुलं नृपाणाम् ।
प्रशान्तकोपज्वलनस्तपोभिः श्रीमान्मुनिः शाम्यति जामदग्न्यः ॥ ८ ॥

तथायमपि कृतकर्तव्यः संप्रति परमामुपशमनिष्ठां प्राप्तः ।

समुच्चयः, तस्य क्रथने = विदारणे, पटुः = कुशला, रटन्ती = शब्दायमाना, घोरा = भयंकरी, धारा = तीक्ष्णाग्रभागः, यस्य तादृशः, स्त्रीबालवृद्धावधिनिधनविधौ—स्त्रियः = योषितः, बालाः = शिशवः, वृद्धाश्च अवधिः = सीमा यस्य स चासौ निधनविधिः = संहारकर्म, तस्मिन् निर्दयः = क्रूरः, विश्रुतः = विख्यातः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ७ ॥

एवं कृतकार्यस्य परशुरामस्य पुनः स्वभावसिद्धां शान्तिप्रपत्तिं दर्शयितुमाह— **सोऽपीत्यादि** । सोऽपि=तादृशक्रूरकर्मतया प्रसिद्धोऽपि श्रीमान् मुनिः जामदग्न्यः= परशुरामः, स्ववीर्यात् = स्वसामर्थ्यात्, नृपाणाम् = क्षत्रियाणामित्यर्थः, कुलम्= वंशम्, समुत्खाय = संहृत्य, भूमेः = पृथिव्याः, भारम्, अवतार्य = अपसार्य, प्रशान्तकोपज्वलनः—प्रशान्तः कोपस्य ज्वलनः=अनलो यस्य तादृशः सन्, तपोभिः शाम्यति = प्रशान्तो भवति । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ८ ॥

तथायमपीति । तथा = तेनैव प्रकारेण । अयमपि = गोपालोऽपि । कृतकर्त्तव्यः = कृतकृत्यः । सम्प्रति = इदानीम्, कार्यनिर्वाहानन्तरमिति भावः । परमाम् = उत्कृष्टाम् । उपशमनिष्ठाम् = शान्तिम् । प्राप्तः = प्रयातः ।

की नदी में स्नान-तर्पण आदि किया, जिसका वह कुठार क्षत्रियों के उन्नत स्कन्ध देश के विदारण में कुशल, शब्दायमान और भयंकर धारवाला तथा स्त्रियों, बच्चों एवं बूढ़ों तक के वध में विख्यात है ॥ ७ ॥

वे पूज्य मुनि परशुराम भी अपने पराक्रम से क्षत्रिय-वंश का संहार कर, पृथिवी का भार उतार कर, क्रोधाग्नि के शान्त हो जाने पर तपस्यार्थ शान्तिनिष्ठ हो गये थे ॥ ८ ॥

वैसे ही ये (गोपाल) भी (कीर्तिवर्मा के आधिपत्य का प्रतिष्ठापनरूप अपना) कर्त्तव्य निष्पन्न कर परम शान्तिनिष्ठ हो चुके हैं ।

येन च—

विवेकेनेव निर्जित्य कर्णं मोहमिवोर्जितम् ।
श्रीकीर्तिवर्मनृपतेर्बोधस्येवोदयः कृतः ॥ ६ ॥

(नेपथ्ये)

आः पाप शैलूषाधम, कथमस्मासु जीवत्सु स्वामिनो महामोहस्य विवेकसकाशात्पराजयमुदाहरसि ।

सूत्रधारः—(ससंभ्रमं विलोक्य) आर्ये, इतस्तावत् ।

विवेकेनेवेति । येन = गोपालेन, विवेकेनेव ऊर्जितम्=बलवन्तम्, मोहमिव, कर्णम् = चेदिराजं कर्णनामानं नृपम्, निर्जित्य, बोधस्येव = प्रबोधस्येव, श्रीकीर्तिवर्मनृपतेः उदयः कृतः । यथा विवेकेन महाराजेन बलवन्तं मोहाख्यं शत्रुं निर्जित्य प्रबोधस्य उदयः कृतः तथैव गोपालेन कर्णाख्यं नृपं निर्जित्य कीर्तिवर्मनृपतेरभ्युदयः कृत इति भावः ।

अत्र सूत्रधारस्य वाक्यार्थं समादाय पात्रप्रवेशात् कथोद्घाताख्यमामुखाङ्गं निरूपितम् । तथा चोक्तं साहित्यदर्पणकारेण—'सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा । भवेत् पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते' ॥ इति । अनुष्टुब्वृत्तम् ।९।

आः पापेति । आः = क्रोधद्योतकमव्ययपदम् । शैलूषाधम = नटापसद । अस्मासु = मोहपक्षीयेषु विवेकविरोधिषु कामादिषु । जीवत्सु = सत्सु । स्वामिनः= प्रभोः । विवेकसकाशात्=विवेकात् । पराजयम् = पराभवम् । उदाहरसि=कथयसि ।

सूत्रधार इति । ससंभ्रमम्=सोद्वेगम्, उद्वेगश्च कामदर्शनमूलः । इतस्तावत्= अनर्थोऽयं समुपस्थितः, तस्मान्मत्समीपमागच्छेति भावः ।

जिस गोपाल ने वैसे ही प्रबल कर्णभूपाल को जीत कर श्रीकीर्तिवर्मा नृपति का अभ्युदय किया, जैसे विवेक ने प्रबल मोह को जीत कर प्रबोध का उदय किया ॥ ९ ॥

(नेपथ्य में)

अरे ! पापी नटाधम ! हमारे जीते जी तू कैसे विवेक से स्वामी महामोह का हारना बताता है !

सूत्रधार—(घबराहट के साथ देखकर) इधर (मेरे समीप) हो जाओ ।

15480 SRINGERI

उत्तुङ्गपीवरकुचद्वयपीडिताङ्ग-
मालिङ्गितः पुलकितेन भुजेन रत्या।
श्रीमाञ्जगन्ति मदयन्नयनाभिरामः
कामोऽयमेति मदघूर्णितनेत्रपद्मः॥ १०॥

मद्वचनाच्चायमुपजातक्रोध इव लक्ष्यते। तदपसरणमेवास्माक-मितः श्रेयः।

उत्तुङ्गपीवरेति। उत्तुङ्गपीवरकुचद्वयपीडिताङ्गम्—उत्तुङ्गौ = उन्नतौ, पीवरौ = पीनौ यौ कुचौ = स्तनौ तयोर्द्वयेन = युग्मेन, पीडितम् = आमृष्टम्, अङ्गम् = शरीरावयवो यथा भवति तथा, क्रियाविशेषणमेतत्। गाढमित्यर्थः। पुलकितेन = रोमाञ्चितेन, भुजेन = बाहुना, एतेन सात्त्विकभावस्य निर्देशः कृतः। रत्या = कामपत्न्या, कर्त्र्या, आलिङ्गितः = आश्लिष्टः, श्रीमान् = माहात्म्यवान्, जगन्ति = लोकान्, मदयन् = कामातुराणि कुर्वन्, स्वपञ्चशरैरिति भावः। नयनाभिरामः = नेत्रानन्ददायकः, अतिसौन्दर्यशालीत्यर्थः, मदघूर्णितनेत्रपद्मः—मदेन = मद्यपानजनितविकारेण, घूर्णिते = भ्रान्ते नेत्रपद्मे यस्य तथाभूतः, अयम् = पुरतो दृश्यमानः, कामः एति = समायाति। वसन्ततिलकं वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति॥ १०॥

मद्वचनाच्चायमिति। मद्वचनाच्च = ममोक्तिश्रवणाच्चेत्यर्थः, मदुक्त्या स्वावमानानुभवादिति भावः, एकतो युक्तायुक्तविवेकशून्यत्वमपरतो मद्वचन-श्रवणमिति चकारार्थः। उपजातक्रोधः = सञ्जातकोप इव, लक्ष्यते = प्रतीयते, तत् = तस्मात्, अपसरणम् = पलायनम्, इतः = अस्मात् प्रदेशात्, कामस्य सन्निकर्षादित्यर्थः, श्रेयः = कल्याणकरम्। परित्राणस्य नान्यो ह्युपाय इत्येव-

उन्नत एवं पीन (अत एव कठोर) दोनों स्तनों से अङ्ग को अत्यन्त दबा कर रोमाञ्चित भुजा से रति द्वारा आलिङ्गित माहात्म्यशाली, (अपने पांच शरों से) लोकों को मतवाला बना देने वाला, नयनाभिराम, मस्ती से भ्रान्त नेत्र कमलों वाला यह कामदेव इधर आ रहा है॥ १०॥

मेरी बात से यह क्रुद्ध—सा प्रतीत हो रहा है, तो यहाँ (काम के समीप) से

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना ।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः कामो रतिश्च)

कामः—(सक्रोधम् । आः पापेति पुनः पुनः पठित्वा) ननु रे **भरताधम,**

कारार्थः । इति निष्क्रान्तौ—इति = एवमभिसन्धाय, निष्क्रान्तौ = निर्गतौ, नटीसूत्रधारावित्यर्थः ।

प्रस्तावना = प्रस्तावना साङ्गा निरूपितेत्यर्थः । तल्लक्षणं यथा—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा' ॥ इति ।

(साहित्यदर्पणः, ६।३१-३२)

ततः प्रविशतीति । ततः = नटीसूत्रधारनिर्गमनानन्तरम् । यथानिर्दिष्टः = पूर्वोक्तावस्थः ।

काम इति । रे भरताधम = 'रे' इत्यधिक्षेपसूचकं सम्बोधनात्मकमव्ययपदम् । भरताधम = नटापसद । विनिर्गतमपि सूत्रधारं प्रत्यनया कामोक्त्या तस्य क्रोधाधिक्यं सूच्यते ।

हमारा हट जाना ही कल्याणकर है (परित्राण का अन्य उपाय नहीं है) ।

(ऐसा कह कर दोनों निकल गये)

प्रस्तावना (समाप्त)

(तदनन्तर पूर्वोक्त रूप में काम और रति का प्रवेश)

काम—(क्रोध के साथ 'आः पाप' इत्यादि को बार-बार पढ़कर) अरे रे नटाधम !

प्रभवति मनसि विवेको विदुषामपि शास्त्रसंभवस्तावत् ।
निपतन्ति दृष्टिविशिखा यावन्नेन्दीवराक्षीणाम् ॥ ११ ॥

अपि च —

रम्यं हर्म्यतलं नवाः सुनयना गुञ्जद्द्विरेफा लताः
प्रोन्मीलन्नवमल्लिकाः सुरभयो वाताः सचन्द्राः क्षपाः ।

प्रभवतीति । विदुषामपि = पण्डितानामपि, मनसि = हृदये, शास्त्रसम्भवः शास्त्रात् = उपनिषदः, सम्भवः = उत्पत्तिर्यस्य तादृशः, अथवा शास्त्रम्=उपनिषद्, सम्भवः = उत्पत्तिस्थानं यस्य तादृशः, शास्त्रजनितः इत्यर्थः । विवेकः = सद्-सन्निर्धारणशक्तिः, तावत् = तदवध्येव, प्रभवति = समर्थो भवति स्थातुमिति भावः । यावत् इन्दीवराक्षीणाम् = कमलनयनानां विलासिनीनां दृष्टिविशिखाः– दृष्टय एव विशिखाः = कटाक्षरूपाः शराः, न निपतन्ति = तेषामुपरि न पतन्तीति भावः । शास्त्राध्ययनेन लब्धविवेका अपि पुरुषास्तावदेव विवेकं रक्षितुं प्रभवन्ति यावत्तेषामुपरि विलासिनीनां मोहकारकाः कटाक्षरूपाः शरा न निपतन्ति, कटाक्ष-शरपातेन सहैव तेषां विवेको नश्यतीति सरलार्थः । आर्या जातिः । तल्लक्षणं यथा–'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या इति ॥ ११ ॥

रम्यं हर्म्यतलमिति । रम्यम् = मनोहरम्, हर्म्यतलम्–हर्म्यस्य = धनिनां गृहस्य, प्रासादस्येत्यर्थः, तलम् = पृष्ठम् (हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः), नवाः = आरूढयौवनाः, सुनयनाः = सुन्दर्यः, गुञ्जद्द्विरेफाः = गुञ्जन्तः = शब्दाय-मानाः, द्विरेफाः = भ्रमराः यासु ताः, लताः = वल्लर्यः, प्रोन्मीलन्नवमल्लिकाः–

विद्वानों के भी हृदय में शास्त्रजनित विवेक तभी तक ठहर पाता है जब तक कमलनयनाओं के कटाक्ष शर (उन पर) नहीं पड़ते हैं । (अर्थात् कामिनियों की दृष्टि पड़ते ही बड़े-बड़े विद्वानों का विवेक नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

और भी—

रमणीय प्रासाद-तल, नवयौवना सुनयनाएँ, गुञ्जन करते भौंरों से युक्त वल्लरियाँ, मधुरसुगन्ध युक्त पवन, चाँदनी रातें-ये मेरे अमोघ शस्त्र यदि अपने सर्वोत्कर्ष से वर्तमान हैं, तब अरे ! शैलूषाधम ! यह विवेक का प्रभाव कैसा ?

यद्येतानि जयन्ति हन्त परितः शस्त्राण्यमोघानि मे
तद्भोः कीदृगसौ विवेकविभवः कीदृक्प्रबोधोदयः ॥ १२ ॥

रतिः—आर्यपुत्र, गुरुः खलु महाराजमहामोहस्य प्रतिपक्षो विवेक इति तर्कयामि । (अज्जउत्त, गुरुओ क्खु महाराअमहामोहस्स पडिवक्खो विवेओ त्ति तक्केमि)

कामः—प्रिये, कुतस्तवेदं स्त्रीस्वभावसुलभं विवेकाद्भयमुत्पन्नम् ।

प्रोन्मीलन्त्यः = विकसनशीलाः, नवाः = प्रत्यग्राः, मल्लिकाः=मालत्यः, सुरभयः= मधुरसुगन्धयुक्ताः, वाताः = वायवः, सचन्द्राः = चन्द्रेण सह वर्तमानाः, चन्द्रिका-धवला इत्यर्थः, क्षपाः = रात्रयः, एतानि=उक्तानि हर्म्यतलप्रभृतीनि, अमोघानि= सफलानि, मे = मम, कामस्येत्यर्थः शस्त्राणि = आयुधानि यदि परितः जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, अत्रासंशये संशयोक्तिः, जयन्त्येवेत्यर्थः । हन्तेति हर्षद्योतकम-व्ययपदम् । हन्त भोः = शैलूषाधम ! तत् = तदा, असौ=वर्णितः, विवेकविभवः= विवेकप्रभावः, कीदृक् = कथंभूतः, प्रबोधोदयः (च) कीदृक् ?

अयमभिप्रायः—उद्दीपकत्वेन प्रख्यातेषु ह्यमोघेषु हर्म्ययुवतिजनलताभ्रमरसुरभि-वायुचन्द्रिकादिषु मदस्त्रेषु सत्सु सर्वेषां कामपरवशतया न विवेकप्रभावो न वा प्रबो-धोदयः कथमपि सम्भवति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । लक्षणं तु प्रागेवोक्तम् ॥१२॥

रतिरिति । गुरुः = महान्, ऊर्जित इत्यर्थः । प्रतिपक्षः = शत्रुः । तर्कयामि = चिन्तयामि ।

काम इति । कुत इत्यधिक्षेपे । स्त्रीस्वभावसुलभम् = स्त्रीजनप्रकृतिलभ्यम् । स्त्रीजनस्य प्रकृत्या भीरुत्वेन तवापि विवेकाद् भयं सञ्जातम्, तन्मा कुर्विति भावः । पश्य = आलोचयेत्यर्थः ।

और प्रबोध का उदय कैसा ? (अर्थात् न तो विवेक का प्रभाव ठहर सकता है और न ही प्रबोध का उदय सम्भव है) ॥ १२ ॥

रति—मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज महामोह का विपक्षी विवेक अधिक बलवान् है ।

काम—प्रिये ! तुम्हें यह कैसे विवेक से स्त्री स्वभाव के कारण भय हो गया ?

पश्य—

अपि यदि विशिखाः शरासनं वा कुसुममयं ससुरासुरं तथापि ।
मम जगदखिलं वरोरु नाज्ञामिदमतिलङ्घ्य धृतिं मुहूर्तमेति ॥ १३ ॥

तथाहि—

अहल्यायै जारः सुरपतिरभूदात्मतनयां
प्रजानाथोऽयासीदभजत गुरोरिन्दुरबलाम् ।

अपि यदीति । वरोरु = शोभनजङ्घे ! यदि अपि = यद्यपि, विशिखाः = शराः, मम-कामस्येति भावः । शरासनम् वा = धनुर्वा, कुसुममयम् = कुसुमैर्निमितम्, तस्मात्तत्कोमलत्वं स्वभावसिद्धमिति भावः । तथापि ससुरासुरम् = देवदानवसहितम्, इदम् = एतत्, अखिलम् = समग्रम्, जगत् = लोकः, मम आज्ञाम् = आदेशम्, अतिलङ्घ्य = अतिक्रम्य, मुहूर्तम् = क्षणमपि, धृतिम् = धैर्यम्, स्वस्थचित्ततामित्यर्थः, न, एति=न प्राप्नोति । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि तु न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥१३॥

तदेवाह—तथाहि । अहल्यायै जार इति । सुरपतिः=इन्द्रः, अहल्यायै = अहल्यायाः इत्यर्थः, अत्र श्रुत्यनुकरणेन चतुर्थी । जारः = उपपतिः, अभूत् । प्रजानाथः = ब्रह्मा, आत्मतनयाम् =स्वपुत्रीम्, शतरूपाम्, अयासीत् = स्वपुत्रीं प्रत्यगमत्, मिथुनीभावं प्राप्त इत्यर्थः । इन्दुः = चन्द्रमाः, गुरोः = बृहस्पतेः, अबलाम् = स्त्रियम्, अभजत = असेवत । इति = एवमुक्तप्रकारेण प्रायः कः मया अपथे = कुमार्गे, 'पथो विभाषा' इति समासान्तो ज्ञेयः । ('अपन्थास्त्वपथं

देखो—

वरोरु ! (अर्थात् शोभन जाँघों वाली !) मेरे शर और धनुष पुष्पों से निर्मित (अतएव कोमल) हैं तथापि सुरों और असुरों समेत यह सारा संसार मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन कर क्षण भर भी स्वस्थचित्त नहीं रह सकता ॥१३॥

उदाहरण है—

इन्द्र को अहल्या का जार बनना पड़ा, ब्रह्मा अपनी पुत्री पर आसक्त हुआ; चन्द्रमा ने गुरु (बृहस्पति) की पत्नी का उपभोग किया । इस प्रकार मैंने

इति प्रायः को वा न पदमपथेऽकार्यत मया
श्रमो मद्बाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु ॥ १४ ॥

रतिः—आर्यपुत्र, एवं नैतत् । तथापि महासहायसंपन्नः शङ्कितव्योऽरातिः । यतोऽस्य यमनियमप्रमुखा अमात्या महाबलाः श्रूयन्ते । (अज्जउत्त, एव्वं णेदं । तहवि महासहाअसंपण्णो संकिदव्वो अरादी । जदो अस्स जमणिअमप्पमुहा अमच्चा महाबला सुणीअन्दि)

कामः—प्रिये, यानेतान्राज्ञो विवेकस्य बलवतो यमादीनष्टावमा-

तुल्ये' इत्यमरः) पदम् न अकार्यत = कुमार्गे न नीताः, सर्वोऽपि कुमार्गं प्रापित इत्यर्थः । 'को वा न पदमपथेऽकार्यत्' इति वाक्ये 'कः' इति कर्म 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण अणौ कर्तुः, णौ कर्मत्वविधानात् । भुवनोन्माथविधिषु-भुवनानाम् = लोकानाम्, उन्माथः = उत्पीडनम्, तद्विधिषु = तत्कर्मसु, मद्बाणानाम् = मम शराणाम्, क इव श्रमः = आयासः, मद्बाणाः अनायासेनैव सकलभुवनान्युत्पीडयितुं क्षमाः, तदलं चिन्तयेति भावः । शिखरिणी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'रसैरुद्रैश्छिन्नायमनसभलागः शिखरिणी ।' इति ॥ १४ ॥

रतिरिति । एवं नैतत् = भवदीये सामर्थ्ये न कापि मम शङ्केति भावः । महासहायसम्पन्नः = ऊर्जस्वलैः सहायकैरुपेतः । अरातिः = शत्रुः, विवेक इत्यर्थः । यमनियमप्रमुखाः = यमनियमसनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधय अष्टौ योगाङ्गभूता इत्यर्थः । अमात्याः = मन्त्रिणः । महाबलाः = ऊर्जस्वलाः ।

काम इति । विवेकस्य यमादीन् अष्टावमात्यान् बलवतः = बलसम्पन्नान् पश्यसि = सम्भावयसि, बलवद्भिर्यमादिभिरमात्यैर्विवेकस्य बलवत्त्वमालोचयसी-

---

किसे नहीं कुमार्ग पर लगा दिया ? तीनों लोकों को उत्पीडित कर देने में मेरे बाणों को कौन-सा श्रम ? ॥ १४ ॥

रति—आर्यपुत्र ! ऐसी बात नहीं कि मुझे आप के सामर्थ्य में शङ्का है । तथापि बलवान् सहायकों से युक्त शत्रु से डरना चाहिए, क्योंकि सुनती हूँ कि इसके यम-नियम आदि अमात्य बड़े बलवान् हैं ।

काम—प्रिये ! जिन यम आदि इन आठ विवेक के मन्त्रियों को तुम

त्यान्पश्यसि त एते नियतमस्माभिरभियुक्तमात्रा द्रागेव विघटिष्यन्ते। तथाहि—

अहिंसा क्वैव कोपस्य ब्रह्मचर्यादयो मम।
लोभस्य पुरतः केऽमी सत्यास्तेयापरिग्रहाः ॥ १५ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयस्तु निर्वि-

त्यर्थः। ते एते = यमादयः, नियतम् = निश्चयेन। अभियुक्तमात्राः=अभियुक्ताः = आक्रान्ता एव केवलम्। द्रागेव = शीघ्रमेव, तत्कालमेव। विघटिष्यन्ते = विनाशं यास्यन्ति।

अहिंसेति। कोपस्य = क्रोधस्य, मद्वर्गीयस्येति भावः। अहिंसा, क्वैव = कीदृश्येव, न कापीत्यर्थः, कोपस्य पुरतोऽहिंसा क्षणमपि स्थातुं नार्हेति भावः। मम = कामस्य, ब्रह्मचर्यादयः के? न केऽपीत्यर्थः, मम पुरतो नेमे स्थातुं क्षमा इति भावः। लोभस्य पुरतः अमी सत्यास्तेयापरिग्रहाः—सत्यम् = यथार्थवादिता, अस्तेयम् = चौर्याभावः, अपरिग्रहः = वैभवादिसंग्रहाभावः, एते के? = न केऽपीत्यर्थः, लोभस्य पुरत इमेऽपि न स्थास्यन्तीति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १५ ॥

यमनियमेति। यमनियमेत्यादिः—यमः = कायचेष्टानिरोधः, नियमः = मनश्चेष्टानिरोधः, आसनम् = धर्माधर्मक्षेपणम्। तत्परित्याग इत्यर्थः। यद्वा 'आस उपवेशने' इत्यस्माद्धातोर्वेदान्तवाक्येषूपवेशनम्। वेदान्तवाक्यविचारोद्योग इत्यर्थः। यद्वा आसनं सिद्धासनपद्मासनादिकं, प्रातरान्तरवायूनां प्राणादीनामासमन्तात् सर्वनाडीषु निरोधः। सुषुम्नायां प्रवेशनमिति यावत्। प्राणायामः = प्राणादीनां मनसा सह संयमनं प्राणायामः। प्रत्याहारः = मनसो विषयादिभ्यो

बलवान् समझ रही हो, वे ये सब निश्चय ही हमारे द्वारा आक्रमण होते ही प्रणष्ट हो जाँयगे।

क्योंकि—

क्रोध के आगे अहिंसा क्या चीज है? मेरे सामने ब्रह्मचर्य आदि क्या हैं? और लोभ के सामने ये सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह क्या हैं? ॥ १५ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि तो

कारचित्तैकसाध्यत्वादीषत्करसमुन्मूलना एव। अपि च स्त्रिय एवामीषां कृत्यास्तेनैतेऽस्मदगोचरा एव वर्तन्ते। यतः—

निवृत्तिः। ध्यानम् = आत्मचिन्तनम्। धारणा = तस्यैव चिन्तनस्य कंचित्कालमनुवृत्तिः। समाधिः = सम्यगाधानम्, ध्येयवस्तुनि मनसश्चिरकालानुवृत्तिरिति यमादीनां व्याख्या 'प्रबोधचन्द्रोदस्य' चन्द्रिकाटीकाकारेण अत्रैव स्थलेऽक्रियत। 'वेदान्तसार' नाम्नि ग्रन्थे अनुभववाक्यार्थप्रकरणे श्रीसदानन्दमहोदयैरेवमुच्यते—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।' 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। 'करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि'। 'रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः'। 'इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः'। 'अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा'। 'तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्'। 'समाधिस्तु सविकल्पक एव। सविकल्पको नाम समाधिः ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षतयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्'। इति। परमार्थस्तु सुधीभिरेव चिन्तनीयः।

अमी यमनियमादयस्तु निर्विकारचित्तैकसाध्यत्वात् = यमादीनां सिद्धौ विकाररहितचित्तस्यापेक्षितत्वादित्यर्थः। ईषत्करसमुन्मूलना एव—ईषत्करम् = सुकरम्, समुन्मूलनम् = उत्सादः येषां तादृशा एव। चित्तविकारस्य मया सुकरत्वाद्यमादयः सुखमुन्मूलयितुं शक्या इति भावः। यमादीनां विजये उपायान्तरमाह अपि चेति। स्त्रियः = विलासिन्यः, एव कृत्याः = डाकिन्यः, संहर्त्र्य इत्यर्थः। अस्मद्गोचराः = अस्मदधीना एव। अथवा नास्ति ममायासापेक्षा, विलासिन्य एव यमादिभ्योऽलमिति भावः।

बड़ी आसानी से ही नष्ट किये जा सकते हैं क्योंकि इनकी सिद्धि में केवल निर्विकार चित्त अपेक्षित होता है (जिसको विकृत करना मेरे लिए बहुत आसान है)। दूसरे, जब स्त्रियाँ ही इनकी डाकिनी हैं (अर्थात् इनका संहार कर सकती हैं) तब तो ये हमारे हाथ ही में हैं। क्योंकि—

सन्तु विलोकनभाषणविलासपरिहासकेलिपरिरम्भाः ।
स्मरणमपि कामिनीनामलमिह मनसो विकाराय ॥ १६ ॥

विशेषतश्चैते मदमात्सर्यदम्भलोभादिभिरस्मत्स्वामिवल्लभैरभियुज्यमाना नरपतिमन्त्रिणोऽधर्ममेवाश्रयिष्यन्ते ।

रतिः—आर्यपुत्र, श्रुतं मया युष्माकं विवेकशमदमप्रभृतीनां चैकमु-

---

सन्तु विलोकनेति । विलोकनम् = स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यप्रेक्षणम्, भाषणम् = द्वयोर्मधुरगुह्यसंलापः, विलासः = पुरुषस्य पुरतो नारीकर्तृकलीलाप्रदर्शनम्, परिहासः = नर्मोक्तिः, केलिः = जलक्रीडादिः, परिरम्भः = आलिङ्गनम्, एते सर्वे सन्तु = दूरे तिष्ठन्तु, नास्त्येतेषामपेक्षेति भावः । कामिनीनाम् = विलासवतीनाम्, स्मरणमपि = चिन्तनमेवेत्यर्थः, इह = स्वभावशान्ते पुरुषे, मनसः = चित्तस्य, विकाराय = विकारं कर्तुम्, अलम् = समर्थम् । आर्या जातिः ॥ १६ ॥

विशेषतश्चेति । विशेषतः = प्राधान्येन । मदमात्सर्येत्यादिः = मदः = गर्वः, मात्सर्यम् = परगुणासहिष्णुत्वम्, दम्भः = असद्गुणाभिमानः, लोभः = परद्रव्यलिप्सा इत्यादिर्येषां तैः, आदिपदेन प्रमादालस्यादयो गृह्यन्ते । अस्मत्स्वामिवल्लभैः अस्माकं स्वामिनः=महामोहस्य, वल्लभैः = प्रियैः, अभियुज्यमानाः=आक्रम्यमाणाः, प्रतिपक्षतयाऽऽहूयमाना एवेत्यर्थः । एते नरपतिमन्त्रिणः—नरपतेः=राज्ञो विवेकस्य, मन्त्रिणः = अमात्या यमादयः अधर्मम् = मोहपक्षमेव, आश्रयिष्यन्ते भजिष्यन्ते ।

रतिरिति । युष्माकम् = कामादीनाम् । विवेकशमदमप्रभृतीनां च = विवेकादीनाञ्च । उत्पत्तिस्थानम् = गोत्रं कुलम्, एकमेव = सममेव, इति मया = रत्या,

---

देखना, बात-चीत, हाव-भाव, हँसी-मजाक, क्रीडा और आलिङ्गन ये सब तो दूर रहें, स्त्रियों का स्मरण ही शान्त पुरुष के मन को विकृत करने के लिए पर्याप्त है ॥ १६ ॥

विशेषरूप से मद, मात्सर्य, दम्भ, लोभादि हमारे स्वामी के इन प्यारों से सामना होते ही राजा (विवेक) के ये (यमादि) मन्त्री अधर्म का ही पल्ला पकड़ेंगे ।

रति—आर्यपुत्र ! मैंने सुना है कि आप का तथा विवेक आदि का कुल

त्पत्तिस्थानमिति । (अज्जउत्त, सुदं मए तुम्हाणं विवेअसमदमप्पहुदीणं च एक्कं उप्पत्तित्थाणं ति)

कामः—आः प्रिये किमुच्यत एकमुत्पत्तिस्थानमिति । ननु जनक एवास्माकमभिन्नः । तथाहि—

संभूतः प्रथममहेश्वरस्य सङ्गान्मायायां मन इति विश्रुतस्तनूजः ।
त्रैलोक्यं सकलमिदं विसृज्य भूयस्तेनाथो जनितमिदं कुलद्वयं नः॥ १७ ॥

तस्य च प्रवृत्तिनिवृत्ती द्वे धर्मपत्न्यौ । तयोः प्रवृत्त्यां समुत्पन्नं महामोहप्रधानमेकं कुलम् । निवृत्त्यां च द्वितीयं विवेकप्रधानमिति ।

श्रुतम्=कर्णपरम्परया ज्ञातम् । संभूत इति । प्रथमम्=आदौ, महेश्वरस्य=परब्रह्मणः, सङ्गात् = सम्बन्धात्, मायायाम् = अनाद्यामविद्यायाम्, 'मनः' इति विश्रुतः = प्रसिद्धः, तनूजः = पुत्रः, संभूतः = जातः । तेन मनसा, इदम् = दृश्यमानम्, सकलम् = समग्रम्, स्थावरजङ्गमात्मकमित्यर्थः । त्रैलोक्यम्, विसृज्य = विशेषतो निर्माय, अथो = अनन्तरम्, भूयः = बहुतरम्, महत्तरमित्यर्थः । तेन = मनसा, नः = अस्माकम् कामविवेकादीनाम्, इदं कुलद्वयम् = मोहप्रधानं विवेकप्रधानं चेत्येतद्द्वयम्, जनितम् = उत्पादितम् । श्रुतावप्युक्तोऽयमेवार्थः—'तुच्छेनाभ्यपिहितं यदासीन्मनसस्तन्महिम्नाऽजायतैकम् । कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्' इति ।। अत्र महेश्वरपदेन ब्रह्मेत्येव विवक्षितं प्रसङ्गानुकूल्यादिति ज्ञेयम् । प्रहर्षिणी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा —'त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' इति ॥१७॥

तस्येति । तस्य = मनसः । प्रवृत्तिनिवृत्ती = प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्चेति, द्वे धर्मपत्न्यौ = द्वे भार्ये । तयोः = प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्मध्ये ।

एक ही है ।

काम—ओह ! प्रिये, कुल एक है यही क्यों कहती हो, अरे ! पिता ही हम लोगों का एक है । क्योंकि—

प्रथम परब्रह्म का संसर्ग होने से माया में मन नाम से प्रसिद्ध एक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने इस समग्र त्रैलोक्य की सृष्टि कर, उसके बाद हमारे इन महत्तर दोनों कुलों को जन्म दिया ।। १७ ॥

उस (मन) की प्रवृत्ति और निवृत्ति नाम की दो पत्नियाँ हैं । उनमें प्रवृत्ति से मोह कुल का और निवृत्ति से विवेक कुल का जन्म हुआ है ।

रतिः—आर्यपुत्र, यद्येवं तत्किं निमित्तं युष्माकं सोदराणामपि परस्पर-मेतादृशं वैरम्। (अज्जउत्त, जइ एव्वं ता किं णिमित्त तुम्हाणं सोअराणं वि परोप्परं एआरिसं वैरम्)

कामः—प्रिये,

एकामिषप्रभवमेव सहोदराणा-
मुज्जृम्भते जगति वैरमिति प्रसिद्धम्।
पृथ्वीनिमित्तमभवत्कुरुपाण्डवानां
तीव्रस्तथा हि भुवनक्षयकृद्विरोधः ॥ १८ ॥

रतिरिति। यद्येवम् = यदि भवतां विवेकादीनां च मन एव एको जनकस्तत् किं-निमित्तम्=किमर्थम्, युष्माकं सोदराणाम्—समानपितृजातत्वेन सोदरत्वव्यपदेशः।

सोदराणामपि दृष्टमस्ति वैरमित्याह—एकामिषेति। सहोदराणाम् = समान-वंशोत्पन्नानाम्, वैरम् = विरोधः, एकामिषप्रभवमेव—एकामिषम्=समानभोग्यवस्तु प्रभवः = उत्पत्तिस्थानं यस्य तदेव, अत्रामिषशब्दो भोग्यवस्तुपरो लक्षणया। जगति = लोके, समुज्जृम्भते = वर्धते, इति प्रसिद्धम्=विख्यातम्। तदेव सदृष्टान्त-माह—पृथ्वीति। हीति प्रसिद्धौ तथा भुवनक्षयकृत्=संसारविनाशकः, तथा तीव्रः= दारुणः, कुरुपाण्डवानां विरोधः पृथिवीनिमित्तम्, राज्यार्थम्, अभवत्। अस्माकमपि विरोधस्तथैवेति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्। लक्षणं तु प्रागेवोक्तम्॥ १८॥

रति—आर्यपुत्र ! यदि ऐसा है तो आप सहोदर लोगों का भी आपस में किस लिए ऐसा वैर है ?

काम—प्रिये,

सहोदरों में समान भोग्य वस्तु मूलक वैर वढ़ जाता है, यह संसार में प्रसिद्ध है। (अर्थात् सभी सहोदरों की एक ही भोग्य वस्तु में अभिलाषा होने से परस्पर में वैर उत्पन्न होता है और वह क्रमशः वढ़ जाता है)। कुरु और पाण्डवों का, संसार को नष्ट कर देने वाला वह उग्र विरोध पृथिवी के लिए (ही तो) हुआ था॥ १८॥

सर्वमेवैतज्जगदस्माकं पित्रोपार्जितं तच्चास्माभिस्तातवल्लभतया सर्वमेवाक्रान्तम। तेषां तु विरलः प्रचारः। तेनैते पापाः सांप्रतं पितरमस्मांश्चोन्मूलयितुमुद्यताः।

रतिः—शान्तं पापम्। आर्यपुत्र, किं तादृशं पापं विद्वेषणमात्रेण तैरारब्धम्। भवतु। अस्योपायः को वा मन्त्रितः? (सान्तं पावं। अज्जउत्त, किं एरिसं पावं विद्दसनमत्तेण तेहिं आरद्धं। होदु। अस्स उवाओ कोवि मन्तिदो?)

विवेकादिभिः स्ववैरस्यैकामिषमूलकत्वं दर्शयति कामः—सर्वमेवेति। अस्माकम् = मोहपक्षीयाणां विवेकपक्षीयाणां च। पित्रा = जनकेन मनसा। एतत् = दृश्यमानम्। सर्वमेव = निखिलमेव। जगत् = संसारः। उपार्जितम् = अर्जितम्, तेनैव जनितत्वादिति भावः। तत्=तस्मात् कारणात्। तातवल्लभतया= जनकप्रियत्वेन, अस्माभिः = मोहपक्षीयैः। सर्वमेव = अविभक्तं समग्रमेव। आक्रान्तम् = स्वायत्तीकृतम्। तेषाम् = विवेकादीनां तु। विरलः = क्वाचित्कः। प्रचारः = प्रसरणम्। तेन = स्वभागस्याप्राप्त्या, प्रचारवैरल्येन च। एते = विवेकादयः। पापाः = पापकर्माणः। साम्प्रतम् = इदानीम्। पितरम् = जनकं मनः। अस्मांश्च=मोहादींश्च। उन्मूलयितुम्=विनाशयितुम्। उद्युक्ताः = प्रवृत्ताः। लोकेऽपि सपत्नीद्वयपुत्राणां मध्ये पितृप्रियाः सर्वस्वमधिकुर्वते, तेनापरे वैमात्रेयाः पितुः पितृप्रियाणां भ्रातॄणां चोन्मूलनाय सततं प्रयतमानास्तिष्ठन्ति इति प्रसिद्धम्।

रतिरिति। 'शान्तं पापम्' इति। स्वमुखात् परमुखाद्वाऽमङ्गलसूचके वाक्ये निःसृते प्रयुज्यते यथा भाषायां तादृशे प्रसङ्गे 'राम! राम!' 'शिव! शिव!' इति प्रयुज्यते।

इस सारे संसार को हमारे पिता ने ही अर्जित किया। पिता के प्यारे होने से हमने सारे पर अधिकार कर लिया। उन लोगों का कहीं-कहीं प्रचार है अर्थात् उन्हें बहुत थोड़ा स्थान मिला है) इसलिए ये पापी (विवेकादि) अब पिता और हम लोगों को उखाड़ देने के लिए उद्यत हैं।

रति—पाप शान्त हो। आर्यपुत्र! क्या विरोध होने मात्र से उन लोगों ने ऐसा पाप करना चाहा? अच्छा, आप लोगों ने इसके लिए क्या उपाय सोचा है?

कामः—प्रिये, अस्त्यत्र किंचिन्निगूढं बीजम् ।

रतिः—आर्यपुत्र, तत्किंनोद्धाटयते ? (अज्जउत्त, तांकिण उग्घाडीअदि?)

कामः प्रिये, भव ी स्त्रीस्वभावाद्भीरुरिति न दारुणकर्म पापीयसामुदाह्रियते ।

रतिः—(सभयम्) आर्यपुत्र, कीदृशं तत ? (अज्जउत्त, केरिसं तम्?)

कामः—प्रिये, न भेतव्यं न भेतव्यम् । हताशानामाशामात्रमेवैतत् । अस्ति किलैषा किंवदन्ती । अत्रास्माकं कुलं कालरात्रिकल्पा विद्या-नाम राक्षसी समुत्पत्स्यत इति !

काम इति । निगूढम् = गोपनीयम् । बीजम् = अनर्थकारणम् ।

रतिरिति । तत् किं नोद्घाट्यते ? = अवश्यमुद्घाटनीयमित्यर्थः ।

काम इति । स्त्रीस्वभावात् = स्त्रीत्वात् । भीरुः = भयशीला । इति = अनेन कारणेन । पापीयसाम् = पापकर्मणां विवेकादीनाम् । दारुणं कर्म = भयंकरं कर्म । न उदाह्रियते = न प्रकाश्यते । पापकर्माणो विवेकादयो यद्दारुणं कर्म कर्तुमिच्छन्ति तत्तव पुरतो न प्रकाश्यते, यतस्त्वं स्त्रीस्वभावाद् भीता भविष्यसीति कामोक्तेरभिप्रायः ।

हताशानाम्=अधमानाम् । आशामात्रमेव =केवलो मनोरथ एव । किंवदन्ती= प्रवादः । अत्र = अस्मिन् । अस्माकम् = मोहादीनाम् । कुले = वंशे । कालरात्रि-कल्पा = प्रलयनिशासमाना, कुलविध्वंसकारिणीत्यर्थः । विद्या नाम राक्षसी समुत्पत्स्यते = जन्म लप्स्यते । विद्या मोहादीन् विनाशयतीति तस्या मोहादीन् प्रति राक्षसीत्वेन रूपणम् ।

काम—प्रिये, इसमें कुछ रहस्य की बात है ।

रति—आर्यपुत्र, तो आप उसे खोलते क्यों नहीं ?

काम—प्रिये, स्त्री-स्वभाव-वश तुम भीरु हो, इसलिए उन पापियों का भयंकर कर्म तुमसे नहीं कहता हूँ ।

रति—(भय से) आर्यपुत्र! वह क्या है ?

काम—प्रिये, डरो मत डरो मत । उन अधमों की यह आशा भर हो है । ऐसी किंवदन्ती है कि हमारे इस कुल में कालरात्रितुल्य विद्या नाम की राक्षसी उत्पन्न होगी ।

रतिः—(सभयम्) हा धिक् हा धिक । कथमस्माकं कुले राक्षसीति वेपते मे हृदयम् । (हद्धी हद्धी । कधं अम्हाणं कुले रक्खसीति वेवदि मे हिअअम्)

कामः—प्रिये, न भेतव्यं न भेतव्यम । किंवदन्तीमात्रमेवैतत् ।

रतिः—अथ तया राक्षस्या किं कर्तव्यम् (अव ताए रक्खसीए किं कादव्वम् ।)

कामः—प्रिये, अस्ति किलैषा प्राजापत्या सरस्वती—

पुन्सः सङ्गसमुज्झितस्य गृहिणी मायेति तेनाप्यसा-
वस्पृष्टापि मनः प्रसूय तनयं लोकानसूत क्रमात् ।

किलेति वार्तामात्रे । प्राजापत्या प्रजापतिः = ब्रह्मा, तेन प्रोक्ता । सरस्वती = वाणी ।

पुंस इति । सङ्गसमुज्झितस्य=सङ्गेन = सम्बन्धेन, समुज्झितस्य = रहितस्य, पुंसः = पुरुषस्य परमेश्वरस्य, गृहिणी = स्त्री भोगसाधनत्वेनेतिभावः । मायेति प्रसिद्धा । पुरुषस्य सङ्गसमुज्झितत्वे 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः प्रमाणम् । तेन = पुरुषेण, अस्पृष्टापि = अनालिङ्गितापि, असौ = माया प्रकृतिः, मनः = मनोरूपम् तनयम् = पुत्रम् । प्रसूय = जनयित्वा, पुरुषेणास्पृष्टापि माया, चुम्बक-पाषाणेनासंबद्धापि यान्तं चुम्बकमनुगच्छन्ती लोहशलाकेव तदीक्षणमात्रकृतार्थतया मनोरूपं तनयं जनयित्वेत्यर्थः । क्रमात् लोकान् = भूर्भुवःस्वरादीन्, असूत = अजनयत् । पुनः = अनन्तरम्, तस्मादेव=मनोरूपात् पुत्रादेव, विद्येति प्रसिद्धाऽसौ कन्या पुत्री जनिष्यते = उत्पत्स्यते, यया = विद्यया, तातः = पिता मनः, ते च = प्रसिद्धाः, सहोदराः महामोहादयः, जननी = माया च, सर्वं कुलम् (कुलान्तः-

---

रति—(भय से) हा धिक् ! हा धिक् ! क्यों हमारे कुल में राक्षसी !! इससे तो मेरा हृदय काँप रहा है ।

काम—प्रिये, डरो न, डरो न, यह तो किंवदन्ती ही भर है ।

रति—वह राक्षसी करेगी क्या ?

काम—ब्रह्मा की ऐसी वाणी है :—

निःसङ्ग पुरुष की पत्नी माया है । उसने पुरुष स्पर्श के विना ही मन नामक पुत्र को उत्पन्न कर क्रम से लोकों को उत्पन्न किया । उसी से वह विद्या

तस्मादेव जनिष्यते पुनरसौ विद्येति कन्या यया
तातस्ते च सहोदराश्च जननी सर्वं च भक्ष्यं कुलम् ॥ १९ ॥

रतिः—(सत्रासोत्कम्पम्) आर्यपुत्र, परित्राहि परित्राहि। (अज्जउत्त, परित्ताहि परित्ताहि)

(इति भर्तारमालिङ्गति)

कामः—(स्पर्शसुखमभिनीय। स्वगतम्)

स्फुरद्रोमोद्भेदस्तरलतरताराकुलदृशो
भयोत्कम्पोत्तुङ्गस्तनयुगभरासङ्गसुभगः ।
अधीराक्ष्या गुञ्जन्मणिवलयदोर्वल्लिरचितः

पातित्वादात्मापि) भक्ष्यम् = समाप्यम्। असङ्गस्य पुरुषस्य माया नाम गृहिणी तेनास्पृष्टापि मनः पुत्रमसूत, तदनन्तरं क्रमात् लोकानजनयत्, सम्प्रति मनसः सकाशादेवासा माया विद्यां नाम कन्यां जनयिष्यति, या स्वोत्पादकं मनः सहोदरान् मोहादीन् जननी माया आत्मानं च विनाशयिष्यतीति सरलार्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

स्फुरदिति। तरलतरताराकुलदृशः—तरलतरे = अतिचञ्चले, तारे=अक्ष्णोः कनीनिके, ताभ्यामाकुले = व्यग्रतरे दृशौ = नेत्रे यस्यास्तादृश्याः, अधीराक्ष्या अधीरे = चञ्चले, अक्षिणी = नेत्रे यस्याः सा अधीराक्षी = सुन्दरी तस्याः, स्फुरद्रोमोद्भेदः—स्फुरन् = प्रकाशमानः, रोमोद्भेदः = रोमाञ्चो येन तादृशः, परिरम्भविशेषणमेतत्। भयोत्कम्पोत्तुङ्गस्तनयुगभरासङ्गसुभगः — भयेन=आन्तरभीत्या उत्कम्पौ = कम्पमानौ, उत्तुङ्गौ = उन्नतौ, स्तनौ = कुचौ, तयोः युगम् = द्वयम्, तस्य यो भरः = भारः, तस्य आसङ्गेन = संश्लेषेण, सुभगः = मनोहरः, गुञ्जन्मणिवलयदोर्वल्लिरचितः—गुञ्जत् = शब्दायमानम्, मणिवलयम् = मणि-

---

नाम की राक्षसी जन्म लेगी जो पिता, सहोदर, जननी यहाँ तक कि सारे कुल को खा जायगी ॥ १९ ॥

रति—(त्रास से काँप कर) आर्यपुत्र ! रक्षा करो, रक्षा करो (स्वामी से लिपट जाती है)

काम—(स्पर्श सुख का अनुभव कर, स्वगत) अतिचञ्चल पुतलियों से व्यग्रनेत्रों वाली अधीराक्षी सुन्दरी का, भय से काँपते उन्नत कुचों के संश्लेप से

परीरम्भो मोदं जनयति च संमोहयति च ॥ २० ॥

(प्रकाशम् । दृढं परिष्वज्य) प्रिये, न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

अस्मासु जीवत्सु कुतो विद्योत्पत्तिः ।

रतिः—अथ किं तस्या एव राक्षस्या उत्पत्तिर्युष्माकं प्रतिपक्षाणां सम्मता ? (अध किं ता एव रक्खस्सीए उत्पत्ती तुम्हाण पडिवक्खाणं सम्मदा ?)

कामः—बाढम्, सा खलु विवेकेनोपनिषद्देव्यां प्रबोधचन्द्रेण भ्राता समं जनयितव्या । तत्र सर्व एते शमदमादयः प्रतिपन्नोद्योगाः ।

विरचितं कङ्कणं ययोस्तादृश्यौ ये दोर्वल्ली = भुजलते ताभ्यां रचितः = कृतः, परीरम्भः = आलिङ्गनम्, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः । मोदम् = आनन्दम्, जनयति = उत्पादयति, संमोहयति च = विषयान्तरं स्मारयति च । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २० ॥

रतिरिति । प्रतिपक्षाणाम् = शत्रूणां विवेकादीनाम् । सम्मता = इष्टा ।

काम इति । बाढमिति स्वीकृतौ । सा = विद्या । खल्विति प्रसिद्धौ । विवेकेन = विवेकनाम्ना राज्ञा, अस्माकं वैमात्रेयेण । उपनिषद्देव्याम् = उपनिषदाख्यायां महिष्याम् । प्रबोधचन्द्रेण भ्रात्रा समम् = प्रबोधचन्द्रनाम्ना सहोदरेण सह । प्रतिपन्नोद्योगाः—प्रतिपन्नः स्वीकृतः, उद्योगः = प्रयत्नो यैस्तादृशाः, प्रयत्नशीलाः ।

मनोहर, झङ्कृत मणि कङ्कण से युक्त भुजलताओं से किया गया रोमाञ्चजनक आलिङ्गन आनन्द भी देता है और हृदय को सम्मोहित भी करता है (अर्थात् उस आनन्द में हृदय सब सुध-बुध खो बैठता है) ॥ २० ॥

(व्यक्त रूप से, दृढ आलिङ्गन कर) प्रिये, डरो नहीं, डरो नहीं ।

हमारे जीते जी विद्या किस तरह उत्पन्न होगी ?

रति—अच्छा क्या उस राक्षसी का जन्म होना आप के शत्रुओं को इष्ट है ?

काम—हाँ, वह विवेक से उपनिषद् देवी में प्रबोधचन्द्र नामक भाई के साथ जन्म लेगी । इस विषय में शम-दम आदि ये सब प्रयत्नशील हैं ।

रतिः—आर्यपुत्र, कथमेतैरात्मनो विनाशकारिण्या विद्याया उत्पत्तिरेतैर्दुर्विनीतैः श्लाघ्यते ? (अज्जउत्त, कहं एदेहिं अप्पणो विनासकारिणीए विज्जाए उप्पत्ती एदेहिं दुव्विणीदेहिं सलाहिज्जदि ?)

कामः—प्रिये, कुलक्षयप्रवृत्तानां पापकारिणां कुतः स्वपरप्रत्यवायगणना । पश्य पश्य—

सहजमलिनवक्रभावभाजां
भवति भवः प्रभवात्मनाशहेतुः ।
जलधरपदवीमवाप्य धूमो

रतिरिति । एतैः = विवेकादिभिः । (कुलान्तःपातित्वात्) आत्मनः = स्वस्य । विनाशकारिण्याः = विनाशिकायाः । दुर्विनीतैः = दुष्टैः । श्लाघ्यते = प्रशस्यते ।

काम इति । कुलक्षयप्रवृत्तानाम् = वंशनाशतत्पराणाम् । पापकारिणाम् = पापकर्मणाम् । स्वपरप्रत्यवायगणना—स्वस्य, परेषाम् = अन्येषां कुलोद्भवानां च प्रत्यवायः = विनाशः, तस्य गणना = विचारः ।

सहजमलिनेति । मलिनाश्च वक्राश्चेति मलिनवक्राः, तेषां भावः मलिनवक्रभावः, सहजश्चासौ मलिनवक्रभाव इति सहजमलिनवक्रभावः, तं भजन्ति तेषाम् । धूमपक्षे मलिनभावो नीलिमा, कुटिलभावो वक्रगामित्वम् । भवः = उत्पत्तिः, प्रभवात्मनाशहेतुः—प्रभवन्त्यस्मादिति प्रभवः = उत्पत्तिस्थानम् तस्य, आत्मनः = स्वस्य च नाशहेतुः = नाशकारणं भवति = जायते, स्वभावतो मलिनाः कुटिलाश्च जायमाना एव स्वोत्पत्तिस्थानं स्वं च विनाशयन्तीत्यर्थः । तमेवोक्तार्थमर्थान्तरेण समर्थयते—जलधरेति । धूमः = वह्नेरुत्पद्यमान इति भावः, जलधरपदवीम् = मेघरूपताम्, प्राकृतिकनियमादिति भावः । अवाप्य = प्राप्य ।

रति—आर्यपुत्र ! ये दुष्ट आत्मविनाशकारिणी विद्या की उत्पत्ति की श्लाघा (प्रशंसा) क्यों करते हैं ?

काम—प्रिये, कुल के विनाश पर तुले हुए पापियों को अपने या दूसरों की हानि की क्या परवाह ? देखो, देखो—

स्वभावतः मलिन और कुटिल लोगों का जन्म, जनक और अपने विनाश का कारण हुआ करता है । अग्नि से उत्पन्न धूम (प्राकृतिकनियमवश) मेघ

ज्वलनविनाशमनु प्रयाति नाशम् ॥ २१ ॥

(नेपथ्ये) आः पाप दुरात्मन्, कथमस्मानेव पापकारिण इत्याक्षिपसि । ननु रे !

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥ २२ ॥

इति पौराणिकीं गाथां पुराणविद उदाहरन्ति । अनेन चास्माकं

ज्वलनविनाशमनु = वृष्टया ज्वलनस्य = वह्नेः विनाशम् = शमनं कृत्वा तदनु = तदनन्तरम् नाशं प्रयाति=स्वयमपि विलीयते । अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः समर्थ्यते यत्र साधर्म्यसम्बन्धोऽपि स्पष्ट एव, तस्मादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥ २१ ॥

नेपथ्य इति । 'आः' इत्यधिक्षेपे । पाप = पापकर्मन् ! दुरात्मन् ! अस्मान् = विवेकादीन् । आक्षिपसि = निन्दसि । ननु रे !—नन्वित्यव्ययपदं विरोधिनोऽर्थस्य प्रस्तावे प्रयुक्तम् । तमेव विरोधिनमर्थं प्रस्तौति—**गुरोरपीत्यादिना** । अवलिप्तस्य= अभिमानिनः, कार्याकार्यम् = सदसत्, अजानतः=अबोधमानस्य, उत्पथप्रतिपन्नस्य= कुमार्गगामिनः, गुरोरपि=पितुरपि, परित्यागः, विधीयते = क्रियते । परित्यागः कर्त्तव्य इत्यर्थः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २२ ॥

इतिपौराणिकीमिति । पौराणिकीम् = पुराणगताम् । गाथाम् = उक्तिम् । पुराणविदः = पुराणज्ञाः । उदाहरन्ति = कथयन्ति । अस्माकम् = विवेकादीनाम् ।

बन कर (जल वृष्टि से) अग्नि का विनाश करता है, तत्पश्चात् स्वयं भी विलीन हो जाता है ॥ २१ ॥

(नेपथ्य में) ओह ! पापी ! दुष्ट ! हमीं लोगों को क्यों पापी कह कर निन्दा कर रहा है ! अरे, रे !

अभिमान-ग्रस्त, कर्त्तव्याकर्त्तव्य को न समझने वाले कुमार्ग पर चलते हुए पिता का भी परित्याग विहित होता है ॥ २२ ॥

पुराणवेत्ता लोग यह पौराणिक गाथा कहते हैं । हमारे इस अहङ्कारानुगामी

जनकेनाहङ्कारानुवर्तिना जगत्पतिः पितैव तावद्बद्धः। मोहादिभिश्च स एव बन्धः सुदृढतां नीतः।

कामः—(विलोक्य) प्रिये, अयमस्माकं कुले ज्यायान् मत्या देव्या सह विवेक इत एवाभिवर्तते। य एषः—

रागादिभिः स्वरसचारिभिरात्तकान्ति-
निर्भर्त्स्यमान इव मानधनः कृशाङ्गः।
मत्या नितान्तकलुषीकृतया शशाङ्कः

जनकेन = मनसा। अहङ्कारानुवर्तिना = अहङ्कारानुगामिना। जगत्पतिः = संसारस्वामी। पिता = परमेश्वरः। बद्धः = बन्धनं प्रापितः। परमेश्वरसकाशादुत्पन्नेन मनसैव जनितस्य बन्धनस्य मोहादिभिर्दृढीकरणात्, बन्धकारणस्य कुमार्गगामिनो मनसः समुन्मूलनायास्माकं प्रयासः समीचीन एव पुराणोक्तिसमर्थितत्वादिति भावः।

काम इति। ज्यायान् = महत्तरः। मत्या देव्या सह = मतिर्नाम विवेकपत्नी तया महिष्या सह। अभिवर्तते = समागच्छति।

रागादिभिरिति। स्वरसचारिभिः = स्वच्छचारिभिः। 'सरसचारिभि'रिति पाठे सरसेषु = रसिकजनेषु चरन्ति तैरिति व्याख्यानम्। रागादिभिः = रागद्वेषलोभादिभिः, निर्भर्त्स्यमानः = तिरस्क्रियमाण इव, अतएव आत्तकान्तिः = आत्ता= गृहीता, कान्तिः = तेजो यस्य तादृशः, निस्तेजाः, कृशाङ्गः = दुर्बलः, स्वप्रारब्धकार्यसम्पादनेऽसमर्थ इत्यर्थः। किन्तु मानधनः = मनस्वी, धैर्यसम्पन्न इत्यर्थः। नितान्तकलुषीकृतया—नितान्तम् = अत्यर्थम्, कलुषीकृतया = मलिनीकृतया रागादिभिरिति भावः। मत्या = मतिनाम्न्या स्वपत्न्या, सान्द्रतुहिनान्तरितः = प्रगाढनीहारप्रावृतः, शशाङ्कः=चन्द्रः, कान्त्या = स्वप्रभया इव विभाति=शोभते।

पिता (मन) ने जगत्पिता को ही बाँध रखा है। और मोहादिक ने उसी बन्धन को सुदृढ कर दिया है।

काम—(देखकर) प्रिये, हमारे कुल में श्रेष्ठ यह विवेक देवी मति के साथ इधर ही आ रहा है। जो यह—

रागादि यथेच्छाचारियों ने इसे उपेक्षित सा कर इसकी कान्ति हर ली है, अत एव यह मनस्वी दुर्बल हो रहा है। (रागादि के द्वारा) कलुषित की गयी

कान्त्येव सान्द्रतुहिनान्तरितो विभाति ॥ २३ ॥

तन्न युक्तमिहास्माकमवस्थातुम ।

(इति निष्क्रान्तौ)

विष्कम्भः

(ततः प्रविशति राजा विवेको मतिश्च)

राजा — (विचिन्त्य) प्रिये, श्रुतं त्वयास्य दुर्विनीतस्य कामवटोर्मद-विस्फूर्जितं वचो यदस्मानेव पापकारिण इत्याक्षिपति ।

यथा निविडनीहारप्रावृतश्चन्द्रो दुर्बलः पूर्णप्रकाशविकलः सन् स्वकान्त्या विभाति तथैवायं विवेकोऽपि रागादिभिस्तिरस्कृतो निस्तेजाः स्वप्रभावस्थापनेऽसमर्थः कृशाङ्ग इव मलिनदेहयष्ट्या मत्या युक्तः कथं कथमपि मानं धैर्यं च रक्षन् विभातीति सरलार्थः । तुहिनं नामाविद्या 'नीहारेण प्रावृता' इति श्रुतेः । नीहारेण चन्द्र इवाविद्यया विवेकोऽप्याव्रियते इति ध्वनिः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

विष्कम्भ इति । अत्रायं विष्कम्भो मिश्रविष्कम्भः । तल्लक्षणं यथा —

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥

(सा० द० ६।५५–५६)

राजेति । दुर्विनीतस्य = अशिष्टस्य । कामवटोः = अधमस्य कामस्येत्यर्थः, अत्र वटुशब्दस्य प्रयोगस्तिरस्कारसूचनायेति ज्ञेयम् । मदविस्फूर्जितम्—मदेन =

अपनी धर्मपत्नी के साथ यह, अपनी मलिन कान्ति से युक्त, निविड कुहरे से ढके हुए चन्द्रमा के समान प्रतीत हो रहा है ॥ २३ ॥

तो यहाँ हम लोगों का रहना अच्छा नहीं है ।

(ऐसा कह कर दोनों चले गये)

विष्कम्भ (समाप्त)

(तदनन्तर राजा विवेक और मति का प्रवेश)

राजा—(सोचकर) प्रिये, इस दुर्विनीत छोकरे काम का मद एवम्

मतिः—आर्यपुत्र, किमात्मनो दोषं लोको विजानाति । (अज्जउत्त; किं अप्पणो दोसं लोगो विआणादि)

राजा—पश्य—

असावहङ्कारपरैर्दुरात्मभि-
र्निबध्य तैः पापशठैर्मदादिभिः ।
चिरं चिदानन्दमयो निरञ्जनो
जगत्प्रभुर्दीनदशामनीयत ॥ २४ ॥

गर्वेण, विस्फूर्जितम् = औद्धत्यमयम् । अस्मान् विवेकादीन् । आक्षिपति = निन्दति ।

मतिरिति । लोकः = साधारणो जनः । कामः साधारणजनत्वेन स्वं दोषमविज्ञाय अस्मास्वेव दोषारोपणं करोतीति भावः ।

राजा विवेको मोहपक्षीयाणां मदादीनां पापकारितां प्रतिपादयति—**असावित्यादिना** । अहङ्कारपरैः—अहङ्कार एव परः = प्रधानो येषां तैः, अहङ्कारानुगामिभिरित्यर्थः । दुरात्मभिः = दुष्टस्वभावैः, पापशठैः—पापाः = पापकर्माणः, शठाश्च तैः, तैः मदादिभिः = मदमात्सर्यलोभादिभिः, असौ = प्रसिद्धसद्गुणः, चिदानन्दमयः = चितस्वरूपः आनन्दस्वरूपश्च, निरञ्जनः—निर्गतम् अञ्जनम् = मोहावरणं यस्मात् सः, निर्लेप इत्यर्थः । जगत्प्रभुः = परमात्मा, दीनदशाम् = दीनाम् = आनन्दशून्यां, दशाम् = अवस्थाम् अनीयत = प्रापितः । चिदानन्दमयो निरञ्जनश्चासौ जगत्प्रभुरविद्यासम्बन्धेन स्वरूपाद् भ्रंशयित्वा बद्ध इव, अज्ञानीव, दुःखीव च कृतः इत्यभिप्रायः । वंशस्थं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'वदन्ति वंशस्थमिदं जतौ जरौ' इति ॥ २४ ॥

औद्धत्य से भरा वचन तुमने सुना जिसके द्वारा हम लोगों को ही पापी कह कर निन्दा करता है ।

मति—आर्यपुत्र ! क्या, साधारण लोग अपना दोष समझ पाते हैं ?

राजा—देखो—

अहङ्कारपरायण इन मदादि पापियों, शठों ने चिदानन्दमय नित्य निरञ्जन उस जगत्पिता को बाँध कर दीन दशा को प्राप्त करा दिया है ॥ २४ ॥

त एते पुण्यकारिणो वयं तु तन्मुक्तये प्रवृत्ताः पापकारिण इत्यहो जितं दुरात्मभिः।

मतिः—आर्यपुत्र, यतोऽसौ सहजानन्दसुन्दरस्वभावो नित्यप्रकाशः प्रस्फुरत्सकलत्रिभुवनप्रचारः परमेश्वरः श्रूयते। तत्कथमेतैर्दुर्विदग्धैर्बद्ध्वा महामोहसागरे निक्षिप्तः। (अज्जउत्तो, जदो सो सहजआणन्दसुन्दलसहाओ णिच्चप्पआसो पप्फुरन्तसअलतिहुअणप्पआरो परमेस्सरो सुणीअदि। ता कहं एदेहिं दुव्विणीदेहिं वधिअ महामोहसाअरे णिक्खित्तो)

राजा—प्रिये,

सततधृतिरप्युच्चैः शान्तोऽप्यवाप्तमहोदयोऽ-

त एत इति। ते = तादृशपापकारिणः। एते = मदादियः। पुण्यकारिणः = पुण्यात्मानः, काक्वा पापकारिणः इति ध्वनिः। तन्मुक्तये = तस्य = परब्रह्मणो मुक्तये = बन्धभङ्गाय। प्रवृत्ताः = उद्यताः। अहो जितं दुरात्मभिः = अहो एतेषां दुरात्मनामात्मनः सर्वोत्कृष्टत्वख्यापनमिति भावः।

मतिरिति। असौ = परमेश्वरः। सहजानन्दसुन्दरस्वभावः = नित्यानन्दरम्यरूपः। नित्यप्रकाशः =सर्वदा वर्तमानः स्वप्रकाशरूपः। स्फुरत्सकलभुवनप्रचारः स्फुरन्=विद्योतमानः सकलेषु भुवनेषु प्रचारः=प्रसारो यस्य तादृशः, सर्वेषां भुवनानामन्तःस्थित्वा तन्नियामकत्वेन सकलभुवनव्यापीत्यर्थः। दुर्विदग्धैः=दुरात्मभिः।

सततधृतिरिति। सततधृतिः–सतता = नित्या, धृतिः = धैर्यं यस्य तादृशः। अपिशब्दो निन्दायाम्। उच्चैः = उन्नतः, शान्तः = शान्तियुक्तः अपि, अवाप्तमहोदयः = प्राप्तकामः अपि, अधिगतनयः = नीतिवेत्ता अपि, अन्तःस्वच्छः =

तिस पर ये (इनकी अपनी दृष्टि में) पुण्याचारी हैं किन्तु हम लोग जो उसकी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं, पापकर्मा हैं। इन दुरात्माओं का सर्वोत्तम बनना कैसा आश्चर्यजनक है!

मति—आर्यपुत्र, सुनती हूँ कि वह परमेश्वर नित्यानन्दरम्यरूप, नित्यप्रकाशरूप सकल भुवन व्यापी है, तो इन दुरात्माओं ने उसे कैसे बाँधकर महामोह सागर में डाल दिया?

राजा—प्रिये,

सतत धैर्यवान्, उच्च, शान्त, महान् उदय को प्राप्त, नीतिज्ञ, विमलहृदय,

प्यधिगतनयोऽप्यन्तःस्वच्छोऽप्युदीरितधीरपि ।
त्यजति सहजं धैर्यं स्त्रीभिः प्रतारितमानसः
स्वयमपि यतो मायासङ्गात्पुमानिति विश्रुतः ॥ २५ ॥

मतिः—आर्यपुत्र, नूनमन्धकारलेखया सहस्ररश्मेस्तिरस्कारो यथ। नथा मायया स्फुरन्महाप्रकाशसागरस्य देवस्याप्यभिभवः । (अज्जउत्त, णं खु अन्धकारलेहाए सहस्सरस्सिणो तिरक्कारो जधा तधा माआए स्फुरन्तमहाप्पआससाअरस्स देवस्स वि अहिहवो)

विमलहृदयः अपि, उदीरितधीः = उदीरिता = समयोचिता, धीः = बुद्धिर्यस्य तादृशोऽपि, स्त्रीभिः = ललनाभिः, प्रतारितमानसः—प्रतारितम् = वञ्चितम्, मानसम् = मनो यस्य तादृशः, मोहितमना इत्यर्थः । सहजम् = स्वाभाविकम्, धैर्यम्= धीरत्वम्, त्यजति = मुञ्चति । यतः = यस्मात् कारणात्, स्वयमपि = परमात्मापि, मायासङ्गात् = अविद्यासम्पर्कात्, पुमान् इति विश्रुतः = प्रसिद्धः ।

नित्यवीरोऽपि, उन्नतोऽपि, शान्तियुक्तोऽपि, नीतिवेत्तापि, स्वच्छान्तःकरणोऽपि, प्राप्तकामोऽपि, समयोचितबुद्धिरपि, लोको वनिताभिर्मोहितचित्ततया स्वभावसिद्धमपि धैर्यं जहाति, अन्यस्य का कथा, स्वयं परमेश्वरोऽपि मायासङ्गादेव पुमानिति प्रसिद्ध इति सरलार्थः । हरिणो वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ २५ ॥

मतिरिति । नूनम् = निश्चयेन । अन्धकारलेखया = तमसः पङ्क्त्या । सहस्ररश्मेः = सूर्यस्य । तिरस्कारः = आच्छादनम् । मायया = अविद्यया । स्फुरन्महाप्रकाशसागरस्य = दीप्यमानानन्ततेजोराशेः । देवस्य = परमेश्वरस्य । अभिभवः = प्रच्छन्नतेजस्त्वरूपं तिरस्कारः । एतदुक्तं भवति—अन्धकारो यद्यपि सूर्यं स्वरूपाच्च्युतं न करोति तथापि प्रच्छन्नप्रकाशं तु विदधात्येव, तथैवाविद्यापि परमेश्वरस्य स्वरूपमविकृत्यापि बाह्यं प्रकाशं तिरोभावयतीति ।

बुद्धिमान् होता हुआ भी, स्त्रियों द्वारा छले जाने पर स्वाभाविक धैर्य को छोड़ बैठता है । इसी लिए स्वयं परमात्मा भी अविद्या के संसर्ग से पुमान् (पुरुष) कहलाने लगे हैं ॥ २५ ॥

मति—आर्यपुत्र, निश्चय ही, माया द्वारा, दीप्यमान अनन्तप्रकाशरूप ब्रह्म का यह अभिभव, अन्धकार द्वारा किये गये सूर्य के अभिभव के ही समान हुआ ।

राजा—प्रिये अविचारसिद्धेयं वेश्याविलासिनीव माया असतोऽपि भावानुपदर्शयन्ती परपुरुषं वञ्चयति । पश्य—

स्फटिकमणिवद्भास्वान्देवः प्रगाढमनार्यया

राजेति। अविचारसिद्धा = अविचारावव्यवस्थिता । वेश्याविलासिनीव = कृत्रिमविलासवतो वेश्येव । असतोऽपि भावान् = कृत्रिमान् प्रणयसूचकभावान्, मायापक्षे अविद्यमानान् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिभावान् । उपदर्शयन्ती = उप समीपे प्रकाशयन्ती । परपुरुषम् = स्वपतिभिन्नं पुरुषम्, मायापक्षे परम् = उत्कृष्टं पुरुषम् परमेश्वरमित्यर्थः । वञ्चयति = प्रतारयति । यथा वारवनिताया अविचारं यावदेव रमणीयतया, पुंसो वारवनितासङ्गः, विचारदशायां तस्या अरमणीयत्वेन पुंसो वारवनितासङ्गो न वर्तते तथैवाविचारं यावदेव मायाया अवस्थितिः, विचारदशायां ब्रह्मणो मायासङ्गो नास्ति 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः । यथा वेश्या कृत्रिम-प्रणयसूचकभावान् समीपे प्रकाशयन्ती परपुरुषं वञ्चयति तथैव मायापि कर्तृत्व-भोक्तृत्वादीन् अविद्यमानानपि भावान् प्रकाशयन्ती परमेश्वरं वञ्चयति इति परमार्थो ज्ञेयः ।

स्फटिकमणिवदिति । स्फटिकमणिवद् = स्फटिकमणिरिव, भास्वान् = स्वयं-प्रकाशः, देवः=परमेश्वरः; प्रपञ्चात्मना क्रीडनशीलतया देवपदेन व्यवहृतः, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतेः प्रगाढम्=गाढतरम्, अनया, अनार्यया=तुच्छया अनर्थ-

राजा—प्रिये, अविचारसिद्धा यह माया वेश्या की तरह अविद्यमान भावों को भी प्रदर्शित करती हुई परपुरुष (१—उत्कृष्ट पुरुष परमेश्वर, २—स्वपतिभिन्न पुरुष) को छला करती है ।

विमर्श—अविचारसिद्धा—अविचारदशा तक ही माया की अवस्थिति है । विचारदशा में ब्रह्म का मायासङ्ग नहीं है 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' । वेश्या भी अविचार की दशा में ही पुरुष को रमणीय लगती है, विचारदशा में अरमणीय होने से पुरुष का वेश्यासङ्ग नहीं होता ।

असतोऽपि भावानुपदर्शयन्ती—माया कर्तृत्वभोक्तृत्वादि भावों को प्रकाशित करती है जो वास्तव में असत् = अविद्यमान, अनित्य होते हैं । वेश्या द्वारा प्रदर्शित प्रणयसूचक भाव भी असत् = कृत्रिम अत एव अनित्य होते हैं ।

देखो—स्फटिक मणि के समान भास्वर (स्वयंप्रकाश) परमेश्वर स्वभावतः

विकृतिमनया नीतः कामप्यसङ्गतविक्रियः।
न खलु तदुपश्लेषादस्य व्यपैति रुचिर्मनाक्
प्रभवति तथाऽप्येषा पुंसो विधातुमधीरताम् ॥२६॥

मतिः—आर्यपुत्र, किं पुनः कारणं येन सा तथोदारचरितं दुर्विग्धा प्रतारयति। (अज्जउत्त, कि पुणो कारणं जेण सा तधा उदारचरिदं दुव्विदग्धा प्रतारेदि)

कारिण्येति भावः, मायया, असंगतविक्रियः अपि—स्वभावतो न संगता = संभाविता विक्रिया = विकारो यस्मिन् तादृशोऽपि सन्, कामपि=अनिर्वचनीयाम्, विकृतिम्= विकारम्, नीतः = प्रापितः। तदुपश्लेपात् = तस्याः = अविद्यायाः, उपश्लेषात् = संसर्गात्, अस्य = परमेश्वरस्य, रुचिः = स्वस्वरूपप्रकाशः मनागपि = ईषदपि, न व्यपैति = न दूरीभवति खलु, तथापि, एषा = अविद्या पुंसः = परमेश्वरस्य, अधीरताम् = स्वानुगुणस्वभावताम्, विधातुम् = सम्पादयितुम्। प्रभवति = समर्था भवति।

स्वयं श्वेतः स्फटिकमणिर्जपाकुसुमसंनिधानाद्रक्तोऽपि स्वश्वैत्यं न मुञ्चति, तद्वत् स्वयंप्रकाशः परमेश्वरो मायया स्वसंसर्गात् विकृतिं प्रापितोऽपि स्वस्वरूपान्न च्यवते तथाप्येषा माया परमेश्वरस्याधीरतां विधातुं समर्था भवतीत्यहो मायायाः प्रभाव इति स्पष्टार्थः। हरिणीवृत्तम् ॥ २६ ॥

मतिरिति। कारणम् = प्रवृत्तिहेतुभूतम्। उदारचरितम् = महोच्चस्वभावम् परमेश्वरम्। सा दुर्विनीता = धूर्ताऽविद्या। प्रतारयति = विडम्बयति।

विकार रहित होने पर भी इस दुश्चरित्र माया के द्वारा विकृति को प्राप्त कराये जाते हैं। यद्यपि उस (अविद्या) के संसर्ग से इस परमेश्वर की रुचि (स्वस्वरूप-प्रकाश) तनिक भी नष्ट नहीं होती तथापि वह अविद्या परमेश्व को अधीर कर देती है।

मति—आर्यपुत्र, क्या कारण है कि वह दुष्ट माया वैसे उदारचरित पुरुष की विडम्बना करती है।

राजा—न खलु प्रयोजनं कारणं वा विलोक्य माया प्रवर्तते। स्वभावः खल्वसौ स्त्रीपिशाचीनाम्। पश्य—

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति॥ २७॥

अस्ति चापरमपि कारणम्।

मतिः—आर्यपुत्र, किं नाम तत्कारणम्? (अज्जउत्त, किं णाम तक्कारणम्!)

राजेति। प्रयोजनम् = प्रवृत्त्युद्देश्यभूतम्। प्रवर्तते = परमेश्वरं प्रतारयितुं प्रवृत्ता भवतीति भावः। स्त्रीपिशाचीनाम् = स्त्रिय एव पिशाच्यस्तासाम्। निष्कारणपरपीडकत्वात् स्त्रीणां पिशाचीत्वोक्तिः। स्वभावः खल्वसौ = स्वभाववशात् क्रियमाणे कार्ये न किमपि कारणं प्रयोजनं वा गवेषणीयमिति भावः।

तदेव सदृष्टान्तमाह—संमोहयन्तीति। संमोहयन्ति = संमोहयुक्तं कुर्वन्ति, मदयन्ति = मत्तं कुर्वन्ति, विडम्बयन्ति = उपहसन्ति, निर्भर्त्सयन्ति = दोषारोपणं कुर्वन्ति, रमयन्ति = प्रमोदयन्ति, विषादयन्ति = खेदयन्ति। एता वामनयनाः = सुन्दर्यः, 'वामनयना' इत्यनेन स्त्रीणां कुटिलप्रकृतित्वं द्योत्यते। नराणाम् = पुरुषाणाम्, सदयम् दयालुस्वभावमित्यर्थः, हृदयं प्रविश्य = पुरुषान् वशीकृत्येत्यर्थः, किं नाम न समाचरन्ति = अपि तु कार्यमकार्यं सर्वमपि कुर्वन्तीत्यर्थः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ २७॥

राजा—माया किसी प्रयोजन या कारण को देखकर नहीं प्रवृत्त होती है, वह तो स्त्रीपिशाचियों का स्वभाव ही है। देखो—

मोहित करती हैं, मत्त बना देती हैं, विडम्बना करती हैं, फटकारती हैं, आनन्दित करती हैं, दुःखी बनाती हैं, ये कुटिल दृष्टिवाली स्त्रियाँ पुरुषों के सदय हृदय में प्रवेश कर क्या क्या नहीं करती हैं। (अर्थात् कृत्याकृत्य सब कुछ करती हैं)॥ २७॥

दूसरा भी कारण है।

मति—आर्यपुत्र, वह कौन-सा कारण है?

राजा—एवमनया दुराचारया विचिन्तितं यदहं तावद्गतयौवना वर्षीयसी। अयं पुराणपुरुषः स्वभावादेव विषयरसविमुखः। ततः स्वतनयमेव पारमेश्वरे पदे निवेशयामीति, तमेव मातुरभिप्रायमासाद्य नितान्ततत्प्रत्यासन्नतया तद्रूपतामिवापन्नेन मनसा नवद्वाराणि पुराणि रचयित्वा।

राजेति। अनया = मायया। दुराचारया = दुष्टचरित्रया। विचिन्तितम् = विशेषेण चिन्तितम्, विनिश्चितमित्यर्थः। गतयौवना = यौवनरहिता। वेदान्तपक्षे सर्वावस्थाशून्या, अनादिरित्यर्थः, अत्र यौवनशब्दोऽवस्थामात्रबोधकः वर्षीयसी = वृद्धतरा, पुरुषरमणाक्षमा। वृद्धशब्दात् ईयसुनिकृते 'प्रियस्थिर'—इत्यादिना वृद्धशब्दस्य वर्षादेशे 'उगितश्चेति ङीप्। मायापक्षे वर्षीयसी = महेश्वरा। अयम् = पुरुषः परमेश्वरः। पुराणपुरुषः = वृद्धः पुमान्। विषयरसविमुखः—विषयेषु = शब्दादिषु रसः = प्रीतिस्तत्र विमुखः = निःस्पृह इति यावत्। तदेवं दम्पत्योर्वार्धक्यं जातमिति सूचितम्। तत् = तस्मात्कारणात्। स्वतनयमेव = मनोनामकं स्वपुत्रमेव। पारमेश्वरे पदे—परमेश्वरस्येदमिति पारमेश्वरम्, 'तस्येदम्' इत्यण्, तस्मिन् पदे = जगत्कर्तृत्वनियामकत्वाद्यधिकारे। निवेशयामि = स्थापयामि। इति चिन्तितमित्यन्वयः। अन्याऽपि चतुरा स्त्री आत्मनः पत्युश्च वार्धक्यं दृष्ट्वा स्वतनयं पितरधिकारे निवेशयति तदनुरूपमनया मायया चिन्तितमित्यर्थः। तम् = पूर्वोक्तम्। मातुः = जनन्याः, मायाया इत्यर्थः। अभिप्रायम् = आशयम्। आसाद्य = ज्ञात्वा। नितान्ततत्प्रत्यासन्नतया-नितान्तम् = अत्यर्थम्, तस्य = ईश्वरस्य, प्रत्यासन्नः = संनिहितः, तस्य भावस्तत्ता तया, तद्रूपताम् = ईश्वररूपताम्, ईश्वरस्यैव वियदादिसृष्टिकर्तृत्वसामर्थ्यमित्यर्थः। आपन्नेन = प्राप्तेन। अन्योऽपि मातृललितकुमारः सततं पितुः संनिधाने विद्यमानस्तत्कार्यकर्तृत्वयोग्यतामाप्नोति। नवद्वाराणि पुराणि = नवसङ्ख्यकद्वारवन्ति शरीररूपपुराणि। देहे हि नासाकर्णादिनवद्वाराणीति प्रसिद्धमेव।

राजा—इस धूर्ता अविद्या ने सोचा कि मैं गतयौवना अत्यन्त वृद्ध हो गयी, ये पुराण पुरुष भी स्वभावतः विषयरसविमुख ही हैं, इसलिए अपने पुत्र मन को ही परमेश्वर के पद पर बिठा दूँ। मन ने माता के उस अभिप्राय को समझकर सतत ईश्वर के समीपवर्ती होने के कारण ईश्वररूपता (सृष्टिकर्तृत्वसामर्थ्य) को प्राप्त कर नवद्वारों वाले पूरों (शरीर) को रच कर—

एकोऽपि बहुधा तेषु विच्छिद्येव निवेशितः ।
स्वचेष्टितमथो तस्मिन्विदधाति मणाविव ॥ २८ ॥

मतिः—(विचिन्त्य) आर्यपुत्र, यादृशी माता पुत्रोऽपि तादृश एव जातः । (अज्जउत्त, जादिसी मादा पुत्तको वि तादिसो जेव्व जादो ।)

राजा—ततोऽसावहंकारेण चित्तस्य ज्येष्ठपुत्रेण नप्त्रा परिष्वक्तः । ततश्चासावीश्वरः ।

एकोऽपीति । तेषु=शरीररूपपुरेषु, एकोऽपि=एक एव परमात्मा, विच्छिद्येव=पृथक् कृत्येव, बहुधा = नानाभावेन, निवेशितः = स्थापितः विम्बप्रतिविम्बप्रतिभावेनेति भावः । यथा विभिन्नपात्रावस्थापितजलेषु सूर्यस्य विभिन्नप्रतिविम्बानि भवन्ति, तद्वत्तत्तद्देहेषु परमात्मनोऽप्येकस्यैव प्रवेशो बोध्यः । अथो = तदनन्तरम्, मणाविव = यथा जपादिरुपाधिः स्वधर्मं रक्तत्वादिकं मणौ प्रक्षिपति तद्वदित्यर्थः, तस्मिन् = देवे, स्वचेष्टितम् = कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुखित्वादिरूपं स्वधर्मं विदधाति = प्रक्षिपति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २८ ॥

मतिरिति । यादृशी=यथा वञ्चनादिगुणोपेता । माता=जननी, मायेत्यर्थः । पुत्रः = सुतः, मन इत्यर्थः । तादृशः=तथा मातृसदृशगुणोपेतः । जातः=अभवत् ।

राजेति । ततः = शरीररूपपुरप्रवेशानन्तरम् । असो = पुरुषः, परमात्मा । चित्तस्य ज्येष्ठपुत्रेण, नप्त्रा=पुत्रपुत्रेण । पुरुषस्य पुत्रो मनः, तत्पुत्रश्चाहंकारः इति तत्र नप्तृत्वारोपः । अहङ्कारेण परिष्वक्तः=आलिङ्गितः, यथा लोके पौत्रादयोऽङ्कमासाद्य पितामहादीनालिङ्गन्ति तद्वदहङ्कारालिङ्गितः, अहङ्काराविष्ट इत्यर्थः ।

उन (शरीर रूप पुरों) में एक ही परमात्मा को भिन्न-भिन्न सा कर नाना रूपों से निविष्ट कर दिया । इसके अनन्तर जैसे मणि में जपाकुसुमादि उपाधि अपने रक्तत्व आदि धर्म को प्रक्षिप्त करती है उसी प्रकार उस परमात्मा में मन कर्तृत्वभोक्तृत्व सुखित्व दुखित्वादिरूप अपने धर्म को प्रक्षिप्त करता है।२८।

मति—(सोचकर) आर्यपुत्र, जैसी (वञ्चनादिगुणोपेत) माता, पुत्र भी वैसा ही हुआ ।

राजा—तदनन्तर वह (पुरुष परमात्मा) चित्त के बड़े लड़के-अर्थात् अपने 'त्र के पुत्र अहङ्कार से आलिङ्गित (आविष्ट) हो गया । उसके बाद वह ईश्वर—

जातोऽहं जनको ममैष जननी क्षेत्रं कलत्रं कुलं
पुत्रा मित्रमरातयो वसु बलं विद्याः सुहृद्बान्धवाः ।
चित्तस्पन्दितकल्पनामनुभवन्विद्वानविद्यामयीं
निद्रामेत्य विघूर्णितो बहुविधान् स्वप्नानिमान्पश्यति ॥२९॥

मतिः—आर्यपुत्र, एवं दीर्घतरनिद्राविद्रावितप्रबोधे परमेश्वरे कथं प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति । (अज्जउत्त, एवं दीहतरणिद्दाविदविअप्पओहे पलमेस्सले कहं पवोहोप्पत्ती भविस्सदि)

जातोऽहमिति । विद्वान् = ज्ञानवान् (अपि) अविद्यामयीम् = अविद्यापरपर्यायाम्, स्वार्थे मयट् । निद्राम् एत्य = प्राप्य, विघूर्णितः विस्मृतस्वरूपः, चित्तस्पन्दितकल्पनाम्—चित्तस्य = मनसः, स्पन्दितेन=दृष्टानुभूतश्रुतपूर्वविषयेषु सञ्चरणेन या कल्पना = अनुपस्थितविषयकस्वाप्नपदार्थप्रतीतिः, ताम्, अनुभवन् = कुर्वन्, असौ ईश्वरः अहं जातः = उत्पन्नः, मम एष जनकः = उत्पादयिता, इयं मम जननी, इदं मम क्षेत्रम् = कृष्याभूमिः, इदं मम कलत्रम् = पत्नी, इदं मम कुलम् = वंशः, इमे मम पुत्राः, अयं मम मित्रम्=सुहृत्, इमे मम अरातयः= शत्रवः, इदं मम वसु = धनम्, इदं मम वलम् = सामर्थ्यम्, इमाः मम विद्याः = शास्त्रज्ञानानि, अयं मम सुहृत् = प्रियः, इमे मम वान्धवाः = भ्रात्रादयः, इमान् तदाकारान् वहुविधान् स्वप्नान् = स्वप्नावस्थायामुत्पद्यमानानिव मिथ्याविषयकभ्रमान् पश्यति = उद्भावयति । लौकिकपुरुष इवायमपि पुरुषोऽविद्यामयीं निद्रामुपेत्य मनोकल्पितांस्तांस्तान् स्वप्नान् आलोकमानस्तैस्तैर्भावैर्वद्ध इव व्यवहरन् विस्मृतस्वरूपो लौकिको भवतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

मतिरिति । दीर्घतरनिद्राविद्रावितप्रबोधे—दीर्घतरनिद्रा = चिरकालिक-

---

ज्ञानवान् होकर भी अविद्यामयी निद्रा को प्राप्त कर, आत्मस्वरूप को भुलाकर मनः कल्पित नाना प्रकार के अविद्यामय अनुभवों को करता हुआ, मैं पैदा हुआ, यह मेरा पिता, माता, खेत, पत्नी, वंश, पुत्र, मित्र, शत्रु, धन, वल, विद्या, सुहृद्, वान्धव—इस प्रकार के वहुविध स्वप्नों को देखा करता है ॥ २९ ॥

मति—आर्य पुत्र, इस प्रकार चिरकालिक निद्रा से परमात्मा का प्रवोध

राजा—(सलज्जमधोमुखस्तिष्ठति)

मतिः—आर्यपुत्र, किमिति गुरुतरलज्जाभरनमितशेखरस्तूष्णींभूतोऽसि, न प्रतिभणसि। (अज्जउत्त, किति गुरुअरलज्जाभरणमिदसेहरो तूण्हीं-भूदोऽसि, न प्पतिभणसि)

राजा—प्रिये, सेर्ष्यं प्रायेण योषितां भवति हृदयम्। तेन सापराधमिवात्मानं शङ्के।

निद्रा, तया विद्रावितः = दूरीकृतः, प्रबोधः = स्वाभाविकज्ञानं यस्य तस्मिन् परमेश्वरे। प्रबोधोत्पत्तिः = स्वाभाविकज्ञानोदयः।

गुरुतरलज्जाभरनमितशेखरः—अतिशयलज्जामनुभवन् नतमस्तकः सन्। तूष्णीभूतः असि = मौनमाश्रित्य तिष्ठसि। न प्रतिभणसि = प्रत्युत्तरं न ददासि।

राजेति। योषिताम् = रमणीनाम्। सेर्ष्यम् = ईर्ष्यालु इत्यर्थः। सापराधम् = अपराद्धम्। शङ्के = चिन्तयामि। अयमाशयः—उपनिषद्देव्याः मया सह सङ्गमादेव प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यतीति प्रत्युत्तरदाने उपनिषद्रूपवनितान्तरप्रसङ्गेन तव पुरतः आत्मानं कृतापराधं मन्यमानो लज्जामनुभवामि स्त्रीणामीर्ष्यालुस्वभावत्वादिदमेव मौनकारणं विद्धि। इति।

(स्वाभाविक ज्ञान) दूर भगा दिया गया है, तो फिर उसमें किस प्रकार से प्रबोध उत्पन्न होगा ?

राजा—(लज्जा से अधोमुख हो जाता है)

मति—आर्यपुत्र, अतिशय लज्जा से नतमस्तक हो चुप क्यों हो गये ? उत्तर क्यों नहीं देते ?

राजा—प्रिये, स्त्रियों का हृदय प्रायः ईर्ष्यालु होता है। इसलिए (मेरे साथ उपनिषद् देवी के सङ्गम से ही प्रबोध की उत्पत्ति हो सकती है—ऐसा उत्तर देने में अन्य वनिता के प्रसङ्ग से तुम्हारे द्वारा मान लिया जाने वाला) अपराधी सा अपने को मान रहा हूँ।

मतिः—आर्यपुत्र, अन्यास्ताः स्त्रियो याः स्वरसप्रवृत्तस्य वा धर्मार्थव्यापारप्रस्थितस्य वा भर्तुर्हृदयस्थितं विघ्नन्ति। (अज्जउत्त, अण्णा ता इत्थियाओ जाओ सरसप्पउत्तस्स वा धम्मात्थवावारप्पस्थिदस्स भत्तुणो हिअअत्थिदं विहणन्दि)

राजा—प्रिये,

मानिन्याश्चिरविप्रयोगजनितासूयाकुलाया भवे-
च्छान्त्यादेरनुकूलनादुपनिषद्देव्या सया संगमः।
तूष्णीं चेद्विषयानपास्य भवती तिष्ठेन्मुहूर्तं ततो

15480

मतिरिति। अन्याः = मदतिरिक्ताः। स्वरसप्रवृत्तस्य = स्वेच्छापूर्वकं जिगमिषोः। धर्मार्थव्यापारप्रस्थितस्य–धार्मिककार्ये व्याप्रियमाणस्य। हृदयस्थितम् = मनोगतमुद्देश्यम्। विघ्नन्ति = विहतं कुर्वन्ति। स्वेच्छयाऽपि त्वयि प्रवृत्ते नास्ति मे काऽपि विप्रतिपत्तिः। तवोपनिषदि प्रसक्तेः परोपकारार्थतया मम हृदये हर्ष एवोदेष्यति नेर्ष्येति भावः।

राजा—पूर्वोद्भासितं मतेः कालुष्यं त्याजयितुमाह–मानिन्या इति। चिरविप्रयोगजनितासूयाकुलायाः– चिरं विप्रयोगः=वियोगः, तेन जनिता = उत्पादिता या असूया = ईर्ष्या तया आकुला = व्याकुला तस्याः, मानिन्याः = ईर्ष्याकृतकोपवत्याः, उपनिषद्देव्याः, शान्त्यादेः = तत्सख्याः कर्त्र्याः, अनुकूलनात् = सान्त्वनात्, मानपरित्याजनादित्यर्थः, यदि मया = विवेकेन सह, संगमः=सहवासः भवेत्। भवती = मतिः, चेत् = यदि, विषयान् = सांसारिकभोगान्, अपास्य = परित्यज्य, मुहूर्तम् = कंचित्कालम्, तूष्णीम् = सोपशमम् तिष्ठेत्, ततः = तदा,

मति—आर्यपुत्र, वे स्त्रियाँ दूसरी हैं जो स्वेच्छा से या धमार्थवश किसी कार्य में प्रवृत्त होने वाले अपने पति के उद्देश्य में विघ्न डालती हैं।

राजा—प्रिये—

चिरवियोगजनित ईर्ष्या से पूर्ण मानिनी उपनिषद्देवी का, शान्ति आदि के द्वारा अनुकूल बना दिये जाने पर, मेरे साथ यदि संगम हो जाय और यदि तुम

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधामविरहात्प्राप्तः प्रबोधोदयः ॥ ३० ॥

मतिः—आर्यपुत्र, यद्येवं कुलप्रभोर्दृढग्रन्थिनिबद्धस्यापि बन्धमोक्षो भवति तदा तया नित्यानुबन्ध एवार्यपुत्रो भवत्विति सुष्ठु मे प्रियम्। (अज्जउत्त, जदि एवं कुलप्पहुणो दिढगंथिणिवद्धस्स वि वन्धमोक्खो भोदि तदो ताए णिच्चाणुवन्धो जेव्व अज्जउत्तो भोदु त्ति सुट्ठु मे पिअम्)

राजा—प्रिये, यद्येवं प्रसन्नासि सिद्धास्तर्ह्यस्माकं मनोरथाः। तथा हि—

वद्ध्वैको बहुधा विभज्य जगतामादिः प्रभुः शाश्वतः
क्षिप्त्वा यैः पुरुषः पुरेषु परमो मृत्योः पदं प्रापितः।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधामविरहात् = जाग्रदाद्यभिस्थानाभावात् ('धामानि त्रीणि भवन्ति स्थानानि जन्मानि नामानि' इति निरुक्तम्)। प्रबोधोदयः प्राप्तः=प्रबोधोदयोऽवश्यं भवेदित्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३० ॥

मतिरिति। कुलप्रभोः = वंशस्वामिनः, परमात्मन इत्यर्थः। दृढग्रन्थिनिवद्धस्य दृढग्रन्थिना = अहंकाररूपेण दृढबन्धनेन वद्धस्य, अहङ्काराभिमानिन इत्यर्थः। वन्धमोक्षः = अहङ्कारनिवृत्तिः। तया = उपनिषद्देव्या। नित्यानुबन्धः = नित्यसंगतिः।

वद्ध्वैक इति। यैः = अहङ्कारादिभिः, जगतामादिः = जगत्प्रथमः, प्रभुः= समर्थः, स्वतन्त्र इत्यर्थः, शाश्वतः=अविनाशी, एवंभूतोऽपि परमः पुरुषः=परमेश्वरः, पुरेषु=शरीरेषु, एक एव बहुधा विभज्य=नानारूपतामापाद्य वद्ध्वा = अहम्भाव-

---

विषयों को छोड़कर कुछ समय तक तूष्णीभाव अपना लो-शान्त रहो तव जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति आदि के अभाव से प्रवोध का उदय हो सकता है ॥ ३० ॥

मति—आर्यपुत्र, यदि इस प्रकार दृढबन्धन में निवद्ध अपने कुलप्रभु परमात्मा की बन्धन से निवृत्ति हो जाय तव आप उस (उपनिषद्देवी) के साथ सतत संगति करें, मुझे यह अत्यन्त प्रिय है।

राजा—प्रिये, यदि तुम इस प्रकार प्रसन्न हो तो हमारे मनोरथ पूर्ण ही हैं। क्योंकि-जिन अहङ्कारादि पापियों ने जगत् के आदि, प्रभु (स्वतन्त्र) शाश्वत परम पुरुष परमेश्वर को शरीर रूप पुरों में एक होते हुए भी अनेक

तेषां ब्रह्मभिदां विधाय विधिवत्प्राणान्तिकं विद्यया
प्रायश्चित्तमिदं मया पुनरसौ ब्रह्मैकतां नीयते ॥ ३१ ॥

तद्भवतु । प्रस्तुतविधानाय शमादीन् योजयामः ।

(इति निष्क्रान्तौ मतिविवेकौ)

इति श्रीकृष्णमिश्रयतिविरचिते प्रबोधचन्द्रोदये प्रथमोऽङ्कः ॥ १ ॥

—:-:-०-:-:—

बन्धने आसज्य, क्षिप्त्वा = निवेश्य, मृत्योः पदम् = जननमरणस्थानम्, प्रापितः= नीतः । मया = विवेकेन, तेषाम् = पूर्वोक्तानाम्, ब्रह्मभिदां = ब्रह्मभेदकानां, अहङ्कारादीनामिति यावत् । विद्यया = आत्मज्ञानेन, प्राणान्तिकम् = देहान्तम्, प्रायश्चित्तम्, इदम् = प्रसिद्धम् विधिवत् विधाय = कृत्वा, असौ = आत्मा, ब्रह्मैकताम्=चिदानन्दब्रह्मैक्यभावम्, नीयते=प्राप्यते ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३१॥

प्रस्तुतविधानाय = पूर्वोक्तार्थसम्पादनाय ।

इति कल्याण्याख्यायां प्रबोधचन्द्रोदयव्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः ॥ १ ॥

—:-०-:—

रूपों में विच्छिन्न कर, बाँध कर डाल दिया अतएव मृत्यु के पद को अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त करा दिया उन ब्रह्मभेदकों का, आत्मज्ञान (विद्या) के द्वारा विधिवत् प्राणान्तिक प्रायश्चित्त कर उस परम पुरुष को ब्रह्मात्मत्व (शीघ्र) प्राप्त कराता हूँ ॥ ३१ ॥

इसलिए प्रस्तुत कार्य के सम्पादन के लिए शमादि को नियुक्त करता हूँ ।

(मति और विवेक का प्रस्थान)

इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय की 'कल्याणी' हिन्दी व्याख्या में
प्रथम अङ्क समाप्त हुआ ।

—•—

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति दम्भः)

दम्भः—आदिष्टोऽस्मि महाराजमहामोहेन । यथा—वत्स दम्भ, प्रतिज्ञातं सामात्येन विवेकेन प्रबोधोदयाय । प्रेषिताश्च तेषु तेषु तीर्थेषु शमदमादयः । स चायमस्माकमुपस्थितः कुलक्षयो भवद्भिरवहितैः प्रतिकर्तव्यः । तत्र पृथिव्यां परमं मुक्तिक्षेत्रं वाराणसी नाम नगरी । तद्भवांस्तत्र गत्वा चतुर्णामप्याश्रमाणां निःश्रेयसविघ्नार्थं प्रयततामिति ।

प्रथमेऽङ्केऽज्ञानकृतनिखिलभेदावभासस्यात्माद्वैतावभासान्निरासं तदर्थं प्रबोधोत्पत्तिप्रतिज्ञां च प्रतिपाद्येदानीं द्वितीयेऽङ्के महामोहोऽपि विवेकादीनां प्रबोधोदयाय प्रयासस्य वैफल्याय दम्भादीन् प्रेषयति—ततः **प्रविशति दम्भ** इति । महामोहस्यादेशप्रकारमाह—वत्स दम्भेति । सामात्येन = अमात्यैः सहितेन । विवेकेन प्रबोधोदयाय प्रतिज्ञातम् । तत्रोपायोऽपि कृत इत्याह—प्रेषिताश्चेति । स च = प्रबोधोदयनिमित्तकः । कुलक्षयः = वंशनाशः । समुपस्थितः = समीपमागतः । अवहितैः=सावधानैः । प्रतिकर्त्तव्यः=दूरीकर्तव्यः । परमम्=उत्कृष्टम्, मुक्तिक्षेत्रम्= मोक्षस्थलम्, तत्र तारकोपदेशेनैव मोक्षस्य सुलभत्वेन तदुत्कृष्टता । चतुर्णामप्याश्रमाणाम् = ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यासाभिधेयानाम् । निःश्रेयसविघ्नार्थम् = मोक्षप्रतिबन्धार्थम् । प्रयतताम् = अतिशयितो यत्नः क्रियताम् ।

(तदनन्तर दम्भ का प्रवेश)

दम्भ—महाराज महामोह ने मुझे आदेश दिया है—'वत्स दम्भ ! अमात्य सहित विवेक ने प्रबोधोदय की प्रतिज्ञा की है । तत्तत् तीर्थों में शम-दम आदि को भेज भी दिया है । इस प्रकार यह हमारे कुल का विनाश उपस्थित है, तुम लोगों को सावधान होकर उसका प्रतीकार करना है । पृथिवी पर परम मुक्तिक्षेत्र वाराणसी नगरी है । तो तुम वहाँ जाकर चारों आश्रमों के निःश्रेयस (परमकल्याण=मोक्ष) में विघ्न डालने का प्रयत्न करो ।' तदनुसार मैंने वाराणसी के अधिकांश भाग

तदिदानीं वशीकृतभूयिष्ठा मया वाराणसी। संपादितश्च स्वामिनो यथानिर्दिष्ट आदेशः। तथा हि मदधिष्ठितैरिदानीम्—

वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितै-
नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्राः क्षपाः।
सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति
ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद्वञ्च्यते ॥ १ ॥

वशीकृतभूयिष्ठा = अधिकांशेन वशीकृता। सम्पादितः = सम्पादितप्राय इत्यर्थः। यथानिर्दिष्टः = यथात्वेनोक्तः। आदेशः = आज्ञा। मदधिष्ठितैः = मदधीनैः, धूर्तैरित्यन्वयः।

वेश्यावेश्मस्विति। वेश्यावेश्मसु = वाराङ्गनागृहेषु, सीधुगन्धिललनावक्त्रासवामोदितैः—सीधुनः = मद्यस्य गन्धो यत्र तानि सीधुगन्धीनि ललनावक्त्राणि = विलासवतीमुखानि, तेषामासवाः = मद्यानि, तैः पीतशेषैर्मद्यैरित्यर्थः, मोदितैः = हर्षितैः, धूर्तैः = वञ्चकैः मदनुगामिभिः, निर्भरमन्मथोत्सवरसैः—निर्भरः = अतिशयितः, मन्मथोत्सवेषु = कामक्रीडासु रसः = प्रीतिर्येषां तैः, उन्निद्रचन्द्राः = उन्निद्रः = प्रकाशमानः, चन्द्रो यासु तादृशीः, प्रकाशमानचन्द्रोद्भासिता इत्यर्थः, क्षपाः=रात्रीः, नीत्वा = गमयित्वा, दिवा = दिवसे, सर्वज्ञाः = सकलशास्त्रवेत्तार इति, दीक्षिताः=यज्ञप्रवृत्ता इति, चिरात् = वहोः कालात्, प्राप्ताग्निहोत्राः=अग्निहोत्रिण इति, ब्रह्मज्ञाः = आत्मज्ञानवन्त इति, तापसाः = तपस्विन इति च, एतैः प्रकारैः जगत् = लोकः, वञ्च्यते = प्रतार्यते। ममानुजीविनो धूर्ताः निशि वेश्यागृहं गत्वा तदुच्छिष्टमद्यं पीत्वा यथेच्छं सुरतं कुर्वन्ति, दिवा वञ्चनपटुतयाऽऽत्मनः स्वरूपं गोपयित्वा आत्मानं सर्वज्ञान् दीक्षितान्, अग्निहोत्रिणः, ब्रह्मज्ञान् तापसान् प्रख्याप्य लोकं प्रतारयन्तीति दम्भोक्तेराशयः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

पर अधिकार कर लिया है। स्वामी का जैसा निर्देश था, उसे सम्पन्न कर दिया है। क्योंकि—

वेश्याओं के घरों में मद्यगन्धयुक्त ललनाओं के पीने से वची जूठी मदिरा पीकर मोदित, धूर्त मेरे आदमी यथेच्छ सुरत के आनन्द में चाँदनी रातें विता कर दिन में सर्वज्ञ, दीक्षित, अग्निहोत्री, आत्मज्ञानी तथा तपस्वी अपने को वताकर संसार को धोखे में डाल रहे हैं ॥ १ ॥

(विलोक्य) कोऽप्ययं पान्थो भागीरथीमुत्तीर्य सांप्रतमित एवाभिवर्तते। तथा च यथैषः—

ज्वलन्निवाभिमानेन ग्रसन्निव जगत्त्रयीम् ।
भर्त्सयन्निव वाग्जालैः प्रज्ञयोपहसन्निव ॥ २ ॥

तथा तर्कयामि। नूनमयं दक्षिणराढाप्रदेशादागतो भविष्यति। तदेतस्मादार्यस्याहंकारस्य वृत्तान्तमनुस्मरिष्यामि। (इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशत्यहंकारो यथानिर्दिष्टः)

अहंकारः—अहो, मूर्खबहुलं जगत्। तथाहि—

कोऽप्ययमिति। कोऽपि = अज्ञातः। पान्थः=यात्री। भागीरथीम्=गङ्गाम्। उत्तीर्य = नावा तीर्त्वा। साम्प्रतम् = इदानीम्। इत एवाभिवर्तते = ममाभिमुखमेवागच्छति।

ज्वलन्निवेति। अभिमानेन ज्वलन्निव = दीप्यमान इव, जगत्त्रयीम् = त्रिलोकीम्, ग्रसन्निव = कवलीकुर्वन्निव, वाग्जालैः = वागाडम्बरैः (लोकत्रयीम्) भर्त्सयन्निव = निन्दन्निव, प्रज्ञया = बुद्ध्या (लोकत्रयीम्) उपहसन्निव = उपहासं कुर्वन्निव (दृश्यते)। अनुष्टुब्वृत्तम्। २॥

तथा तर्कयामीति। तथा तर्कयामि = यथैषोऽभिमानलक्षणलक्षितो दृश्यते तथा तर्कयामि। तर्कप्रकारमाह—नूनमिति। नूनम् = निश्चयेन। दक्षिणराढाप्रदेशात् = वाराणस्या दक्षिणस्यां दिशि वर्तमानाद् गौडराष्ट्रादागतो भविष्यति। एतस्मात् = आगच्छतः पान्थात्। अनुस्मरिष्यामि = ज्ञास्यामि।

(देखकर) यह कोई पथिक गङ्गा उतर कर इस समय इधर ही आ रहा है। और जैसा यह—

अभिमान से दमक-सा रहा है, तीनों लोकों को ग्रस्त-सा कर रहा है, (अपने) वागाडम्बर से (तीनों लोकों को) फटकार-सा रहा है, (अपनी) प्रज्ञा से (संसार की) हँसी-सी उड़ा रहा है॥ २॥

इससे प्रतीत होता है कि निश्चय ही यह दक्षिण राढा प्रदेश से आया होगा। इसलिए इससे आर्य अहङ्कार का वृत्तान्त जानूँगा। (ऐसा कहकर घूमता है)

(तदनन्तर यथोक्त रूप में अहङ्कार का प्रवेश)

अहङ्कार - अहो, संसार में मूर्ख ही अधिक हैं! क्योंकि—

नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनं
तत्त्वं ज्ञातमहो न शालिकगिरां, वाचस्पतेः का कथा।
सूक्तं नापि महोदधेरधिगतं माहाव्रती नेक्षिता
सूक्ष्मा वस्तुविचारणा नृपशुभिः स्वस्थैः कथं स्थीयते ॥ ३ ॥

नैवाश्रावीति। गुरोः = मीमांसकस्य प्रभाकरस्य, मतम् = सिद्धान्तः, नैव-अश्रावि = नैव श्रुतम्, नैवाधीतमित्यर्थः, कौमारित्वम् = कुमारिलो भट्टाचार्यस्तेन कृतं दर्शनम् = शास्त्रम्, न विदितम् = न ज्ञातम्, अहो = आश्चर्यम्, शालिक-गिराम्—शालिकस्य = शालिकनाम्नः प्रभाकरमतानुयायिनः प्रकरणपञ्चिका-कर्तुः, गिराम् = वाचाम्, तत्त्वम् = रहस्यम्, न ज्ञातम् = न विदितम्, प्रभाकरमतस्य पृथगुक्तावपि पुनः शालिकनामग्रहणमीषदवान्तरभेदज्ञापनार्थं कृतम्। वाचस्पतेः = न्यायभाष्यशारीरिकभाष्यादिव्याख्यातुर्वाचस्पतिमिश्रस्य का कथा = न कापि वार्तेत्यर्थः। मीमांसातत्त्वमजानतां वाचस्पतिमतत्त्वदुर्बोध्य-त्वादिति भावः। महोदधेः = पतञ्जलिकृतमहाभाष्यस्य, 'भाष्याब्धिः क्वाति-गम्भीरः' इति कैयटोक्तेः। सूक्तम् = सरलं स्पष्टं च वचनम् अपि, न अधिगतम् = न ज्ञातम्, माहाव्रती—महाव्रतम् = पाशुपतमतम्, तत्सम्बन्धिनी, सूक्ष्मा = सूक्ष्मेक्षिकमण्डितज्ञेया, वस्तुविचारणा = तत्त्वपर्यालोचनम्, न ईक्षिता = न दृष्टा, तत् नृपशुभिः = मनुष्यरूपैः पशुभिः, स्वस्थैः = स्वस्थचित्तैः, स्थिरैरित्यर्थः, कथम् = केन प्रकारेण स्थीयते। भावे यक्। किञ्चिदप्यविज्ञाय तेषां स्वस्थ-तयाऽवस्थानं महदाश्चर्यकरमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

न गुरु (प्रभाकर) का मत सुना, न कुमारिल का दर्शन समझा, (प्रभाकर मतानुयायी प्रकरणपञ्चिकाकार) शालिक की वाणियों का रहस्य भी नहीं जाना, (न्यायभाष्यशारीरिकभाष्यादि के व्याख्याता) वाचस्पतिमिश्र की बात तो दूर रहे, महोदधिरूप पातञ्जलभाष्य के सरल एवं स्पष्ट वचन को भी नहीं समझा, पाशुपतमत की सूक्ष्म तत्त्वविचारणा का ज्ञान नहीं प्राप्त किया, तो ये नरपशु स्वस्थचित्त हो कैसे बैठे हुए हैं ? ॥ ३ ॥

(विलोक्य) एते तावदर्थावधारणविधुराः स्वाध्यायाध्ययनमात्र-निरता वेदविप्लावका एव। (पुनरन्यतो गत्वा) एते च भिक्षामात्र-गृहीतयतिव्रता मुण्डितमुण्डाः पण्डितंमन्या वेदान्तशास्त्रं व्याकुलयन्ति। (विहस्य)

प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थावबोधिनः।

विलोक्येति। विलोक्य = दृष्ट्वा, शुद्धवैदिकानिति शेषः। एते = शुद्ध-वैदिकाः। अर्थावधारणविधुराः = वेदार्थनिश्चयशून्याः, वेदार्थमजानाना एवेत्यर्थः। स्वाध्यायाध्ययनमात्रनिरताः = पदपारायणमात्रपरायणाः। वेदविप्लावकाः = वेद-विनाशकाः। स्वाध्यायाध्ययनस्यार्थावबोधप्रयोजनकत्वम्, अर्थावबोधस्य चानुष्ठान-प्रयोजनकत्वम्, अर्थावबोधानुष्ठानयोरभावे स्वाध्यायाध्ययनमात्रनिरता एते वेद-विनाशका एवेति भावः।

पुनरन्यतो गत्वेति। भिक्षामात्रगृहीतयतिव्रताः—भिक्षामात्रार्थमेव गृहीतम्= अङ्गीकृतं यतिव्रतं यैस्तादृशाः, भिक्षाग्रहणार्थमेव धृतसंन्यासिवेशाः, न तु वास्त-विकविरागवशाद् गृहीतसंन्यासा इति भावः। मुण्डितमुण्डाः—मुण्डितशिरसः। पण्डितम्मन्याः = आत्मानं पण्डितं मन्यमानाः। वेदान्तशास्त्रम् व्याकुलयन्ति = दूषयन्ति। एतैर्भिक्षामात्रार्थमेव यतिव्रतं गृहीतं न तु मोक्षप्राप्त्यर्थम्, मुण्डं मुण्डि-तम् न तु मानसम्, एत आत्मानं पण्डितम्मन्यमाना वेदान्तचर्चायामनधिकारचेष्टां कुर्वन्तो वेदान्तशास्त्रं दूषयन्तीति भावः।

वेदान्तिनामेव निन्दां मनस्याधायाहङ्कारो वेदान्तनिन्दां करोति—प्रत्यक्षादि-प्रमेत्यादिनेति। प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थावबोधिनः—प्रत्यक्षम् = इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यं ज्ञानम्, तत् आदि येषां ते प्रत्यक्षादयः, आदिशब्देनानुमानादिकं

(देख कर) ये लोग वेद के अर्थ को न जानते हुए केवल उसका पाठ मात्र करते हैं अतः वेदों का विनाश ही कर रहे हैं।

(पुनः दूसरी ओर जाकर)

ये (वास्तविक विराग वश नहीं) केवल भिक्षा लेने के लिए ही, संन्यासी का वेश धारण किये हुए, मूँड़ मुड़ाए, अपने को पण्डित मानने वाले वेदान्तशास्त्र को दूषित कर रहे हैं। (हँस कर)

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो सिद्ध है, उसके विरुद्ध विषयों को बताने वाले

वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ॥ ४ ॥

तदेतद्वाङ्मात्रश्रवणमपि गुरुतरदुरितोदयाय। (पुनरन्यतो गत्वा) एते च शैवपाशुपतादयो दुरभ्यस्ताक्षपादमताः पशवः पाखण्डाः। अमीषां संभाषणादपि नरा नरकं यान्ति। तदेते दर्शनपथाद् दूरतः परिहरणीयाः!

गृह्यते। प्रत्यक्षादिप्रमाणानां प्रमा = यथार्थानुभवस्तया सिद्धो योऽर्थः प्रपञ्चसत्यत्वादिः, तस्माद्विरुद्धो योऽर्थः = तस्मिन् मिथ्यात्वादिः, तस्य अवबोधिनः = प्रतिपादकाः, वेदान्ताः = उपनिषदः, यदि शास्त्राणि भवेयुस्तदा तादृशार्थप्रतिपादकतया बौद्धैः = बुद्धमतोपजीविभिः किम् अपराध्यते = तेषां कोऽपराधो यत्तेषां मतानि नास्तिकमतत्वेनोपेक्ष्यन्त इति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ४ ॥

तदेतदिति। एतद्वाङ्मात्रश्रवणमपि—एतेषाम् = वेदान्तिनाम्, वाङ्मात्रश्रवणम् = वचनाकर्णनमपि। मात्रपदेनाचारस्यात्यन्तहेयत्वं ध्वन्यते। गुरुतरदुरितोदयाय=महत्तरपापोत्पादकम्। अन्यतः=अन्यस्यां दिशि, सार्वविभक्तिकस्तसिः। शैवपाशुपतादयः = शैवाश्च पाशुपताश्चादयो येषां ते। दुरभ्यस्ताक्षपादमताः—दुरभ्यस्तम् = दुःखेन अभ्यस्तम्, असम्यग्गृहीतमित्यर्थः, अक्षपादस्य = न्यायशास्त्रप्रणेतुर्गौतमस्य मतं यैस्ते। पशवः = पशुसदृशा इत्यर्थः, पाखण्डाः = धूर्ताः। अमीषाम् = पाखण्डानाम्। संभाषणात् = वार्तालापात्, अपि। दर्शनपथात् = दृष्टिमार्गात्। परिहरणीयाः = त्याज्याः।

वेदान्त यदि शास्त्र हैं तो बौद्धों ने क्या अपराध किया है? (अर्थात् बौद्ध भी तो उन्हीं के समान ही अर्थों का प्रतिपादन करते हैं तो फिर उनके मतों को नास्तिक मत कहकर उपेक्षित क्यों किया जाता है?) ॥ ४ ॥

इस लिए इन (वेदान्तियों) की बात सुनना भी महापातक का कारण है।

(पुनः दूसरी ओर जाकर) ये शैव पाशुपत आदि अक्षपाद (न्यायशास्त्र-प्रणेता गौतम) के मत को सम्यक् ढंग से न जानने वाले धूर्त पशुसदृश हैं। इनसे बातें करने से भी लोग नरक में जाते हैं। इस लिए इनको दूर से ही त्यागना चाहिए—ये दृष्टि के सामने न पड़ें तभी अच्छा है।

(पुनरन्यतो गत्वा) एते च—

गङ्गातीरतरङ्गशीतलशिलाविन्यस्तभास्वद्बृसो-
संविष्टाः कुशमुष्टिमण्डितमहादण्डाः करण्डोज्ज्वलाः ।
पर्यायग्रथिताक्षसूत्रवलयप्रत्येकबीजग्रह-
व्यग्राग्राङ्गुलयो हरन्ति धनिनां वित्तान्यहो दाम्भिकाः ॥५॥

दाम्भिकानामाचरणं निरूपयन्नाह—गङ्गातीरेति । गङ्गातीरेत्यादिः—गङ्गायास्तीरे तरङ्गैः = लहरीभिः, शीतला याः शिलाः = प्रस्तरखण्डाः, तासु विन्यस्ताः = आस्तीर्णा या भास्वन्त्यः = शोभनाः वृस्यः = ऋष्यासनानि कुशादिनिर्मितानि, तासु संविष्टाः = उपविष्टाः, कुशमुष्टिमण्डितमहादण्डाः—कुशाः मुष्टौ येषां ते कुशमुष्टयः, मण्डितः = शोभितो महान् दण्डो येषां ते मण्डितमहादण्डाः, कुशमुष्टयश्च ते मण्डितमहादण्डाः इति तथोक्ताः, यद्वा कुशानां मुष्टिभिर्मण्डितास्ते महादण्डाः । अथवा कुशानां मुष्टिभिर्मण्डितो महान् दण्डो येषां ते तथोक्ताः । करण्डोज्ज्वलाः—करण्डैः = धौतवस्त्रादिस्थापनोपयोगिवंशनिर्मितपात्रैः, उज्ज्वलाः = शोभायमानाः' पर्यायग्रथितेत्यादिः—पर्यायेण = उचितेन नियमितेन वा क्रमेण ग्रथितम् = पिनद्धम् यत् अक्षसूत्रवलयम् = मणिमालारूपम्, तस्य प्रत्येकं वीजग्रहे = मणिग्रहणे, व्यग्राः = चञ्चलाः, अग्राङ्गुलयः = अङ्गुल्यग्रभागा येषां ते तथोक्ताः, दाम्भिकाः = दम्भप्रधानाः, धनिनाम् वित्तानि = धनानि हरन्ति = गृह्णन्ति, अहो=आश्चर्यम् । एते दाम्भिकाः गङ्गाशीकरशीतलशिलासु आस्तीर्णानि कुशासनान्यधितिष्ठन्तः, गृहीतकुशाः, दण्डधराः, मणिमयाक्षमालावर्तनव्यग्राङ्गुलयः सन्तः वञ्चनया धनिनां धनानि गृह्णन्ति, ते धनिनश्चैतेषां वञ्चनावृत्ति नावगच्छन्तीत्याश्चर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

(पुनः दूसरी ओर जाकर) ये—गंगा के किनारे, लहरों से शीतल पत्थर की पाटियों पर बिछी शोभन कुश की चटाइयों पर बैठ कर, कुश लिए, दण्ड धारण किये हुए, बाँस की बनी पेटी रक्खे हुए, क्रम से गुँथी मणिमय अक्षमाला के प्रत्येक दाने पर अँगुली घुमाने वाले ये दाम्भिक लोग धनिकों के धन को हर रहे हैं (और धनिक इनकी वञ्चनावृत्ति को समझ नहीं पाते हैं) यह आश्चर्य है ॥ ५ ॥

(पुनरन्यतो गत्वा) एते त्रिदण्डव्यपदेशजीविनो द्वैताद्वैतमार्गपरिभ्रष्टा एव । (अन्यतो गत्वा विलोक्य) अये, कस्यैतद्द्वारोपान्तनिखातातिप्रांशुवंशकाण्डताण्डवितधौतसितसूक्ष्माम्बरसहस्रमितस्ततो विन्यस्तकृष्णाजिनदृषदुपलसमिच्चषालोलूखलमुसलमनवरतहुताज्यगन्धिधूम - श्यामलितगगनमण्डलममरसरितो नातिदूरे विभात्याश्रममण्डलम् ।

पुनरन्यतो गत्वेति । त्रिदण्डव्यपदेशजीविनः = त्रिदण्डितायाश्छलेन जीविकार्जनसक्ताः, जीविकार्थमेव दण्डं धृतवन्तः, न तु वस्तुतो वैराग्यसम्पन्ना इत्यर्थः । द्वैताद्वैतमार्गपरिभ्रष्टाः = द्वैताद्वैतरूपं भास्करप्रवर्त्तितमतमवलम्बमाना एते द्वैताद्द्वैताच्चापि भ्रष्टाः, द्वैताद्वैतयोः परस्परविरुद्धत्वेन सामञ्जस्यासंभवादिति भावः ।

द्वारोपान्तेति । द्वारोपान्तेत्यादिः—द्वारस्य उपान्ते = निकटभूमौ पुरतः, निखातम् = रोपितम्, अतिप्रांशु = अत्युन्नतम्, वंशकाण्डम् = वंशस्तम्भः, तस्मिन् ताण्डवितम् = वायुवशाच्चलितम्, धौतम् = प्रक्षालितम्, सितम् = श्वेतं, सूक्ष्मं च = बहुमूल्यमित्यर्थः, अम्बरसहस्रम् = वस्त्रसहस्रं यत्र तत् । इतस्ततः = यत्र तत्र । विन्यस्तकृष्णाजिनेत्यादिः—विन्यस्तानि = स्थापितानि कृष्णाजिनानि = मृगचर्माणि, दृषत्, उपलम् = यज्ञोपयोगिप्रस्तरखण्डभेदावेतौ, समित् = काष्ठम्, चषालः = पात्रभेदः, उलूखलम् मुसलं च यत्र तत् । अनवरतेत्यादिः—अनवरतम्= सततम् हुतस्य आज्यस्य=घृतस्य, गन्धो यस्मिन् तादृशो यो धूमस्तेन श्यामलितम्= श्यामीकृतं, गगनमण्डलं यत्र तत् । अमरसरितः = गङ्गायाः । नातिदूरे = अतिनिकटे । विभाति = शोभते । आश्रममण्डलम्=मण्डलाकारमाश्रमपदमित्यर्थः ।

—(पुनः दूसरी ओर जाकर) (वैराग्यवश नहीं) जीविका के लिए ही त्रिदण्डी बने हुए (भास्करमतावलम्वी) ये द्वैत और अद्वैत दोनों से ही भ्रष्ट हैं (क्योंकि द्वैताद्वैतमत मानने पर तेज और तिमिर के समान परस्पर विरुद्ध द्वैत और अद्वैत में सामञ्जस्य असम्भव है) । (दूसरी ओर जाकर, देख कर) अरे ! गङ्गातट के समीप में ही यह किसका आश्रम मण्डल शोभायमान है जिसके द्वार के पास ही गड़े हुए ऊँचे ऊँचे बाँसों के खम्भों पर प्रक्षालित श्वेत सूक्ष्म हजारों वस्त्र हवा से फहर-फहर कर रहे हैं, जहाँ इधर-उधर मृगचर्म, दृपत् और उपल (यज्ञोपयोगी प्रस्तर खण्ड), समिधा, चषाल (पात्रविशेष) उलूखल और

नूनमिदं कस्यापि गृहमेधिनो गृहं भविष्यति। भवतु। युक्तमस्माकमतिपवित्रमेतद्द्वित्रिदिवसनिवासस्थानम्। (प्रवेशं नाटयति)। (विलोक्य च) अये,

मृद्बिन्दुलाञ्छितललाटभुजोदरोरः-
कण्ठोष्ठपृष्ठचिबुकोरुकपोलजानुः।
चूडाग्रकर्णकटिपाणिविराजमान-
दर्भाङ्कुरः स्फुरति मूर्त इवैष दम्भः॥ ६॥

भवतूपसर्पाम्येनम् (उपसृत्य) कल्याणं भवतु भवताम्।
(दम्भो हुंकारेण निवारयति)

नूनमिदमिति। नूनम् = अवश्यमेव। गृहमेधिनः=गृहस्थस्य। द्वित्रिदिवसनिवासस्थानम् = अस्थायिवासोपयोगि स्थानमित्यर्थः।

दम्भमजानन्नाह—मृद्बिन्दुलाञ्छितेति। मृद्बिन्दुलाञ्छितेत्यादिः—मृदुना = वालेन, इन्दुना = चन्द्रेण, वालचन्द्राकारचन्दनचिह्नेनेत्यर्थः, लाञ्छितानि = चिह्नितानि ललाटः, भुजः, उदरम्, उरः, कण्ठः, ओष्ठम्, पृष्ठम्, चिवुकम्, ऊरू, कपोलौ जानुनी च यस्य स तथोक्तः। ललाटाद्यङ्गेषु वालचन्द्राकृतिचन्दनचिह्नं धारयन्नित्यर्थः। चूडाग्रेत्यादिः—चूडाग्रे = शिरसि, कर्णयोः, कटौ = कटिप्रदेशे, पाण्योः = हस्तयोः, विराजमानः = शोभमानः, दर्भाङ्कुरः = प्रत्यग्रकुशो यस्य स तथोक्तः, मूर्तः = शरीरधारी, दम्भ इव, एषः = पुरो दृश्यमानो जनः, स्फुरति = दीप्यते, शोभत इत्यर्थः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ६॥

भवत्विति। उपसर्पामि=समीपं गच्छामि। हुंकारेण=सर्वेषां नमस्कार्यं महानुभावं मां प्रति कथमाशीर्वाद इति कुपितो दम्भः सकोपं निवारयत्यहङ्कारमित्यर्थः।

मुसल पड़े हुए हैं। अवश्य यह किसी गृहस्थ का घर होगा। अच्छा, यह अत्यन्त पवित्र, हमारे लिए दो तीन दिन तक ठहरने का निवास स्थान युक्त है। (प्रवेश का अभिनय करता है) (और देख कर) अरे!

ललाट, भुज, उदर, उर, कण्ठ, ओष्ठ, पृष्ठ, चिबुक, ऊरु, कपोल और जानु सभी अङ्गों में वालचन्द्राकार चन्दनचिह्न धारण किये हुए, शिर, कर्ण, कटि, हाथ में ताजा कुश लिये हुए यह मूर्त्तिमान् दम्भ-सा शोभित हो रहा है॥ ६॥

अच्छा, इसके समीप जाता हूँ। (समीप जाकर) आप का कल्याण हो।
(दम्भ हुङ्कार द्वारा रोकता है)

(प्रविशति वटुः)

वटुः—(ससंभ्रमम्) ब्रह्मन्, दूरत एव स्थीयताम्। यतः पादौ प्रक्षाल्य एतदाश्रमपदं प्रवेष्टव्यम्।

अहंकारः—(सक्रोधम्) आः पाप, तुरुष्कदेशं प्राप्ताः स्मः यत्र श्रोत्रियानतिथीनासनपाद्यादिभिरपि गृहिणो नोपतिष्ठन्ति।

दम्भः—(हस्तसंज्ञया समाश्वासयति)

वटुः—एवमाराध्यपादा आज्ञापयन्ति दूरदेशादागतस्यार्यस्य कुलशीलादिकं न सम्यगस्माकं विदितम्।

बटुरिति। वटुः = दम्भशिष्यः।

अहङ्कार इति। तुरुष्कदेशम् = यवनजनपदम्। श्रोत्रियान्=वेदाध्यायिनः। अतिथीन् = अभ्यागतान्। गृहिणः = गृहस्थाः। नोपतिष्ठन्ति = न सत्कुर्वन्ति। नूनं तुरुष्कदेशं वयं प्राप्ताः, यत्र गृहस्थाः अस्मादृशानतिथीन् आसनपाद्यादिभिरपि नार्चयन्तीति भावः।

दम्भ इति। हस्तसंज्ञया = हस्तसंकेतेन। समाश्वासयति—अभ्यागतमहङ्कारमिति भावः।

बटुरिति। आराध्यपादाः = मम गुरवो दम्भाः। आर्यस्तु दूरदेशादागत अज्ञातकुलशीलः। आर्यस्य कुलशीलादिकं विज्ञाय तदनन्तरमवश्यमेव सत्कारं करिष्यामि, क्रोधं मा गमदिति बटूक्तेराशयः।

(वटु का प्रवेश)

बटु—(घबराहट के साथ) महाराज, दूर ही रहिए, क्योंकि पाँव धोकर ही इस आश्रम में प्रवेश का नियम है।

अहङ्कार—(क्रोधपूर्वक) आः पापिन्! क्या तुर्कों के देश में हम पहुँच गये हैं, जहाँ वेदाध्यायी अतिथियों का आसन-पाद्यादि से भी गृहस्थ सत्कार नहीं करते हैं।

दम्भ—(हाथ के संकेत से समाश्वस्त करता है)

वटु—गुरुदेव जता रहे हैं कि दूर देश से आये हुए आप का कुल-शील आदि हम लोग भले प्रकार नहीं जान पाये हैं।

अहंकारः—आः कथमस्माकमपि कुलशीलादिकमिदानीं परीक्षितव्यम् । श्रूयताम्—

गौडं राष्ट्रमनुत्तमं निरुपमा तत्रापि राढापुरी
भूरिश्रेष्ठकनाम धाम परमं तत्रोत्तमो नः पिता ।
तत्पुत्राश्च महाकुला न विदिताः कस्यात्र तेषामपि
प्रज्ञाशीलविवेकधैर्यविनयाचारैरहं चोत्तमः ॥ ७ ॥

(दम्भो वटुं पश्यति)

बटुः—(ताम्रघटीं गृहीत्वा) भगवन, पादशौचं विधीयताम् ।

अहङ्कारः स्वकुलादिकं विज्ञापयति—गौडमित्यादिना । अनुत्तमम्=न उत्तमं विद्यते यस्मात् तदनुत्तमं सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः, गौडम् राष्ट्रम् = देशः । तत्रापि = तस्मिन् गौडेऽपि, निरुपमा = अनुपमा राढापुरी = राढा इति नाम्ना प्रसिद्धा पुरी= नगरी । तत्र = राढापुर्याम्, भूरिश्रेष्ठकनाम—भूरिश्रेष्ठकं नाम यस्य तत्, धाम = गृहम्, अस्तीति शेषः । तत्र = धामनि, उत्तमः = सर्वश्रेष्ठः, उत्तमनामा वा, नः = अस्माकम्, पिता = जनकः । तत्पुत्राश्च—तस्य = मम पितुः पुत्राः = सुताः, महाकुलाः—महत् कुलं येषां ते, सद्वंशजाता इत्यर्थः, अत्र=वाराणस्याम्, कस्य न विदिताः—अपि तु सर्वस्यैव विदिता इत्यर्थः । तेषाम् = पुत्राणां मध्येऽपि च, प्रज्ञाशीलविवेकधैर्यविनयाचारैः, अहम् = अहङ्कारः, उत्तमः = श्रेष्ठः अस्मीति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

दम्भ इति । दम्भो वटुं पश्यति—अहङ्कारः स्वपादप्रक्षालनाय त्वयाऽऽज्ञापनीय इत्याशयेनेति भावः ।

बटुरिति । पादशौचं विधीयताम् = चरणप्रक्षालनं क्रियताम् ।

अहङ्कार—आः, क्या हमारे भी कुलशीलादि की परीक्षा होगी ? सुन लें—

गौड एक सर्वश्रेष्ठ देश है, उसमें अनुपम राढा नाम की नगरी है । उसमें उत्कृष्ट भूरिश्रेष्ठक नामक घर है जिसमें हमारे उत्तम पिता रहते हैं । उनके सद्वंशप्रसूत पुत्र संसार में किसे विदित नहीं हैं । उनमें भी प्रज्ञा, शील, विवेक, धैर्य और विनय आदि आचारों से मैं उत्तम हूँ ॥ ७ ॥

(दम्भ बटु को देखता है)

बटु—(ताम्रघट लेकर) भगवन् ! चरण धोएँ ।

अहंकारः—(स्वगतम्) भवतु । कोऽत्र विरोधः। एवं क्रियते । (तथा कृत्वोपसर्पति)

दम्भः—(दन्तान् संपीड्य बटुं पश्यति)

वटुः—दूरे तावत्स्थीयताम् । वाताहताः प्रस्वेदकणिकाः प्रसरन्ति ।

अहंकारः—अहो, अपूर्वमिदं ब्राह्मण्यम् ।

वटुः—ब्रह्मन्, एवमेतत । तथाहि—

अस्पृष्टचरणा ह्यस्य चूडामणिमरीचिभिः ।

अहङ्कार इति । अत्र = पादशौचे । कः विरोधः = का विप्रतिपत्तिः ।

दम्भ इति । दन्तान् संपीड्य = सक्रोधमित्यर्थः, वटुं पश्यति—निवारयाभ्यागतमत्रागमनादित्याशयेनेति भावः ।

वटुरिति । वाताहताः = वायुप्रचलिताः । प्रस्वेदकणिकाः = तव शरीरस्थजलविन्दवः । प्रसरन्ति–तत्र सर्वत्र व्याप्नुवन्ति ।

अहङ्कार इति । अहो, ब्राह्मण्यम् = ब्राह्मणाचारः । अपूर्वम्, अतिशयिताडम्बरयुक्तत्वेनोपहास्यमित्यर्थः ।

अस्पृष्टचरणा इति । अस्पृष्टचरणाः–न स्पृष्टौ चरणौ यैस्ते, चरणस्पर्शं साक्षादकुर्वन्त इत्यर्थः, हि = निश्चयेन, भूपालाः = राजानः, अस्य = मद्गुरोर्दम्भस्य पादपीठान्तभूतलम् = पादपीठसमीपभूतलमेव, चूडामणिमरीचिभिः =

अहङ्कार—(मन ही मन) अच्छा । इसमें क्या विरोध ? ऐसा कर लेता हूँ ।

(पैर धोकर समीप जाता है)

दम्भ—(दांत पीस कर वटु को देखता है)

वटु—महाराज, जरा दूर ही रहिए । हवा के लगने से उसके साथ (आप के) पसीने की बूदें चारों ओर फैल रही हैं ।

अहङ्कार—यह आश्चर्यजनक अपूर्व ब्राह्मणत्व है ।

वटु—महाराज–ऐसी ही बात है । क्योंकि—

इनके चरणों का स्पर्श न करते हुए राजा लोग चूडामणि की किरणों से

नीराजयन्ति भूपालाः पादपीठान्तभूतलम् ॥ ८ ॥

अहंकारः—(स्वगतम्) अये, दम्भग्राह्योऽयं देशः । (प्रकाशम्) भवतु अस्मिन्नासने उपविशामि । (तथा कर्तुमिच्छति)

वटुः—मैवम् । नाराध्यपादानामन्यैरासनमाक्रम्यते ।

अहंकारः—आः पाप, अस्माभिरपि दक्षिणराढाप्रदेशप्रसिद्धविशुद्धिभिर्नाक्रमणीयमिदमासनम् । शृणु रे मूर्ख,

नास्माकं जननी तथोज्ज्वलकुला सच्छोत्रियाणां पुन-
र्व्यूढा काचन कन्यका खलु मया तेनास्मि ताताधिकः ।

मुकुटमणिकिरणैः, नीराजयन्ति = आरात्रिक्यक्रिययार्चयन्ति । दम्भस्य दर्शनार्थमागता राजानोऽपि साक्षाच्चरणस्पर्शं कर्तुं नोत्सहन्ते । ते पादपीठसमीपभूतल एव शिरोऽवस्थाप्य नमस्कुर्वन्तो मुकुटमणिकिरणैस्तत्स्थानं नीराजयन्तीत्यर्थः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ८ ॥

अहङ्कार इति । दम्भग्राह्यः-दम्भेन = मिथ्याडम्बरेण, ग्राह्यः = वशं नेयः ।

वटुरिति । आराध्यपादानाम् = गुरूणाम् । आक्रम्यते = उपविश्यते ।

अहङ्कार इति । दक्षिणेत्यादिः—दक्षिणराढाप्रदेशे प्रसिद्धा = विख्याता विशुद्धिः = पवित्रभावो येषां तैः । इदम् = दम्भसम्बन्धि ।

नास्माकमिति । अस्माकं जननी न तथा उज्ज्वलकुला = उत्कृष्टवंशसम्भूता मया पुनः सच्छ्रोत्रियाणाम् साधुवेदाध्यायिनाम् काचन कन्या व्यूढा = परिणीता, तेन = सच्छ्रोत्रियकन्यापरिणयकृतगौरवेण ताताधिकः = पितुरप्युत्कृष्टः अस्मि ।

इनके पादपीठ के समीपवर्ती भूतल को ही उद्दीप्त करते हैं ॥ ८ ॥

अहङ्कार—(मन ही मन) अरे, यह देश दम्भ से जकड़ा हुआ है। प्रकट रूप में) अच्छा, इस आसन पर बैठता हूँ। (वैसा करना चाहता है)

वटु—ऐसा मत कीजिए । गुरुदेव के आसन पर अन्य लोग नहीं बैठते हैं ।

अहङ्कार—आः पापिन् ! क्या दक्षिण राढा देश में प्रसिद्ध पवित्रता वाले हम भी इस आसन पर नहीं बैठने योग्य हैं ? सुन रे मूर्ख,

हमारी माता (भी) वैसे उच्च कुल की नहीं । मैंने श्रेष्ठ श्रोत्रिय की एक कन्या से व्याह किया है । इस दृष्टि से पिता से (भी) बड़ा हूँ । हमारे साले

अस्मच्छ्यालकभागिनेयदुहिता मिथ्याभिशप्ता यत-
स्तत्संपर्कवशान्मया स्वगृहिणी प्रेयस्यपि प्रोज्झिता ॥ ६ ॥

दम्भः—ब्रह्मन्, यद्यप्येवं तथाप्यस्माकमविदितवृत्तान्तो भवान्। तथाहि—

सदनमुपगतोऽहं पूर्वमम्भोजयोनेः
सपदि मुनिभिरुच्चैरासनेषूज्झितेषु ।

यश्चोज्ज्वलकुला कन्या मया व्यूढा तथा मम मातोज्ज्वलकुला नास्ति तेन कारणेनाहं पितरमप्यतिशये इति भावः। आचारातिशयं दर्शयति—अस्मच्छ्यालकभागिनेयदुहिता—अस्माकं यः श्यालक =पत्नीभ्राता, तस्य यो भागिनेयः= भगिनीपुत्रः, तस्य दुहिता = कन्या, यतः = यस्माद्धेतोः मिथ्याभिशप्ता = मिथ्यादुराचारत्वेन खलैः प्रख्यापिता, तत्सम्पर्कवशात् = तत्कृतपरम्परासम्बन्धवशात्, मया, प्रेयसी = प्रियतराऽपि, स्वगृहिणी = स्वपत्नी, प्रोज्झिता = परित्यक्ता। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

दम्भ इति। एवम् = भवदुक्तं सत्यम्। अविदितवृत्तान्तः—न विदितः = न ज्ञातः, वृत्तान्तः = कुलशीलादिविषयकसमाचारो यस्य स तथोक्तः। यद्यपि भवता सत्यमुच्यते तथापि न जानाम्यहं भवत्कुलशीलादिकम्, तत्कथं स्वासने भवन्तमुपवेशयामीति भावः।

दम्भः स्वोच्चतां विज्ञापयन्नाह—सदनमिति। अहम् = दम्भः, पूर्वम्, अम्भोजयोनेः—अम्भोजम् = विष्णुनाभिकमलम्, योनिः = उत्पत्तिस्थानं यस्य स अम्भोजयोनिः = कमलजन्मा ब्रह्मेत्यर्थः, तस्य सदनम् = ब्रह्मलोकम्, उपगतः = प्राप्तः। सपदि = ममोपगमनक्षण एव, उच्चैः = महद्भिः, मुनिभिः, मदादरार्थम्, आसनेषु उज्झितेषु = त्यक्तेषु. मामागतं दृष्ट्वा मत्समादरार्थं सर्वेषु मुनिषु स्वास-

के भानजे की लड़की को सर्वथा मिथ्या कलङ्क लग गया, केवल उस परम्परा-सम्बन्धवश मैंने प्यारी भी पत्नी को त्याग दिया। (यह है हमारी उच्चता और पवित्रता) ॥ ६ ॥

दम्भ—महाराज ! यद्यपि आप का कहना ठीक है, तथापि हमारे लिए तो आप अविदितवृत्तान्त ही है। देखिए—

कुछ दिन पूर्व मैं कमलयोनि (ब्रह्मा) के घर (ब्रह्मलोक) गया था। मेरे

सशपथमनुनीय ब्रह्मणा गोमयाम्भः-
परिमृजितनिजोरावाशु संवेशितोऽस्मि ॥ १० ॥

अहंकारः—(स्वगतम्) अहो, दाम्भिकस्य ब्राह्मणस्यात्युक्तिः । (विचिन्त्य) अथवा दम्भोऽयम् । भवत्वेवं यावत् । (प्रकाशम्) आः, किमेवं गर्वायसे । (सक्रोधम्)

अरे क इव वासवः कथय कोऽत्र पद्मोद्भवो

नेभ्य उत्थितेष्वित्यर्थः । ब्रह्मणा, गोमयाम्भःपरिमृजितनिजोरौ—गोमयेन, अम्भसा = जलेन च परिमृजिते = पवित्रीकृते, निजोरौ = स्वोरुप्रदेशे, सशपथम् = शपथपूर्वकम्, बलादित्यर्थः, अनुनीय = अनुनयं कृत्वा, आशु = शीघ्रम्, संवेशितः अस्मि = स्थापितोऽस्मि । पूर्वमहं ब्रह्मलोकं गतः । मामागतं दृष्ट्वा महामुनयः स्वासनेभ्य उत्थाय मम सत्कारमकुर्वन् । ब्रह्मा च स्वोरुदेशं स्वतः पवित्रमपि मदुपवेशनायोग्यं विचार्य गोमयेन जलेन च प्रक्षाल्य तत्र शपथपूर्वकमनुनयं च कृत्वा मां सादरं समुपावेशयदिति सरलार्थः । मालिनी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ १० ॥

अहङ्कार इति । दाम्भिकस्य = आडम्बरप्रियस्य । गर्वायसे = गर्ववानिवाचरसि, गर्ववच्छब्दात् 'कर्तुः क्यङ्सलोपश्च' इति क्यङ् । 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक् ।

अरे क एवेति । अरे इति नीचसंबोधने । वासवः = इन्द्रः, क इव = न कोऽपीत्यर्थः, अहल्यागामित्वादिति भावः । अत्र = गौरवतारतम्ये, पद्मोद्भवः = ब्रह्मा, कः = कतमः कथय = वद । येन ब्रह्मणा संभावितस्त्वं गर्वमनुभवसि,

---

पहुँचते ही तत्काल (मेरे आदर में) बड़े-बड़े मुनियों के द्वारा अपने-अपने आसन त्याग दिये जाने पर ब्रह्मा ने शपथ देकर अनुनयपूर्वक, जल और गोबर से पवित्र की गयी अपनी जाँघ पर बैठाया ॥ १० ॥

अहङ्कार—(मन ही मन) दाम्भिक ब्राह्मण की अत्युक्ति आश्चर्य जनक है । (सोचकर) अथवा यह दम्भ है । अस्तु । (प्रकट रूप में) आः, क्यों ऐसा गर्वीले बन रहे हो ? । (क्रोध से) कहो तो, इन्द्र कौन है ? मेरी तुलना में ब्रह्मा कौन है ? कहो तो संसार में मुनियों की उत्पत्ति कैसे हुई है ? (अर्थात्

वद प्रभवभूमयो जगति का मुनीनामपि ।
अवेहि तपसो बलं मम पुरन्दराणां शतं
शतं च परमेष्ठिनां पततु वा मुनीनां शतम् ॥ ११ ॥

दम्भः—(विलोक्य । सानन्दम्) अये, आर्यः पितामहोऽस्माकमहङ्कारः । आर्य, दम्भो लोभात्मजोऽहं भो अभिवादये ।

अहंकारः—वत्स, आयुष्मान्भव । बालः खल्वसि मया द्वापरान्ते

सोऽपि ब्रह्मा को नु वद, स्वकन्यागामित्वादिति भावः । मुनीनाम् = व्यासादीनाम्, जगति प्रभवभूमयः = उत्पत्तिस्थानानि, काः = कानि, इति वद = कथय । अनेन व्यासस्य धीवरकन्यागर्भसम्भूतत्वम्, अगस्त्यस्य घटयोनित्वम्, ऋष्यशृङ्गस्य हरिण्या जन्मेति ध्वनितम् । मम तपसः बलम् = सामर्थ्यम्, अवेहि = जानीहि, पुरन्दराणां शतम् = इन्द्राणां शतम्, परमेष्ठिनां शतं च = ब्रह्मणां शतं च, मुनीनां शतं वा पततु । मत्तपःसामर्थ्यस्य पुरतः का कथाऽसंख्यकानामिन्द्राणां, ब्रह्मणां मुनीनां वा ? अहं तादृशानामसङ्ख्याकानामिन्द्रादीनां निर्माणे तेषां स्थानेभ्यः पातने वा समर्थ इति मम पुरस्त्वं किमेवं गर्वायस इति भावः । पृथिवी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति ॥ ११ ॥

दम्भ इति । आर्यः पूज्यः । पितामहः = पितुः पिता । लोभात्मजः = लोभपुत्रः, लोभमूल इत्यर्थः ।

अहङ्कार इति । बालः = अप्रौढः, अल्पप्रचार इत्यर्थः । द्वापरान्ते = कलियुगादौ । चिरकालविप्रकर्षात् = बहुकालव्यवधानात् । वार्धक्यग्रस्ततया = जरा-

---

कोई धीवर कन्या से पैदा हुआ, कोई घड़े से तो कोई हरिणी आदि-आदि) मेरा तप बल समझो जिसके सामने सैकड़ों इन्द्र, ब्रह्मा और मुनियों को झुकना पड़े ॥ ११ ॥

दम्भ—(देखकर, प्रसन्नता पूर्वक) अरे, यह तो हमारे पितामह आर्य अहङ्कार हैं । भो आर्य ! मैं लोभ का पुत्र दम्भ अभिवादन करता हूँ ।

अहङ्कार—वत्स ! दीर्घायु हो । मैंने द्वापर के अन्त में तुम्हें देखा था

दृष्टः। संप्रति चिरकालविप्रकर्षाद्वार्धक्यग्रस्ततया च न सम्यक्प्रत्यभिजानामि। अपि त्वत्कुमारस्यानृतस्य कुशलम्?

दम्भः– अथ किम्? सोऽप्यत्रैव महामोहस्याज्ञया वर्तते। न हि तेन विना मुहूर्तमप्यहं प्रभवामि।

अहंकारः—अथ तव मातापितरौ तृष्णालोभावपि कुशलौ?

दम्भः–तावपि राज्ञो महामोहस्याज्ञयाऽत्रैव वर्तेते। तयोर्विना क्षणमपि न तिष्ठामि। आर्यमिश्रैः पुनः केन प्रयोजनेनात्र प्रसादः कृतः।

गृहीततया च। न सम्यक् प्रत्यभिजानामि = न परिचिनोमि। त्वत्कुमारस्य = तव पुत्रस्य, अनृतस्य = असत्यस्य। दम्भोऽनृतस्य पिता तज्जकत्वादिति बोध्यम्।

दम्भ इति। अथ किम् इति सर्वथाङ्गीकारे। तेन विना = अनृतेन विना। प्रभवामि = प्रभुत्वं स्थापयितुं शक्नोमि।

अहङ्कार इति। मातापितरौ = माता च पिता च। तृष्णालोभौ—तृष्णा = यावदीप्सितद्रव्यप्राप्तावपि ततोऽप्यधिकद्रव्याकाङ्क्षा, लोभः = स्वद्रव्यापरित्यागपूर्वं परद्रव्यजिघृक्षा। एवं तृष्णाया लोभस्यार्धशरीरत्वात् पत्नीत्वव्यपदेशः। कुशलौ = कुशलिनावित्यर्थः। अत्र कुशलशब्दात् 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्।

दम्भ इति। तौ = तृष्णालोभौ। तयोः = पित्रोः, तृष्णालोभयोः, अत्र विनापदयोगे षष्ठी चिन्त्या। आर्यमिश्रैः = पूज्यैः, भवद्भिः, पूजायां बहुवचनम्। प्रसादः = स्वागमनेनानुग्रहः। भवान् किं प्रयोजनमुद्दिश्यात्र समागत इति भावः।

जब तुम बच्चे थे। इस समय बहुत दिन हो जाने और बूढ़े हो जाने के कारण ठीक से तुम्हें पहिचान नहीं पाया। तुम्हारा पुत्र अनृत कुशल से तो है?

दम्भ—और क्या? वह भी महामोह की आज्ञा से यहीं है। उसके बिना एक क्षण भी मेरा प्रभुत्व नहीं रहता है।

अहङ्कार—तुम्हारे माता-पिता तृष्णा और लोभ भी कुशल से हैं?

दम्भ—वे दोनों भी राजा महामोह की आज्ञा से यहीं पर हैं। उनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता हूँ। आप ने किस प्रयोजन से यहाँ आने की कृपा की?

अहंकारः—वत्स, मया महामोहस्य विवेकसकाशादत्याहितं श्रुतम्। तेन तद्वृत्तान्तं प्रत्येतुमागतोऽस्मि।

दम्भः—स्वागतमेवार्यस्य। यतो महाराजस्यापीन्द्रलोकादत्रागमनं श्रूयते। अस्ति च किंवदन्ती यद्देवेन वाराणसी राजधानी वस्तुं निरूपितेति।

अहंकारः—पुनः किं वाराणस्यां सर्वात्मना मोहस्यावस्थानकारणमिति।

दम्भः—आर्य, ननु विवेकोपरोध एव। तथाहि—

विद्याप्रबोधोदयजन्मभूमिर्वाराणसी ब्रह्मपुरी निरत्यया।

अहङ्कार इति। अत्याहितम् = अत्यनिष्टम्। तद्वृत्तान्तम् = तस्य = महामोहस्य, वृत्तान्तम् = समाचारम्। प्रत्येतुम् = ज्ञातुम्।

दम्भ इति। स्वागतमेवार्यस्य—स्वागतम् = सुष्ठु आगमनम्। आर्यस्य = पूज्यस्य, कर्तरि षष्ठी। महाराजस्य = महामोहस्य। निरूपिता = विचारिता।

अहङ्कार इति। सर्वात्मना = सर्वथा। अवस्थानकारणम् = आवासहेतुः।

दम्भ इति। विवेकोपरोधः = विवेकस्य शत्रोः, उपरोधः = निरोधनम्।

विद्याप्रबोधोदयेति। विद्याप्रबोधोदयजन्मभूमिः—विद्या = ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिः, प्रबोधः = तद्वृत्त्युपहितं चैतन्यम्, तयोरुदयः तस्य जन्मभूमिः = उत्पत्तिस्थानम्, निरत्यया = अविनाशा, ब्रह्मपुरी = शिवनगरी, वाराणसी अस्ति। ब्रह्मपुरीतिशब्दे ब्रह्मशब्दः शिवपरः। उक्तं च—'ब्रह्म ज्ञानं प्रधानं च

अहङ्कार—वत्स मैंने सुना कि महामोह को विवेक से बहुत बड़ा खतरा उपस्थित हो गया है, उसी को ठीक से जानने के लिए आया हूँ।

दम्भ—आप का आना अच्छा ही हुआ, क्योंकि महाराज का भी इन्द्रलोक से यहाँ आगमन हो रहा है, ऐसा सुनने में आया है। और अफवाह है कि महाराज ने काशी को ही अपने रहने के लिए राजधानी निश्चित की है।

अहङ्कार—काशी में ही मोह के सर्वथा रहने में कारण क्या है?

दम्भ—आर्य, निश्चित है कि विवेक को रोकना ही (कारण है) क्योंकि—

विद्या और विवेक के उदय की जन्मभूमि शिवपुरी अविनाशा काशी है अतः वह (विवेक) अपने कुल के उच्छेद की इच्छा से यहीं नित्य निवास

असौ कुलोच्छेदविधिं चिकीर्षुर्निवस्तुमत्रेच्छति नित्यमेव ॥ १२ ॥

अहंकारः—(सभयम्) यद्यप्येवमशक्यप्रतीकार एवायमर्थः । यतः–

परमविदुषां पदं नराणां
पुरविजयी करुणाविधेयचेताः ।

क्षेत्रज्ञोङ्कारबुद्धयः । मोक्षो हिरण्यगर्भश्च मन्त्रो वेदः शिवस्तथा॥' इति । कुलोच्छेदविधिम् = मायिकवंशविनाशेतिकर्त्तव्यतां विधित्सुः = कर्तुमिच्छुः, असौ = विवेकः, अत्र = वाराणस्यामेव, नित्यमेव = सततम्, निवस्तुम् = नितरां वासं कर्तुम् । इच्छति । वाञ्छति ।

वाराणसी विद्याप्रबोधोदयजन्मभूमिः, निद्राप्रलयकालेऽप्यविनाशा, शिवनगरीति प्रसिद्धा, अतो हेतोर्विवेकोऽत्र सार्वदिकं निवासं कर्तुमिच्छति । तस्यात्रनिवासात् प्रबोधोदयोऽवश्यमेव भविष्यति येनास्माकं वंशविनाशोऽनिवार्य इति विवेकोपरोधाय ततः पूर्वमेव महाराजो महामोहोऽत्रागत्य वासं विरचयितुमिच्छतीति भावः । उपजातिर्वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा – 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः । इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम इति ॥ १२ ॥

अहङ्कार इति । यद्यप्येवमित्यर्धाङ्गीकारे । अशक्यप्रतीकारः = न शक्यः प्रतीकारो यस्य स तथोक्तः । महामोहो यथेच्छं चेष्टां करोतु परं विद्याप्रबोधोदयोऽत्र वाराणस्यां भविष्यत्येव, न कोऽपि तन्निवारयितुं समर्थ इति भावः ।

तदेवाह– परममविदुषामिति । इह = काश्याम्, करुणाविधेयचेताः—करुणायाः, विधेयम् = अधीनम्, चेतः = चित्तं यस्य तादृशः, परमकारुणिक इत्यर्थः, भगवान् = षडैश्वर्यसम्पन्नः, पुरविजयी = श्रीमहादेवः, परमं पदम् = ब्रह्मस्वरूपम्, अविदुषाम् = अजानताम्, नराणाम्, अत्र नरशब्दो जन्तुमात्रपरः ।

करना चाहता है (इसीलिए उससे पहिले यहाँ अपना अड्डा जमा लेना महाराज महामोह के लिए अनिवार्य हो गया है) ॥ १२ ॥

अहङ्कार—(भयपूर्वक) यद्यपि इस प्रकार से इसका प्रतीकार हो नहीं सकता । क्योंकि—

परम कारुणिक शिव जी, परम तत्त्व को न जानने वालों को भी मरने

कथयति भगवानिहान्तकाले
भवभयकातरतारकं प्रबोधम् ॥ १३ ॥

दम्भः– सत्यमेतत्तथापि नैतत्कामक्रोधाभिभूतानां सम्भाव्यते। तथा ह्युदाहरन्ति तैर्थिकाः—

'यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।

अन्तकाले = प्राणप्रयाणसमये, भवभयकातरतारकम्–भवः = संसारस्तस्माद् यद् भयम् = भीतिः, जन्ममरणभीतिरित्यर्थः, तेन कातराः = भीतास्तेषां तारकम् = तरणहेतुम्, प्रबोधम्–प्रबुध्यतेऽनेन ब्रह्मस्वरूपमिति प्रबोधस्तम्, कथयति = उपदिशति। अत्र काश्यां परमकारुणिको भगवान् महादेवो ब्रह्मज्ञानरहितेभ्योऽपि प्राणिभ्यस्तन्मुमूर्षावस्थायां मुक्तिप्रदं तारकमन्त्रमुपदिशति येन ते सद्य एव जन्ममरणरहिता मुक्ता भवन्तीति भावः। तथा च श्रीरामवाक्यम्—'मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि तं मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव॥' इति। स्मृतिरपि–'मुमूर्षोर्मणिकर्ण्यन्तरर्धोदकनिवासिनः। अहं दिशामि ते मन्त्रं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।' इति। पुष्पिताग्रा वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा–'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥' इति॥ १३॥

दम्भ इति। सत्यमेतत् = सर्वे काशीवासिनोऽन्तकाले भगवता शिवेन तारकमन्त्रोपदेशतो मुक्ता भवन्तीति यद्यपि सत्यम्। तथापि नैतत् कामक्रोधाभिभूतानां सम्भाव्यते = तथापि भगवान् कामक्रोधाद्युपहितचित्तानां सर्वसाधारण्येनोपदेशं करोतीत्येतन्न संभाव्यते। उदाहरन्ति = कथयन्ति। तैर्थिकाः = धार्मिकसिद्धान्तप्रतिपादका विद्वांसः।

तदेवाह– यस्येति। यस्य = जनस्य, पादौ = चरणौ, सुसंयतौ = निषिद्धसञ्चारपराङ्मुखौ। सुसंयतशब्दस्य विभक्तिलिङ्गयोर्विपरिणामेन सर्वत्रान्वयः कर्त्तव्यः। हस्तौ च सुसंयतौ = अप्रतिग्रहौ। मनश्चैव सुसंयतम् = निषिद्धकामना-

---

के समय संसार के जन्ममरण रूप भय से छुटकारा देने वाले तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं॥ १३॥

यह सत्य है, तथापि काम और क्रोध से अभिभूत लोगों के विषय में ऐसा संभव नहीं है। ऐसा शास्त्रकार कहते हैं—

'जिसके हाथ, पाँव, मन, विद्या, तप तथा उपस्थ इन्द्रिय ये सब संयत हैं

विद्या तपश्च तीर्थं च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १४ ॥' इति ।

(नेपथ्ये) भो भोः पौराः, एष खलु संप्राप्तो देवो महामोहः ।

निष्यन्दैश्चन्दनानां स्फटिकमणिशिलावेदिकाः संस्क्रियन्तां
मुच्यन्तां यन्त्रमार्गाः प्रचरतु परितो वारिधारा गृहेषु ।
उच्छ्रीयन्तां समन्तात्स्फुरदुरुमणयः श्रेण्यस्तोरणानां
धूयन्तां सौधमूर्धस्वमरपतिधनुर्धामचित्राः पताकाः ॥ १५ ॥

निवृत्तम्, विद्या सुसंयता = परप्रतारणादिविमुखी, तपश्च सुसंयतम् = दम्भादिभिरसंस्पृष्टम्, तीर्थम् = योनिः, उपस्थेन्द्रियम् । सुसंयतम् = अनिषिद्धगामि । सः = जनः । तीर्थफलम् = काशीरूपतीर्थलभ्यमोचरूपफलम्, अश्नुते = प्राप्नोति । सामान्यतः काशीक्षेत्रे मृतानां मोक्षमुपदिशतां शास्त्राणामनेन विशेषशास्त्रेणैकार्थ्यात् काश्यां संयतेन्द्रियाणामेव मोक्षप्राप्तिर्नान्येषाम् । उक्तश्चायमर्थो विस्तारेण काशीखण्ड-उत्तरभागे पण्णवतितमेऽध्याये तत्रैव द्रष्टव्यः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १४ ॥

निष्यन्दैरिति । चन्दनानाम् निष्यन्दैः = सेकैः, स्फटिकमणिशिलावेदिकाः= स्फटिकमणिविरचितचत्वराणि, संस्क्रियन्ताम् = परिष्क्रियन्ताम् । यन्त्रमार्गाः = जलयन्त्रद्वाराणि, मुच्यन्ताम् = उद्घाट्यन्ताम् । गृहेषु, वारिधारा = परिष्कारमात्रनायापेक्ष्यमाणा जलधारा, परितः = इतस्ततः, प्रचरतु = प्रसरतु । स्फुरदुरुमणयः-स्फुरन्तः = दीप्यमानाः, उरवः, = स्थूलाः, मणयो यासु तादृश्यः, तोरणानाम् श्रेणयः, समन्तात् = चतुर्दिक्षु, उच्छ्रीयन्ताम् = उच्चैर्बध्यन्ताम् । सौधमूर्धसु = प्रासादशिखरेषु, अमरपतिधनुर्धामचित्राः—अमरपतेः = इन्द्रस्य यद् धनुः, तस्य धाम = प्रभा, तद्वत् चित्राः = विचित्राः, नानारूपाः, पताकाः = ध्वजाः, धूयन्ताम् = कम्पमानभावं प्राप्यन्ताम् । स्रग्धरा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् । इति ॥ १५ ॥

वही तीर्थफल प्राप्त करता है ॥ १४ ॥'

(नेपथ्य में) अरे नागरिको ! यह महाराज महामोह पहुँच चुके हैं, इस लिए स्फटिकमणिरचित वेदिकाएँ चन्दन रस से सींच कर संस्कृत की जाएँ । फव्वारे खोल दिये जाँय । घरों में (परिष्कार के लिए अपेक्षित) जल भर दिये जाँय । चमकीली बड़ी-बड़ी मणियों से युक्त तोरण चारों ओर बाँध दिये जाँय । प्रासाद शिखरों पर इन्द्रधनुष के समान चित्र विचित्र वर्ण की पताकाएँ फहरा दी जाँय ॥ १५ ॥

दम्भः—आर्य, प्रत्यासन्नोऽयं महाराजः। तत्प्रत्युद्गमनेन संभाव्यतामार्येण।

अहंकारः—एवं भवतु। (निष्क्रान्तौ)

(प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति महामोहो विभवतश्च परिवारः)

महामोहः—(विहस्य) अहो, निरङ्कुशा जडधियः।

आत्मास्ति देहव्यतिरिक्तमूर्तिर्भोक्ता स लोकान्तरितः फलानाम्।

दम्भ इति। प्रत्यासन्नः = समीपमागतः। तत् = तस्मात्कारणात्, अतिनिकटवर्तित्वादिति भावः। प्रत्युद्गमनेन=संमुखगमनेन। संभाव्यताम्=आद्रियताम्।

प्रवेशक इति। निरूपित इति शेषः। प्रवेशकलक्षणं यथा—'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा'॥ इति साहित्यदर्पणकारः। यद्यपि दम्भाहङ्कारयोर्नीचपात्रत्वेन प्राकृतभाषयैव भवितव्यम् तथापि तयोर्दूषकत्वेनैव नीचत्वं न तु जात्या, अतः 'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः' इति वचनात् संस्कृतभाषाश्रयणं बोध्यम्।

ततः प्रविशतीति। विभवतः = स्वसामर्थ्येन। परिवारः = सेवकवर्गः।

महामोह इति। निरङ्कुशाः—कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषये स्वतन्त्राः। जडधियः = मूर्खाः।

तदेव निरङ्कुशत्वं प्रतिपादयति लोकायतिकमतेन—आत्मेति। देहव्यतिरिक्तमूर्तिः = शरीरभिन्नः, आत्माऽस्ति, सः = आत्मा च, लोकान्तरितः = स्वर्गं गतः, फलानाम् = इहजन्मनि कृतकर्मपरिणामानां, भोक्ता अस्ति, इयम् आशा=एतादृशी

दम्भ—आर्य, महाराज समीप आ गये हैं। इसलिए आप अगवानी से उनका सत्कार करें।

अहङ्कार—अच्छी बात है। (दोनों निकल गये)

(प्रवेशक समाप्त)

(तदनन्तर महामोह और सजधज के साथ सेवक वर्ग का प्रवेश)

महामोह—(जोर से हंसकर) आश्चर्य है, ये मूर्ख कितने निरङ्कुश हैं! देह से भिन्न स्वरूप आत्मा है। वह लोकान्तर में जाकर फलों का भोग

आशेयमाकाशतरोः प्रसूनात्प्रथीयसः स्वादुफलप्रसूतौ ॥ १६ ॥

इदं च स्वकल्पनाविनिर्मितपदार्थावष्टम्भेन जगदेवं दुर्विदग्धैर्व-ञ्च्यते। तथाहि—

यन्नास्त्येव तदस्ति वस्त्विति मृषा जल्पद्भिरेवास्तिकै-
वाचालैर्बहुभिस्तु सत्यवचसो निन्द्याः कृता नास्तिकाः।

श्रद्धा, प्रथीयसः = व्यापकस्य, आकाशतरोः = आकाशवृक्षस्य, प्रसूनात् = पुष्पात्, स्वादुफलप्रसूतौ = स्वादुफलोत्पत्तौ आशा।

आत्मा देहव्यतिरिक्तोऽस्ति, स च स्वर्गं गतः इह जन्मनि कृतकर्मणां फलानि भुङ्क्ते इति बुद्धिस्तथा, यथा कश्चिदत्यन्तासतो गगनतरोः कुसुमात् फलोदय-विषयामाशां कुर्यादिति भावः। निदर्शनालङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित्। यत्र विम्वानुविम्वत्वं वोधयेत् सा निदर्शना।' इति। प्रथमपादत्रयस्येन्द्रवज्रासम्वन्धितया चतुर्थपादस्योपेन्द्रवज्रा-सम्वन्धितया च तयोः संवलनादुपजातिर्वृत्तम् ॥ १६ ॥

इदं चेति। स्वकल्पनाविनिर्मितपदार्थविष्टम्भेन—स्वकल्पनया परमार्थ-विचारणा-भिन्नयेति भावः, विनिर्मिताः पदार्थाः, पूर्वोक्तरूपपदार्थास्तेषामवष्टम्भेन अङ्गीकारेण, दुर्विदग्धैः = धूर्तैः वैशेषिकादिभिरित्यर्थः, एवम् = अनेन प्रकारेण जगत् वञ्च्यते = प्रतार्यते।

यन्नास्त्येवेति। यद् वस्तु = शरीराद्भिन्नमात्मस्वरूपं नास्त्येव=प्रत्यक्षेणानु-पलम्भमानादिति भावः। तद्वस्त्वस्तीति मृषा = व्यर्थम्, जल्पद्भिः = वदद्भिः, वहुभिः = वहुसंख्यैः, वाचालैः = कोलाहलरसिकैः, आस्तिकैः = वेदप्रामाण्य-वादिभिः, सत्यवचसः = सत्यप्रमाणवादिनः वयं नास्तिकाः = वेदप्रामाण्य-खण्डनकर्तारः; निन्द्याः = निन्दनीयाः, कृताः = विहिताः। ते स्वयं मृषा जल्पन्त

करता है। यह आशा (विश्वास) वैसी ही है जैसे विस्तृत आकाशतरु के कुसुम से मधुर फल की उत्पत्ति के विषय में आशा ॥ १६ ॥

इस प्रकार ये धूर्त अपनी कल्पना द्वारा गढ़े गये पदार्थों की मान्यता से इस संसार को ठग रहे हैं। क्योंकि—

जो वस्तु है ही नहीं, वह है—इस तरह की झूठी बात कहने वाले वाचाल वहुसंख्यक आस्तिकों ने सच्ची वात कहने वाले नास्तिकों की निन्दा की है।

हंहो पश्यत तत्त्वतो यदि पुनश्छिन्नादितो वर्ष्मणो
दृष्टः किं परिणामरूपितचितेर्जीवः पृथक्कैरपि ॥१७॥

अपि च न केवलं जगदात्मैव तावदमीभिर्वञ्च्यते । तथाहि—

तुल्यत्वे वपुषां मुखाद्यवयवैर्वर्णक्रमः कीदृशो
योषेयं वसु चापरस्य तदमुं भेदं न विद्मो वयम् ।

आस्तिकाः, वयं तु सत्यप्रमाणवादिनो नास्तिका इत्यहो दुर्विदग्धानां स्वमाहात्म्यप्रख्यापनमिति भावः । हंहो इति साहङ्कारं सम्बोधनम् । पश्यत = परमार्थविचारणां कुरुतेत्यर्थः । छिन्नात् = खण्डितात्, इतः = एतस्मात्, परिणामरूपितचितेः—परिणामेन = पृथिव्यादिरूपान्तरतापत्त्या रूपिता = उत्पादिता, चितिः= चैतन्यं यस्य तस्मात्, वर्ष्मणः = शरीरात्, पृथक् = भिन्नः, जीवः, कैरपि यदि, पुनः, दृष्टः = प्रत्यक्षीकृतः । अयं भावः—संहतान्येव पृथिव्यादिभूतानि संयोगविशेषमहिम्ना चेतयन्ते, न तु तेभ्योऽतिरिक्तः कोऽप्यस्ति चेतन आत्मा । न केनापि छिन्नाद् देहान्निर्गच्छन् कदापि स दृष्टः, तत्कथमात्मसत्ता ग्राह्या ? ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

अपि चेति । अमीभिः = आस्तिकैः, न केवलं जगत्, आत्मैव = आत्मापि, एवशब्दोऽप्यर्थः । वञ्च्यते = प्रतार्यते । एते दुर्विदग्धाः परान् नाशयित्वा स्वयमपि नश्यन्तीति भावः ।

तदेवाह—तुल्यत्वे वपुषामिति । मुखाद्यवयवैः, वपुषाम् = मानवमात्रदेहानाम्, तुल्यत्वे = सामान्ये सति, वर्णक्रमः कीदृशः = ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिसंज्ञया जातिव्यवस्था कीदृशी, तत्तद्वर्णानां धर्मनिरूपणरूपोऽयं क्रमो न युक्त इति भावः । इयं योषा = वनिता, वसु = धनं च अपरस्य = अन्यस्य, इयं स्त्री परस्य,

जरा तत्त्वतः देखिए—संहत पृथिव्यादितत्त्व के संयोगविशेष से स्वयं चैतन्य को प्राप्त इस शरीर के खण्डित होने पर उससे पृथक् जीव को क्या किसी ने कभी देखा है ? ॥ १७ ॥

और केवल संसार को ही नहीं, अपने को भी ये धूर्त धोखा दे रहे हैं, क्योंकि—

मुखादि अङ्गों से सभी के शरीर समान होने पर जात-पाँत क्या है ? यह

हिंसायामथवा यथेष्टगमने स्त्रीणां परस्वग्रहे
कार्याकार्यविचारणा हि यदमी निष्पौरुषाः कुर्वते ॥ १८ ॥

(विचिन्त्य, सश्लाघम्) सर्वथा लोकायतमेव शास्त्रं यत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि, अर्थकामौ पुरुषार्थौं भूतान्येव

इदं धनं परस्य, तत् अमुं भेदम् वयं न विद्मः-एतादृशे भेदे अस्माकं चार्वाकमतानुयायिनामनास्थेति भावः। हीति प्रसिद्धौ। हिंसायाम् = तृप्त्यै परहिंसायाम्, अथवा स्त्रीणां यथेष्टगमने=परकीयस्त्रीणां यस्मिन् कस्मिन्नपि काले पर्वकालादावपि सुरताभ्यासे, परस्वग्रहे = परधनग्रहणे, कार्याकार्यविचारणा = कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचारः, यत् = यस्माद्धेतोः। अमी = आस्तिकाः, निष्पौरुषाः = असमर्थाः, कुर्वते। सति तूपभोगसामर्थ्ये ह्येतेऽपि तथैवेदं सर्वं कुर्युर्यथा वयं कुर्म इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

सश्लाघमिति। सश्लाघम्=श्लाघा=परगुणकीर्तनम्, तया सह। लोकायतमतमेव शास्त्रम् = चार्वाकशास्त्रमेवेत्यर्थः। प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् = प्रत्यक्षमात्रं प्रमाणम्। पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि, आकाशस्याप्रत्यक्षत्वेन न तत्त्वान्तरत्वम्। अर्थकामौ पुरुषार्थौ=धर्ममोक्षयोः परत्र फलप्रदत्वेनाप्रत्यक्षतयाऽलीकत्वादर्थकामावेव पुरुषार्थौ। भूतान्येव चेतयन्ते=पृथिव्यादीनां चतुर्णां तत्त्वानां संयोगविशेषमहिम्ना देहे चैतन्यमुत्पद्यते पूगनागवल्लीखदिरचूर्णमेलनाद्रागवदिति भावः। नास्ति परलोकः = परलोकप्रतिपादकशास्त्रस्य शब्दात्मकतया प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणा-

---

दूसरे की स्त्री है, यह दूसरे का धन है—इस प्रकार के भेद को हम समझ नहीं पाते हैं। ये पौरुषहीन असमर्थ होने से हिंसा, परस्त्रीगमन और परधनहरण में कृत्याकृत्य का विचार करते हैं ॥ १८ ॥

(सोच कर, प्रशंसापूर्वक) लोकायतमत ही सर्वथा शास्त्र है जिसमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, पृथिवी जल तेज और वायु तत्त्व हैं, अर्थ और काम दो ही पुरुषार्थ हैं। पृथिवी जल तेज और वायु रूप भूत ही (शरीर में) चैतन्य उत्पन्न करते हैं। परलोक नहीं है। मृत्यु ही मोक्ष है। इस प्रसिद्ध शास्त्र को हमारी रुचि के

चेतयन्ते। नास्ति परलोकः। मृत्युरेवापवर्गः। तदेतदस्मदभिप्रायानुबन्धिना वाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितम्। तेन च शिष्योपशिष्यद्वारेणास्मिल्लोके बहुलीकृतं तन्त्रम्।

(ततः प्रविशति चार्वाकः शिष्यश्च)

चार्वाकः—वत्स, जानासि दण्डनीतिरेव विद्या। अत्रैव वार्तान्तर्भवति। धूर्तप्रलापस्त्रयी। स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्। पश्य—

स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे यदि यज्वनाम्।

नभ्युपगमात्। मृत्युरेवापवर्गः = मृत्युरेव मोक्षः, यमन्ये मोक्षं कथयन्ति स एवात्र मते मृत्युरेव। मरणानन्तरं पापपुण्यानुसारिणी पुनः शरीरोत्पत्तिर्नास्ति। अस्मदभिप्रायानुबन्धिना = मदभिप्रायानुरोधिना। वाचस्पतिना = गुरुणा। प्रणीय = निर्माय। चार्वाकाय=तदभिधानाय। बहुलीकृतम्=प्रचारितम्। तन्त्रम्=शास्त्रम्।

चार्वाक इति। दण्डनीतिरेव = राजनीतिरेव। अत्रैव = राजनीतावेव। वार्ता = अर्थानर्थप्रतिपादकं नीतिशास्त्रम्। त्रयी = वेदत्रयी। धूर्तप्रलापः = वञ्चकानां वचनानि।

वेदानां धूर्तप्रलपितत्त्वं समर्थयति—स्वर्ग इति। कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे—कर्तारश्च = ऋत्विजः, क्रियाश्च = होमादयः, द्रव्यं च = पुरोडाशादि, एतद्विनाशे= एतदपाये, कर्तुः कालक्षेपवशान्मृत्युनाऽपायः, क्रियायाः कतिपयक्षणोत्तरमपायः, द्रव्यस्य नातिचिरेणैवापायस्तदेवं सर्वेषामभावेऽपि यज्वनाम् = यजमानानाम्, स्वर्गः

अनुसार वाचस्पति (बृहस्पति) ने रच कर चार्वाक को समर्पित किया और उन्होंने शिष्यों-उपशिष्यों के द्वारा इस संसार में इसे लोक में प्रचारित किया।

(तदनन्तर चार्वाक और शिष्य का प्रवेश)

चार्वाक—वत्स, जानते हो दण्डनीति ही विद्या है, वार्ता का (भी) इसी में अन्तर्भाव है। ऋक्, यजुः और साम यह वेदत्रयी धूर्तों का प्रलापमात्र है। स्वर्गसम्बन्धी बात कहने से उसमें कोई विशेषता नहीं है। देखो—

कर्ता, क्रिया और साधन द्रव्य के नाश हो जाने पर यज्ञ करने वालों को यदि स्वर्ग मिलता है तो दावाग्नि से दग्ध वृक्षों में बहुत से फल भी होंगे।

ततो दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरुहाम् ॥ १९ ॥

अपि च—

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥ २० ॥

अपि च—

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।

स्यात्, ततः = तर्हि, दावाग्निदग्धानाम् = वनाग्निभस्मीकृतानाम्, भूरुहाणाम्= वृक्षाणाम्, भूरि = प्रचुरम्, फलं स्यात्, उभयत्राप्यकारणात् कार्योत्पत्तेस्तुल्यत्वा· दिति भावः ॥ अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १९ ॥

निहतस्येति । यज्ञे निहतस्य = हिंसाकर्मतां गमितस्य, पशोः = छागादेः, यदि स्वर्गप्राप्तिः = स्वर्गाख्यकल्पितसुखातिशयावाप्तिः, इष्यते=आस्थीयते, 'वैदिका हिंसा हिंसा न भवति', तत्र हतानां छागादीनां स्वर्गगतिश्च जायते' इति वचना-दिति भावः । तत्र = यज्ञे, यजमानेन = यज्ञं कुर्वता जनेन, स्वपिता = स्वजनकः, कस्मात् = कुतो हेतोः, न हन्यते ? यजमानः स्वर्गं प्रापयितुं स्वं पितरमपि तत्रैव हन्तुं, अल्पप्रयत्नेनैव तस्य स्वर्गप्राप्तेरिति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २० ॥

देवयज्ञप्रतिपादकं शास्त्रं दूषयित्वा पितृयज्ञप्रतिपादकं शास्त्रं दूषयति—**मृतानामपीति** । श्राद्धम् = श्रद्धया कृतं दशाहपिण्डदानादि, मृतानामपि जन्तू-नाम् = प्राणिनाम्, तृप्तिकारणम् = सन्तोषसाधनम्, चेत् = यदि, तर्हि स्नेहः =

(क्योंकि दोनों पक्षों में विना कारण के कार्य होने की बात समान ही है) ॥ १९ ॥

और—

'यज्ञ में मारे गये पशु को स्वर्ग मिलता है' यदि ऐसी आस्था है, तो यज्ञ करने वाला उस (यज्ञ) में अपने पिता को (स्वर्ग प्राप्त कराने के लिए) क्यों नहीं मारता ? ॥ २० ॥

और —

यदि श्राद्ध मृत प्राणियों की तृप्ति का कारण होता है तो बुझे हुए दीप में

निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ॥ २१ ॥

शिष्यः—आचार्य, यद्येष एव परमार्थः पुरुषस्य यत्खाद्यते पीयते। तर्हि किमित्येतैस्तैर्थिकैः संसारसौख्यं परिहृत्यात्मा घोरघोरतरैः पराक-सान्तपन-षष्ठकालाशनप्रभृतिभिर्दुःखैः कस्मात् खेद्यते? (आचालिअ, जई एसो जेव्व पलमत्थो पुलिसस्स जं खज्जए पिज्जए। ता किंति एदेहिं तित्थेहिं संसालसुहं पलिहलिअ अप्पा घोलघोलतलेहिं पलाअ सांतवन-सट्ठका अप्पास-नप्पहुदिहिं दु खेहिं कुदो खविज्जदि)

चार्वाकः—धूर्तप्रणीतागमप्रतारितानामाशामोदकैरियं तृप्तिर्मूर्खाणाम्। पश्य पश्य—

तैलम्, निर्वाणस्य = अग्निशिखया वियुक्तस्य, प्रदीपस्य शिखाम् = ज्वालाम्, संवर्धयेत्। मृतस्यापि जन्तोः श्राद्धेन तृप्तिर्भवति चेत्तर्हि तैलं निर्वाणस्य दीपस्य शिखां संवर्धयितुं शक्नुयात्। यथा निर्वाणदीपशिखासंवर्धनाय तैलं व्यर्थं तथैव मृतप्राणितृप्तये श्राद्धेन कृतमिति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २१ ॥

शिष्य इति। परमार्थः = सिद्धान्तः। तैर्थिकैः = तीर्थविश्वासिभिः। संसार-सौख्यम् = वैषयिकं सुखम्। घोरघोरतरैः = अतिकठिनैः। पराकसान्तपनषष्ठ-कालाशनप्रभृतिभिः—पराकः = पराको नाम व्रतविशेषः, सान्तपनं नाम व्रतम्, षष्ठकालाशनम् = तन्नाम व्रतं यस्मिन् षष्ठ्यां सन्ध्यायामशनं क्रियते, इत्यादिभिः।

चार्वाक इति। धूर्तप्रणीतागमप्रतारितानाम्—धूर्तानाम् = वञ्चकजनानां प्रणीतैः = निर्मितैः, आगमैः = शास्त्रैः, प्रतारिताः = वञ्चितास्तेषाम्। आशा-मोदकैः = कल्पितमोदकैः। एते हि मूर्खा धूर्तप्रणीतशास्त्रप्रतिपादितसुखं लब्धुं

तेल डालने से उसकी शिखा बढ़ जानी चाहिए ॥ २१ ॥

शिष्य—आचार्य! खाना-पीना यदि यही पुरुषों के लिए परमार्थ है तो सांसारिक सुखों को त्याग कर इन तीर्थों से तथा अत्यन्त कठोर पराक, सान्तपन एवं षष्ठकालाशनप्रभृति दुःखों से क्यों कष्ट झेलते हैं?

चार्वाक—धूर्तों द्वारा निर्मित शास्त्रों से ठगे गये मूर्खों की आशामोदकों से यह तृप्ति है (अर्थात् ये मूर्ख धूर्तप्रणीत शास्त्रों में प्रतिपादित सुख प्राप्त करने के लिए सांसारिक सुख का त्याग कर जो दुःख सहते हैं वह आशामूलमात्र है,

क्वालिङ्गनं भुजनिपीडितबाहुमूलं
भुग्नोन्नतस्तनमनोहरमायताक्ष्याः ।
भिक्षोपवासनियमार्कमरीचिदाहै-
र्देहोपशोषणविधिः कुधियां क्व चैषः ॥ २२ ॥

शिष्यः—आचार्य, एवं खलु तैर्थिका आलपन्ति यद्दुःखमिश्रितं संसारसुखं परिहरणीयमिति । (आचालिअ, एवं खु तित्थिआ आलवन्ति जं दुःखमिस्सिदं संसालसुहं पलिहलणीअंत्ति)

सांसारिकसुखं विहाय यद्दुःखं सहन्ते तदाशामूलमात्रं, नहि तेन किञ्चिदप्यभीष्टं सुखं प्राप्नुवन्ति, मनोधृतमोदकैर्बुभुक्षा कथमपि शान्ति न यातीति भावः ।

क्वालिङ्गनमिति । भुजनिपीडितबाहुमूलम्— भुजाभ्याम् = बाहुभ्यां नायकनायिकयोरित्यर्थः, निपीडितम् = परस्परदृढधृतम् बाहुमूलम् = बाह्वादिभागो यस्मिस्तत्, भुग्नोन्नतस्तनमनोहरम्— भुग्नौ = गाढालिङ्गनवशात् कुञ्चितौ, उन्नतौ स्तनौ ताभ्यां मनोहरम् = हृद्यम्, आयताक्ष्याः = विशाललोचनाया रमण्याः, आलिङ्गनम् = परिरम्भः, क्व=कुत्र ? भिक्षोपवासनियमार्कमरीचिदाहैः—भिक्षा च उपवासश्च = उपोषणम्, नियमश्च=चान्द्रायणादिः, अर्कमरीचिभिः=सूर्यकिरणैर्यो दाहः = सन्तापः, एतद्रूपैः साधनैः, कुधियाम् = परलोकसुखैषिणां दुर्विदग्धानाम्, एषः = सकललोकप्रसिद्धः, देहोपशोषणविधिः = कायक्लेशकरं कर्म च क्व=कुत्र ? द्वयोर्महदन्तरम्, उभयोरालिङ्गनमेव श्रेष्ठमिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥२२॥

शिष्य इति । तैर्थिकाः = शास्त्रकाराः । आलपन्ति = वाचालतया प्रवदन्ति । दुःखमिश्रितम् = दुखसंवलितम् । संसारसुखम्=अङ्गनाऽऽलिङ्गनादिजन्यं वैषयिकसुखम् । परिहरणीयम् = त्याज्यम् ।

उससे उन्हें कोई अभीष्ट सुख प्राप्त नहीं होता, मन के लड्डू खाने से कहीं भूख मिटती है ?) देखो, देखो—

बाहुमूल को भुजाओं से कस कर दबा कर (अत एव कुञ्चित स्तनों से मनोहर, सुन्दरी का आलिङ्गन कहाँ ? और भिक्षा, उपवास, नियम सूर्यकिरण-सन्ताप से मूर्खों का यह कायक्लेशकर कर्म कहाँ ? ॥ २२ ॥

शिष्य—आचार्य ! शास्त्रकार ऐसा कहते हैं कि दुःखमिश्रित होने के कारण सांसारिक सुख त्याज्य है ।

चार्वाकः—(विहस्य) आः, दुर्बुद्धिविलसितमिदं नरपशूनाम् ।

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ॥ २३ ॥

महामोहः—अये, चिरेण खलु प्रमाणवन्ति वचनानि कर्णसुखमुप-

चार्वाक इति । नरपशूनाम् = त्याज्यग्राह्यार्थज्ञानशून्यपशुतुल्यनराणाम् । दुर्बुद्धिविलसितम् = बुद्धिदोषविचेष्टितम् ।

त्याज्यमिति । विषयसंगमजन्म—विषयसंगमात्=ललनादिसम्बन्धात्, जन्म= उत्पत्तिर्यस्य तत्, दुःखोपसृष्टम् = तद्विनाशादिजन्यकष्टेन उपसृष्टम् = युक्तम्, सुखम् = वैषयिक आनन्दः, पुंसाम् = पुरुषाणाम्, त्याज्यम् = परिहरणीयम्, इति एषा = एवंप्रकारा, मूर्खविचारणा = अज्ञानिनां धारणा, य एवमवधारयन्ति मूर्खा एव त इति भावः । भोः = शिष्य ! को नाम हितार्थी—हितम् = इष्टम्, अर्थः = प्रयोजनमस्यास्तीति हितार्थी = अभिलषितेप्सुः, सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्—सिताः = श्वेताः, अतएव उत्तमाः, तण्डुलाः, तैः आढ्यान् = पूर्णान्, तुषकणैः उपहितान् = युक्तान्, व्रीहीन् = धान्यानि, जिहासति = त्यक्तुमिच्छति । कोऽपि श्रेयः कामयमानः तुषयुक्ततयैव श्वेतोत्तमतण्डुलयुक्तानि धान्यानि, न त्यजति, त्यजति चेत् स मूर्ख एव, तथैव किञ्चिद्दुःखशवलितत्वेनैव वैषयिकमानन्दं ये त्यजन्ति ते महान्तो मूर्खा इत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

महामोह इति । चिरेण = बहुकालादनन्तरम् । प्रमाणवन्ति=युक्तियुक्तानि ।

चार्वाक—(जोर से हंसकर) आः, यह तो उन नर पशुओं की दुर्बुद्धि का विलास है ।

विषयोपभोग से होने वाला सुख दुःखमिश्रित है अतएव पुरुषों द्वारा त्याज्य है ऐसा विचार (केवल) मूर्खों का है । कौन हितेच्छु श्वेत उत्तम चावल वाले धान्यों को भूसी से युक्त होने के कारण छोड़ देता है ? ॥ २३ ॥

महामोह—अरे, बहुत दिनों के बाद (आज) प्रमाणयुक्त बातें कानों

जनयन्ति । (विलोक्य, सानन्दम्) हन्त, प्रियसुहृन्मे चार्वाकः ।

चार्वाकः—(विलोक्य) एष महाराजो महामोहः । (उपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः । एष चार्वाकः प्रणमति ।

महामोहः— चार्वाक, स्वागतं ते । इहोपविश्यताम् ।

चार्वाकः—(उपविश्य) एष कलेः साष्टाङ्गं प्रणामः ।

महामोहः —अये कले, भद्रमव्याहतम् ।

चार्वाकः— देवप्रसादात्सर्वत्रभद्रम् । निर्वर्तितकृत्यशेषश्च देवपादमूलं द्रष्टुमिति । यतः—

आज्ञामवाप्य महतीं द्विषतां निपातान्-

कर्णसुखम् उपजनयन्ति = श्रवणमानन्दयन्ति । हन्तेति हर्षसूचकमव्ययपदम् । प्रियसुहृत् = मित्रम् ।

चार्वाक इति । कलेः = कलियुगस्य ।

महामोह इति । भद्रम् = कुशलम् । अव्याहतम् = अक्षतम् ।

चार्वाक इति । देवप्रसादात्=भवदनुग्रहात् । निर्वर्त्तितकृत्यशेषः—निर्वर्तितः= कृतः, कृत्यस्य = कार्यजातस्य शेषो येन स तथोक्तः कृतकृत्य इत्यर्थः । देवपादमूलम् = भवच्चरणप्रान्तम् ।

आज्ञामिति । महतीम् = महत्त्वपूर्णाम्, आज्ञाम्=भवदीयमादेशम्, अवाप्य= लब्ध्वा, ताम् = आज्ञाम्, द्विषताम् = शत्रूणाम्, निपातात् = विनाशात्, निर्वर्त्य=

कों सुख दे रही हैं । (देखकर, आनन्द से) अहा ! मेरा प्रिय मित्र चार्वाक (आ रहा है) ।

चार्वाक—(देखकर) ये महाराज महामोह हैं । (समीप जाकर) महाराज की जय हो ! जय हो ! यह चार्वाक प्रणाम कर रहा है ।

महामोह—चार्वाक ! तुम्हारा स्वागत (है) । यहाँ बैठो ।

चार्वाक—(बैठकर) यह कलि का साष्टाङ्ग प्रणाम (है) ।

महामोह—हे कले ! अक्षत कुशल तो है ?

चार्वाक—आप की कृपा से सर्वत्र कुशल है । सब कार्य सम्पन्न कर आप चरणदर्शनार्थ (आया हूँ) क्योंकि—

महत्त्व पूर्ण आज्ञा पाकर, उसे शत्रुओं के विनाश से सम्पन्न कर, तुरन्त

'निर्वर्त्य तां सपदि लब्धसुखप्रसादः ।
उच्चैः प्रमोदमनुमोदितदर्शनः सन्
धन्यो नमस्यति पदाम्बुरुहं प्रभूणाम् ॥ २४ ॥

महामोहः—अथ तस्मिन्कलौ कियत्संवृत्तम् ?

चार्वाकः—देव,

व्यतीतवेदार्थपथः प्रथीयसीं
यथेष्टचेष्टां गमितो महाजनः ।

सम्पाद्य, सपदि=सद्यः, लब्धसुखप्रसादः—लब्धः सुखप्रसादः=सन्तोषरूपोऽनुग्रहो येन स तादृशः, प्राप्तसन्तोष इत्यर्थः, उच्चैः प्रमोदम उच्चैः=अतिशयेन प्रमोदः=आनन्दः, यथा स्यात्तथा, अनुमोदितदर्शनः—अनुमोदितम् = स्वीकृतं दर्शनं यस्य स तादृशः, दर्शनदानानुग्रहात् कृतार्थीकृतः सन्नित्यर्थः, धन्यः, प्रभूणाम् = स्वामिनाम्, महामोहानामित्यर्थः, पदाम्बुरुहम् = चरणकमलम्, नमस्यति = प्रणमति । शत्रुनिपादविषयां भवदीयां महत्त्वपूर्णामाज्ञां प्राप्य शत्रूणां विनाशनेन तां सम्पाद्य प्रसन्नमनाः, सानन्दं भवता दत्तदर्शनः सन्नहं भवतां चरणकमलं प्रणमामीति धन्योऽहं सम्प्रति जात इत्याशयः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४ ॥

महामोह इति । तस्मिन् कलौ कियत् संवृत्तम् = कलिना कियत् कार्यं सम्पादितमित्यर्थः ।

व्यतीतवेदार्थपथ इति । महाजनः = वैदिकजनः, प्रथीयसीम् = पृथुतराम्, प्रचुरामित्यर्थः, यथेष्टचेष्टाम् = परस्त्रीगमनमद्यपानपरधनापहरणादिरूपामिच्छानुरूपाविहितचेष्टाम्, गमितः = प्रापितः सन् व्यतीतवेदार्थपथः—व्यतीतः वेदार्थपन्थाः = सन्ध्याग्निहोत्रादिरूपो वेदमार्गो यस्मात् स तादृशः, वैदिका जनाः सम्प्रति वेदमार्गं परित्यज्याविहितकर्माणि कर्तुं प्रारब्धवन्त इत्येतावत् कार्यं

सुख रूप अनुग्रह पाकर के अतिशय प्रसन्नतापूर्वक दर्शन की अनुमति से कृतार्थ किया गया धन्य यह सेवक आप के चरण कमलों को प्रणाम कर रहा है ॥२४॥

महामोह—उस कलिके विषय में कितनी प्रगति हुई है ?

चार्वाक—देव,

अधिकांश वैदिक जन वेदमार्ग को त्याग कर यथेच्छाचारी बन गये हैं ।

तदत्र हेतुर्न कलिर्नचाप्यहं
प्रभोः प्रभावो हि तनोति पौरुषम् ॥ २५ ॥

तत्रोत्तरापथिकाः पाश्चात्याश्च त्रयीमेव त्याजिताः। शमदमादीनां कैव कथा। अन्यत्रापि प्रायशो जीविकामात्रफलैव त्रयी। यथाहाचार्यः—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥ २६ ॥

जातमिति भावः। तत् अत्र = एतत्कार्यसिद्धौ, न कलिः हेतुः = कारणम्, न च अहमपि = चार्वाकोऽपि, अपि तु भवानेव हेतुरिति भावः। हि = यतः, प्रभोः = स्वामिनः, प्रभावः = सामर्थ्यातिशयः, पौरुषं तनोति = विस्तारयति, प्रभोः प्रभाव एव स्वं पौरुषं प्रकटयतीत्यर्थः। वंशस्थं वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ॥ २५ ॥

तत्रोत्तरापथिका इति। उत्तरापथिकाः = उत्तरापथवासिनः। पाश्चात्याः= पश्चिमदिग्वासिनः। त्रयीम् = वेदत्रयीम्, तदुक्तधर्मानित्यर्थः। आचार्यः = बृहस्पतिः।

अग्निहोत्रमिति। अग्निहोत्रम् = ज्योतिष्टोमादि, अग्निसाध्यानि श्रौतस्मार्तकर्माणि वा, त्रयो वेदाः = ऋग्यजुःसामरूपाः, त्रिदण्डम् = संन्यासः, भस्मगुण्ठनम् = शरीरे भस्मलेपः, प्रज्ञापौरुषहीनानाम् = बुद्धिपराक्रमविकलानाम्, जीविका = जीवनसाधनम्, इति बृहस्पतिराह। एते बुद्धिपराक्रमविकला वैदिकंमन्या धूर्ताः किमपि जीविकासाधनमपश्यन्तोऽग्निहोत्रादिरूपसाधनरेव लोकानां धनमपहृत्य स्वजीविकां सम्पादयन्तीति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २६ ॥

इसमें न कलि और न मैं ही कारण हूँ, यह तो आप का प्रभाव अपना पौरुष प्रकट कर रहा है ॥ २५ ॥

उसमें भी उत्तरा पथ के लोग और पश्चिम के लोग, तीनों वेदों को ही छोड़ चुके हैं। शम-दम आदि की क्या बात है? अन्यत्र भी प्रायः वेदत्रयी का फल जीविकामात्र रह गया है। जैसा आचार्य (बृहस्पति) ने कहा है—

अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड (संन्यास), भस्मलेप यह सब बुद्धि और पौरुष से हीन जनों की जीविका है, ऐसा बृहस्पति का मत है ॥ २६ ॥

तेन कुरुक्षेत्रादिषु तावद्देवेन स्वप्नेऽपि विद्याप्रबोधोदयो नाश-ङ्कनीयः ।

महामोहः—साधु संपादितम् । महत्खलु तत्तीर्थं व्यर्थीकृतम् ।

चार्वाकः—देव, अन्यच्च विज्ञाप्यमस्ति ।

महामोहः—किं तत् ।

चार्वाकः—अस्ति विष्णुभक्तिर्नाम महाप्रभावा योगिनी । सा तु कलिना यद्यपि विरलप्रचारा कृता तथापि तदनुगृहीतान्वयमालोक-यितुमपि न प्रभवामः तदत्र देवेनावधातव्यमिति ।

महामोहः—(सभयमात्मगतम्) आः, प्रसिद्धमहाप्रभावा सा योगिनी

चार्वाक इति । महाप्रभावा = सामर्थ्यातिशयशालिनी । योगिनी = सिद्धि-प्राप्त्या परोच्चाटनादिकर्मपरा । विरलप्रचारा = विरलः = क्वाचित्कः, प्रचारः= प्रसरणं यस्याः सा । तदनुगृहीतान्वयम्=तत्कृपापात्रवंशम् । आलोकयितुम्=द्रष्टुम् । देवेन = भवता । अवधातव्यम् = अवधानं देयम् । सावधानेन भवितव्यमित्यर्थः ।

महामोह इति । सभयम्=भयेन सह यथा स्यात्तथा । तत्तु विष्णुभक्तिजन्य-मिति बोध्यम् । आत्मगतम् = स्वमनस्येव वदति न बहिस्तथा मर्यादाभङ्गात् । आः इति पीडाद्योतकमव्ययपदम् । प्रसिद्धमहाप्रभावा – प्रसिद्धः = प्रख्यातो महान् प्रभावः = सामर्थ्यं यस्यास्तादृशी । सा योगिनी = विष्णुभक्तिः । स्वभावाद्विद्वे-

---

इस लिए कुरुक्षेत्र आदि देशों में आप स्वप्न में भी विद्या और प्रबोध के उदय की आशङ्का न करें ।

महामोह—अच्छा किया । बड़ा भारी तीर्थ व्यर्थ कर दिया ।

चार्वाक—महाराज ! कुछ और निवेदन करना है ।

महामोह—वह क्या ?

चार्वाक—विष्णुभक्ति नाम की एक बड़ी प्रभावशालिनी योगिनी है । यद्यपि कलि ने उसके प्रचार को स्वल्प कर दिया है तथापि उसके कृपापात्र वंश की ओर हम देख भी नहीं पाते हैं । इस पर आप ध्यान दें ।

महामोह—(भय के साथ, मन ही मन) आः, वह योगिनी (विष्णु-भक्ति) प्रसिद्ध महाप्रभावशालिनी है । वह स्वभावतः हमसे विद्वेष भी

स्वभावाद्विद्वेषिणी चास्माकं दुरुच्छेद्या सा। भवतु। (स्वगतम्) कार्यमत्याहितं भविष्यति। (प्रकाशम्) तत्र भद्र, अलमनया शङ्कया। कामक्रोधादिषु प्रतिपक्षेषु कुत्रेयमुदेष्यति।

चार्वाकः—तथापि लघीयस्यपि रिपौ नानवहितेन जिगीषुणा भवितव्यम्। यतः—

विपाकदारुणो राज्ञां रिपुरल्पोऽप्यरुंतुदः।

षिणी = स्वभावत एव अस्मासु शत्रुत्वेन वर्तत इत्यर्थः। दुरुच्छेद्या = दुःखेनोन्मूलयितुं शक्या। कार्यमत्याहितं भविष्यति = विष्णुभक्तिविनाशरूपकार्यं साहसिकं भविष्यति, तत्र प्रवृत्तिर्नास्ति प्राणसंशयरहितेति भावः। कामक्रोधादिषु प्रतिपक्षेषु = अस्मद्वर्गीयेषु कामक्रोधादिषु विरोधिषु सत्सु। कुत्रेयमुदेष्यति = इयं विष्णुभक्तिः कुत्र प्रकाशं यास्यति? तदुदयभूमेर्लोकानां हृदयस्य पूर्वत एव कामक्रोधादिभिरावृतत्वादिति भावः।

चार्वाक इति। यद्यप्येवमेतत् तथापि, लघीयसि अपि = लघुतरे अपि, रिपौ = शत्रौ, जिगीषुणा—जयेप्सुना। अनवहितेन न भवितव्यम् = असावधानेन न भवितव्यम्।

तत्र हेतुमाह—**विपाकदारुण** इति। विपाकदारुणः = विपाके = परिणामे, दारुणः = भयङ्करः। अल्पोऽपि = लघुरपि, रिपुः = शत्रुः, राज्ञाम्, नृपाणाम्, अरुन्तुदः = अरुः = मर्मस्थानं तुदतीत्यरुन्तुदः=मर्मस्पृक ('अरुन्तुदस्तु मर्मस्पृक्' इत्यमरः) 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खशि प्रत्यये, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमि

रखती है। उसका विनाश दुष्कर है। अच्छा (मन ही मन) साहसिक कार्य होगा (अर्थात् विष्णुभक्ति के विनाश में लगना खतरे से खाली नहीं)। (प्रकट रूप में) भद्र! उसमें घवड़ाने की आवश्यकता नहीं। कामक्रोधादि जैसे विरोधियों के रहते हुए इस (विष्णुभक्ति) का उदय कहाँ हो सकेगा?

चार्वाक—फिर भी जयेच्छु को छोटे-से भी शत्रु के विषय में असावधान नहीं रहना चाहिए।

क्योंकि—

परिणाम में भयङ्कर छोटा भी शत्रु राजाओं के मर्म को दुखाता रहता है।

उद्वेजयति सूक्ष्मोऽपि चरणं कण्टकाङ्कुरः ।। २७ ।।

महामोहः--(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कः कोऽत्र भोः ।

(प्रविश्य दौवारिकः)

दौवारिकः—जयतु जयतु । आज्ञापयतु देवः ।

महामोहः—भो असत्सङ्ग, आदिश्यतां कामक्रोधलोभमदमात्सर्यादयो यथा योगिनी विष्णुभक्तिर्भवद्भिरेवावहितैर्विहन्तव्येति ।

दौवारिकः—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति पत्रहस्तः पुरुषः)

पुरुषः—अहमुत्कलदेशादागतोऽस्मि । अस्ति तत्र सागरतीरसन्निवेशे पुरुषोत्तमशब्दितं देवतायतनम् । तस्मिन्मदमानाभ्यां भट्टारकाभ्यां

कृते संयोगान्तस्य लोपः । तत्र दृष्टान्तमाह—सूक्ष्मः = कुशाग्रभागः अपि, कण्टकाङ्कुरः = कण्टकप्ररोहः, चरणम् उद्वेजयति = पीडयति । यथा सूक्ष्मोऽपि कण्टकः पादं पीडयति तथैव लघुरपि शत्रुर्नृपाणां मर्मस्थानं व्यथयतीत्यभिप्रायः । अत्रारुन्तुदत्वमुद्वेजनं च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा, अतः प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः । एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥' इति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २७ ॥

महामोह इति । कः कोऽत्र भोः = द्वारि कस्तिष्ठतीत्यर्थः ।

पुरुष इति । सागरतीरसन्निवेशे = समुद्रतटसामीप्ये । पुरुषोत्तमशब्दितम् = पुरुषोत्तमसंज्ञम् । देवतायतनम् = देवमन्दिरम् । तस्मिन् मदमानाभ्यां भट्टार-

---

छोटा सा भी काँटा पैर को पीडा पहुँचाता है ॥ २७ ॥

महामोह—(नेपथ्य की ओर देखकर) द्वार पर कौन (दौवारिक) है ?

(दौवारिक प्रवेश कर)

दौवारिक—जय हो ! जय हो ! महाराज आज्ञा दें ।

महामोह—अजी असत्सङ्ग ! काम क्रोध लोभ मद मात्सर्य आदि को आदेश दो कि आप लोग सावधान होकर योगिनी विष्णुभक्ति को मार डालें ।

दौवारिक—महाराज की जो आज्ञा । (निकल गया)

(तदनन्तर हाथ में पत्र लिए हुए पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—मैं उत्कल देश से आया हूँ । वहाँ समुद्रतट के पड़ोस में पुरुषोत्तम-

महाराजसकाशं प्रेषितोऽस्मि। (विलोक्य) एषा वाराणसी। इदं राज-कुलम्। यावत्प्रविशामि। (प्रविश्य) एष भट्टारकश्चार्वाकेण सार्धं किमपि मन्त्रयंस्तिष्ठति। तदुपसर्पाम्येनम्। (उपसृत्य) जयतु जयतु भट्टारकः। इदं पत्रं तावन्निरूप्यमाणं प्रेक्षतां भट्टारकः। (इति पत्रमर्पयति)। हग्गे उक्कलदेसादो आगदोम्हि। अत्थि तत्थ साअलतीलसण्णिवेसे पुलिसोत्तमसण्गिदं देवदाअदणम्। तस्सि मदमाणेहिं भट्टकेहिं महालाअसआसं पेसिदोम्हि। एसा वालाणसी। एदं लाअउलम्। जाव प्पविसामि। एसो भट्टको चव्वाकेण सद्धं किंवि मन्तअन्तो चिट्ठदि। ता उवसप्पामि णम्। जेदु जेदु भट्टको। एदं पत्तं जाव णिलु-प्पिअमाणं पेक्खदु भट्टको)

महामोहः—(पत्रं गृहीत्वा) कुतो भवान् ?

पुरुषः—अहं पुरुषोत्तमादागतोऽस्मि। (हग्गे पुरुषोत्तमादो सागदोम्हि)

काश्याम्=तत्र स्थिताभ्यां मदमानाख्याभ्यां राजभ्याम्। महाराजसकाशम्=महामोह-पार्श्वे। भट्टारकः = स्वामी महामोहः। मन्त्रयन्=परामर्शं कुर्वन्। निरूप्यमाणम्= समर्प्यमाणम्। प्रेक्षताम् = सम्यक् पश्यतु। भट्टारकः = स्वामी।

महामोह इति। कुतो भवान् ? = कस्मात् स्थानादागतो भवान् ?

पुरुष इति। पुरुषोत्तमात् = पुरुषोत्तमसंज्ञया प्रसिद्धात् जगन्नाथपुर्यभिधानात् स्थानात्।

संज्ञक मन्दिर है। वहाँ रहने वाले मद और मान स्वामी ने मुझे महाराज (महामोह) के पास भेजा है। (देखकर) यह वाराणसी है। यह रहा राजकुल। तो प्रवेश करता हूँ।

(प्रवेश करके) यह महाराज, चार्वाक के साथ परामर्श कर रहे हैं, तो इनके पास जाता हूँ। (समीप जाकर) स्वामी की जय हो ! जय हो ! इस पत्र को स्वामी देखें। (ऐसा कहकर पत्र देता है)।

महामोह—(पत्र लेकर) तुम कहाँ से (आये हो) ?

पुरुष—मैं पुरुषोत्तम से आया हूँ।

महामोहः—(स्वगतम् । कार्यमत्याहितं भविष्यति । (प्रकाशम्) चार्वाक, गच्छ । कर्तव्येष्ववहितेन भवता भवितव्यम् ।

चार्वाकः—यदाज्ञापयति देवः ।

(इति निष्क्रान्तः)

महामोहः—(पत्रं वाचयति)

'स्वस्ति श्रीवाराणस्यां महाराजाधिराजपरमेश्वरमहामोहपादान्पुरुषोत्तमायतनान्मदमानौ साष्टाङ्गपातं प्रणम्य विज्ञापयतः । यथा भद्रमव्याहतम् । अन्यच्च देवी शान्तिर्मात्रा श्रद्धया सह विवेकस्य दौत्यमापन्ना विवेकसंगमाय देवीमुपनिषदमहर्निशं प्रबोधयति । अपि च

महामोह इति । कार्यमत्याहितं भविष्यति = अस्मिन् पत्रे मदमानाभ्यां महाभयजनकं किमपि कार्यं निवेद्यमानं भविष्यति ।

स्वस्ति श्री वाराणस्यामिति पुरुषोत्तमायतनात् = जगन्नाथपुरीतः । भद्रमव्याहतम्=आवयोः कुशले न कापि क्षतिरित्यर्थः । मात्रा श्रद्धया सह = स्वजनन्या श्रद्धया सह, श्रद्धोपेतेत्यर्थः । विवेकस्य दौत्यमापन्ना = विवेकेन दूतीपदे नियोजिता । विवेकसंगमाय = विवेकेन सह संगन्तुम् । प्रबोधयति = उपदिशति ।

महामोह—(मन ही मन) कोई दुष्कर कार्य होगा । (प्रकटरूप में) चार्वाक, जाओ । कर्तव्यों में सावधान रहना ।

चार्वाक—महाराज की जैसी आज्ञा ।

(ऐसा कहकर निकल गया)

महामोह—(पत्र बाँचता है) स्वस्ति श्री वाराणसी में महाराजाधिराज परमेश्वर महामोह के चरणों को पुरुषोत्तममन्दिर से मद-मान साष्टाङ्गपात प्रणाम कर सूचित कर रहे हैं कि (यहाँ) सर्वथा कुशल है । और दूसरी बात यह है कि देवी शान्ति, (अपनी) माता श्रद्धा के साथ विवेक की दूती बनकर विवेक से मिलने के लिए देवी उपनिषद् को दिन-रात समझाती-बुझाती रहती है । और काम का साथी होकर भी धर्म वैराग्य आदि के द्वारा फोड़ लिया गया-सा प्रतीत होता है । क्योंकि (आजकल) धर्म काम से पृथक् होकर छिपा-छिपा

कामसहचरोऽपि धर्मो वैराग्यादिभिरुपजप्त इव लक्ष्यते। यतः कामाद्विभिद्य कुतश्चिन्निगूढः प्रचरति। तदेतज्ज्ञात्वा तत्र देवः प्रमाणमिति।

महामोहः—(सक्रोधम्) आः किमेवमतिमुग्धौ शान्तेरपि बिभितः। कामादिषु प्रतिपक्षेषु कुतोऽस्याः संभवः। तथाहि—

धाता विश्वविसृष्टिमात्रनिरतो देवोऽपि गौरीभुजा-
श्लेषानन्दविघूर्णमाननयनो दक्षाध्वरध्वंसनः।

कामसहचरः=काममित्रम्। उपजप्तः = भेदं प्रापितः। विभिद्य = पृथग् भूत्वा। निगूढः = प्रच्छन्नः। देवः प्रमाणम् = यथोचितमादेष्टुं भवान् प्रभुः।

महामोह इति। सक्रोधम्=क्रोधेन सह यथा स्यात्तथा, क्रोधहेतुश्चात्र मदमानयोर्व्यग्रताया ज्ञानम्। अतिमुग्धौ = विमूढौ। प्रतिपक्षेषु सत्सु। कुतः अस्याः सम्भवः = कुतः शान्तिरुदेतुं प्रभविष्यति ?

धातेति। धाता = ब्रह्मा, विश्वविसृष्टिमात्रनिरतः—विश्वस्य = संसारस्य, विसृष्टिमात्रे = केवलायां विविधरचनाप्रक्रियायां, निरतः = तत्परः, एतेन ब्रह्मणोऽशान्तिः सूचिता। दक्षाध्वरध्वंसनः = दक्षयज्ञविनाशकः, शिव इत्यर्थः, एतेन विशेषणेन शिवस्य क्रोधाविष्टत्वं द्योतितम्, देवोऽपि = महादेवोऽपि, गौरीभुजाश्लेषानन्दविघूर्णमाननयनः—गौर्याः = पार्वत्याः, भुजाभ्यां य आश्लेषः = आलिङ्गनम्, तेन य आनन्दः = सुखम्, तेन विघूर्णमानानि = विशेषेण गत्तानोत्यर्थः, नयनानि यस्य स तादृशः, एतेन शिवस्य कामासक्तत्वं च द्योतितम्।

घूमा करता है। तो यह सब जानकर इस विषय में महाराज यथोचित आज्ञा दें।

महामोह—(क्रोध के साथ) आः, क्या वे दोनों इतने नासमझ हैं जो शान्ति से भी डर रहे हैं ? कामादि विरोधियों के रहते हुए शान्ति का उदय कैसे होगा ? क्योंकि—

ब्रह्मा संसार की केवल विविधरचनाप्रक्रिया में निरत रहता है (अर्थात् इस प्रकार उसमें भी अशान्ति ही है)। दक्षयज्ञविनाशक महादेव भी पार्वती के भुजपाश के आलिङ्गनजन्य सुख में मत्तनेत्रों वाला हो रहा है (अर्थात् वह भी

दैत्यारिः कमलाकपोलमकरीलेखाङ्कितोरःस्थलः
शेतेऽब्धावितरेषु जन्तषु पुनः का नाम शान्तेः कथा ॥२८॥

(पुरुषं प्रति वदति)

जाल्म, गच्छ। कामं सत्वरमुपेत्यादेशमस्माकं प्रतिपादय। तथा दुराशयो धर्म इत्यस्माभिरवगतम्। तदस्मिन्मुहूर्तमपि न विश्वसितव्यम्। दृढं बद्ध्वा धारयितव्य इति।

दैत्यारिः = विष्णुः, दैत्यारिरितिविशेषणेन विष्णोः क्रोधाविष्टत्वं सूचितम्। कमलाकपोलमकरीलेखाङ्कितोरःस्थलः—कमलायाः = लक्ष्म्याः कपोले = गण्ड-स्थले या मकरीलेखा = मत्स्याकृतिपत्रलेखा तया अङ्कितम् = चिह्नितम्, उरः-स्थलम् = वक्षोदेशो यस्य तादृशः सन् अब्धौ = क्षीरसागरे, शेते = स्वपिति, एतेन विष्णोः कामासक्तत्वं च द्योतितम्। तदेवं त्रिष्वपि प्रधानदेवेषु इन्द्रियोप-शमरूपायाः शान्तेरभावात्, पुनः इतरेषु = साधारणजनेषु का नाम शान्तेः कथा= कीदृशी शान्तेश्चर्चा ? तथापि मदमानौ शान्तेर्भयं कुरुत इत्यहो मुग्धत्वं तयोरिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २८ ॥

पुरुषं प्रतीति। पुरुषम् = मदमानयोः पत्रवाहम्। जाल्म = जाल्मो नाम स मदमानयोः पत्रवाहः, तत्सम्बुद्धौ। सत्वरम् = शीघ्रम्। काममुपेत्य=कामं प्राप्य। प्रतिपादय = कथय। दुराशयः = दुर्हृदयः। शान्तेः कोऽभ्युपायः = शान्तेर्निरा-करणाय कीदृशः प्रयत्नः कर्त्तव्यः। अलमुपायान्तरेण = अन्यः प्रयासो न कर्त्तव्य इत्यर्थः। अत्र = अस्मिन् विषये, शान्तिनिराकरणे इत्यर्थः।

क्रोध एवं काम से ग्रस्त ही हैं)। दैत्यारि विष्णु भी लक्ष्मी के कपोलों की मकराकृति पत्र लेखा से चिह्नित वक्षःस्थल वाला होकर क्षीर सागर में सो रहा है (इस प्रकार वह भी कामपीडित ही है) तो फिर अन्य साधारण जनों में शान्ति की क्या बात है ? ॥ २८ ॥

(पुरुष से कहता है)

जाल्म, जाओ। जल्दी पहुँच कर काम से हमारा आदेश कहो—धर्म दुष्ट है यह हमने समझ लिया। तो उस पर क्षणभर भी विश्वास न करना। उसे कस कर बाँधे रहो।

पुरुषः—यद्देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि)

(इति निष्क्रान्तः)

महामोहः—(स्वगतं विचिन्त्य) शान्तेः कोऽभ्युपायः। अथवा अलमुपायान्तरेण। क्रोधलोभावेव तावदत्र पर्याप्तौ। (प्रकाशम्) कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य दौवारिकः)

दौवारिकः—आज्ञापयतु देवः।

महामोहः—तावदाहूयतां क्रोधो लोभश्च।

पुरुषः—यदाज्ञापयति देवः (जं आणवेदि देवो)।

(इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति क्रोधो लोभश्च)

क्रोधः—श्रुतं मया यथा शान्तिश्रद्धाविष्णुभक्तयो महाराजेन प्रतिपक्षमाचरन्तीति। अहो, मयि जीवति कथमासामात्मनि निरपेक्षितं

क्रोध इति। महाराजेन प्रतिपक्षम् = महाराजस्य महामोहस्य विरुद्धम्। आचरन्ति = आचरणं कुर्वन्ति। मयि जीवति = मयि क्रोधे प्राणान् धारयति सति। आसाम्=शान्तिश्रद्धाविष्णुभक्तीनाम्। आत्मनि=स्वविषये। निरपेक्षितम् =

पुरुष—महाराज की जो आज्ञा।

(चला गया)

महामोह—(मन ही मन, सोच कर) शान्ति का क्या प्रतीकार (करें) ? अथवा अन्य उपाय की आवश्यकता नहीं। इस विषय में क्रोध लोभ ही पर्याप्त हैं। (प्रकट रूप में) द्वार पर कौन है ?

(दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक—महाराज आज्ञा दें।

महामोह—जरा क्रोध और लोभ को तो बुलाओ।

पुरुष—महाराज को जो आज्ञा।

(निकल गया)

(तदनन्तर क्रोध और लोभ का प्रवेश)

क्रोध—मैंने सुना है कि शान्ति, श्रद्धा और विष्णुभक्ति महाराज (महामोह)

चेष्टितम्। तथाहि—

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति ॥ २९ ॥

लोभः—अये, मदुपगृहीता मनोरथसरित्परम्परामेव तावन्न तरिष्यन्ति किं पुनः शान्त्यादींश्चिन्तयिष्यन्ति। पश्य पश्य सखे—

अपेक्षारहितम्। चेष्टितम् = कर्म। मयि क्रोधे जीवति यदेता विरुद्धमाचरन्ति तत्किमेतासामात्मविनाशचिन्ता नास्तीति तात्पर्यम्।

अन्धीकरोमीति। भुवनम् = जगत्, अन्धीकरोमि = अनन्धमन्धं करोमि (अभूततद्भावे च्विः) कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचारशून्यं करोमीत्यर्थः। (भुवनं) बधिराकरोमि=श्रवणेन्द्रियरहितं करोमि, तथा करोमि यथा हिताहितं न शृणोति। सचेतनम् = सहृदयम्, धीरम् = धैर्यवन्तम्, अचेतनताम्=हृदयशून्यताम्, नयामि= प्रापयामि, धीरमधीरं सचेतनं चाचेतनं करोमीत्यर्थः। येन कृत्यम् = कर्तव्यम्, न पश्यति=नावगच्छति। हितं न शृणोति। धीमान्=बुद्धिमानपि, अधीतम्=पठितं धर्मशास्त्रादि, न प्रतिसन्दधाति=न स्मरतीत्यर्थः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २९ ॥

लोभ इति। मदुपगृहीताः—मया = लोभेन, उपगृहीताः=आविष्टाः, लोभवन्त इत्यर्थः। मनोरथसरित्परम्पराम्—मनोरथः = मनोऽभिलाष एव सरित्परम्परा = नदीश्रेणी, तामेव। न तरिष्यन्ति=पारं न गमिष्यन्ति। लोभाविष्टा नराः स्वाभिलाषपरम्परापूर्तावेव संसक्ताः शान्तिस्मरणमपि न कर्तुं क्षमा भवन्तीति भावः।

के विरुद्ध व्यवहार कर रही हैं। आश्चर्य है, मेरे जीते जी इन्हें अपने विनाश की भी चिन्ता क्यों नहीं है? क्योंकि—

मैं जगत् को अन्धा और बहरा बना देता हूँ। धीर को अधीर, सचेतन को अचेतन कर देता हूँ। जिससे जगत् न कर्त्तव्य देखता है न हित सुनता है, बुद्धिमान् होकर भी पढ़ी बातों को याद नहीं रख पाता है ॥ २९ ॥

लाभ—अरे, मैं जिन्हें पकड़ लूँगा, वे मनोरथों की सरिता को ही नहीं पार कर पायेंगे फिर शान्ति आदि को क्या सोच पायेंगे? सखे देखो देखो—

सन्त्येते मम दन्तिनो मदजलप्रम्लानगण्डस्थला
वातव्यायतपातिनश्च तुरगा भूयोऽपि लप्स्येऽपरान् ।
एतल्लब्धमिदं लभे पुनरिदं लब्धाधिकं ध्यायतां
चिन्ताजर्जरचेतसां बत नृणां का नाम शान्तेः कथा ॥ ३० ॥

क्रोधः—सखे, विदितस्त्वया मत्प्रभावः ।

त्वाष्ट्रं वृत्रमघातयत्सुरपतिश्चन्द्रार्धचूडोऽच्छिनद्

तामेव मनोरथसरित्परम्परां निरूपयति—सन्त्येते ममेत्यादिना ।

एते = द्वारि बध्यमानाः, मम, मदजलप्रम्लानगण्डस्थलाः—मदजलेन = मदवारिणा, प्रम्लानानि = आर्द्रीकृतानि, गण्डस्थलानि=कपोलदेशा येषां तादृशाः, माद्यन्त इत्यर्थः । दन्तिनः = हस्तिनः (सन्ति) । वातव्यायतपातिनः—वातः = वायुः, स इव व्यायतम् = विशेषेण आयतम् = अधिकं यथा स्यात्तथा पतन्ति = धावन्ति तच्छीलाः, वायुवेगतीव्रगामिन इत्यर्थः, तुरगाः = अश्वाश्च (सन्ति) भूयोऽपि = एतावत्सु सत्स्वपि पुनरपि अपरान्=अन्यान् गजान् अश्वांश्च, लप्स्ये = प्राप्स्यामि । एतत् = इदं वस्तु, लब्धम् = प्राप्तम्, इदम् = एतद्वस्तु, पुनर्लभे = प्राप्नोमि । इदम् = एवम्, लब्धाधिकम् = लब्धादधिकम्, ध्यायताम्=चिन्तयताम्, चिन्ताजर्जरचेतसाम्—चिन्ताभिः जर्जरम् = क्षीणम्, चेतः=हृदयं येषां तादृशानां, नृणाम् = नराणाम्, का नाम शान्तेः कथा = कीदृशी शान्तिवार्ता ? बतेति हर्षसूचकमव्ययपदम् । तत्तद्वस्तुषु लब्धेष्वपि ततोऽप्यधिकलाभचिन्ताग्रस्तमनसो नराः कथमपि शान्तिं चिन्तयितुं न प्रवर्त्तन्त इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३०॥

क्रोधः स्वप्रभावं प्रतिपादयन्नाह—त्वाष्ट्रमिति ।

सुरपतिः = इन्द्रः, त्वाष्ट्रम् = त्वष्टुरपत्यं पुमान् त्वाष्ट्रः तम् ('तस्यापत्यम्' इति अपत्येऽर्थेऽण्) देवशिल्पिनस्त्वष्टुः पुत्रम्, वृत्रम् = वृत्रासुरम्, अघातयत् =

ये मेरे, मदजल से मलिन गण्डस्थल वाले गज हैं । और वायु के समान तीव्रगामी घोड़े हैं । अन्य हाथी-घोड़ों को और अधिक प्राप्त करूँगा । यह पा लिया, यह और पाना है इस तरह प्राप्त से अधिक सोचने वाले, चिन्ता से क्षीण मन वाले मनुष्यों को शान्ति की बात क्या है ? ॥ ३० ॥

क्रोध—सखे, तुम्हें मेरा प्रभाव विदित (ही) है ।

इन्द्र ने (वज्र से) त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर को मरवाया, चन्द्रशेखर शिव ने

देवो ब्रह्मशिरो वसिष्ठतनयानाघातयत्कौशिकः ।

अपि च—

विद्यावन्त्यपि कीर्तिमन्त्यपि सदाचारावदातान्यपि
प्रोच्चैःपौरुषभूषणान्यपि कुलान्युद्धर्तुमीशः क्षणात् ॥ ३१ ॥

लोभः—तृष्णे, इतस्तावत ।

(प्रविश्य तृष्णा)

तृष्णा—किमाज्ञापयत्यार्यपुत्रः । (किं आणवेदि अज्जउत्तो)

लोभः—प्रिये, श्रूयताम्—

घातितवान्, वज्रेणेति भावः । देवः चन्द्रार्धचूडः = चन्द्रमौलिः शिवः, ब्रह्मशिरः= ब्रह्मणो मस्तकम्, अच्छिनत् = अकृन्तत्, कौशिकः = विश्वामित्रः, वसिष्ठतनयान्= महर्षेर्वसिष्ठस्य शतसङ्ख्यकान् पुत्रान् आघातयत् = घातितवान्, कल्माषपादेनेति भावः । तदेव स्वमाहात्म्यं सामान्येन स्पष्टीकरोति–विद्यावन्त्यपीति । विद्यावन्ति= प्रशस्तविद्यान्यपि, (प्राशस्त्ये मतुप्), कीर्तिमन्त्यपि = यशस्वीन्यपि, सदाचारा-वदातान्यपि = वेदविहिताचारनिर्मलान्यपि, प्रोच्चैः पौरुषभूषणान्यपि–प्रोच्चैः = अतिशयेन पौरुषम् = सामर्थ्यं भूषणं येषां तानि, अत्यधिकसामर्थ्यशालीन्यपि, कुलानि = लोकसमुदायान्, वंशान् वा, क्षणात् = एकेनैव क्षणेन, उद्धर्तुम् = उन्मूलयितुम्, ईशः=समर्थः अस्मि, किं पुनरन्यादृशानीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

ब्रह्मा का सिर काटा और विश्वामित्र ने (कल्माषपाद के द्वारा) वसिष्ठ के (सौ) पुत्रों को मरवाया ।

और—

विद्या से युक्त भी 'कीर्तिधवल भी' सदाचार से निर्मल भी, महान् पौरुष से विभूषित भी कुलों का मैं एक क्षण में उन्मूलन करने में समर्थ हूँ ॥ ३१ ॥

लोभ—तृष्णे ! जरा इधर तो आना ।

(तृष्णा का प्रवेश)

तृष्णा—आर्यपुत्र की क्या आज्ञा है ?

लोभ—प्रिये ! सुनो—

क्षेत्रग्रामवनाद्रिपत्तनपुरद्वीपक्ष्मामण्डल-
प्रत्याशायतसूत्रबद्धमनसां लब्धाधिकं ध्यायताम् ।
तृष्णे देवि यदि प्रसीदसि तनोष्यङ्गानि तुङ्गानि चेत्
तद्भोः प्राणभृतां कुतः शमकथा ब्रह्माण्डलक्षैरपि ॥ ३२ ॥

तृष्णा—आर्यपुत्र, स्वयमेव तावदहमस्मिन्नर्थे नित्यमभियुक्ता ।

क्षेत्रग्रामेति । क्षेत्रग्रामेत्यादि:—क्षेत्रम् = कर्षणयोग्या भूमिः, ग्रामः, वनम्, अद्रिः = पर्वतः, पत्तनम् = उपनगरम्, पुरम् = नगरम्, द्वीपम्, क्ष्मामण्डलम् = पृथिवीमण्डलम्, इत्युत्तरोत्तरमभिलष्यमाणानामेतेषां वस्तूनां प्रत्याशा = प्राप्तीच्छा सैव आयतम् = विस्तृतं, सूत्रम् = रज्जुः, तेन बद्धम् = नियन्त्रितं मनो येषां तादृशानाम्, लब्धाधिकम् = प्राप्तादग्रिमं, ध्यायताम् = चिन्तयताम्, प्राणभृताम्= प्राणिनाम्, तृष्णे देवि ! यदि प्रसीदसि = प्रसन्ना भवसि, (असंशये संशयोक्तिः), अङ्गानि = शरीरावयवान्, तुङ्गानि = पुष्टानीत्यर्थः, इतस्ततोऽभीष्टप्राप्त्याशया भ्रमणक्षमाणीति भावः । तनोषि = करोषि चेत् = यदि, तत् = तर्हि, भोः इति हर्षसूचकं सम्बोधनपदम्, ब्रह्माण्डलक्षैरपि = लक्षसंख्यकानां ब्रह्माण्डानां प्राप्त्याऽपि, एतेषां प्राप्त्याशाबद्धमनसां शमकथा = शान्तिवार्ता कुतः ? अविकाशात्विच्छेदा-भावादेते कदापि कथमपि शान्तिं न भजिष्यन्त इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

तृष्णेति । स्वयम् = भवताऽनादिष्टापि । अस्मिन्नर्थे=जनानां तृष्णाविजृम्भणे, नित्यम् = सततम्, अभियुक्ता = सलग्ना । साम्प्रतम्=अधुना । आर्यपुत्रस्याज्ञया =

खेत, गाँव, वन, पर्वत, उपनगर (पत्तन), नगर, द्वीप (यहाँ तक कि) पूरे पृथ्वीमण्डल की प्राप्ति की प्रत्याशा रूप विस्तृत रज्जु से बँधे मन वालों और प्राप्त से अधिक की बात सोचने वालों के अङ्गों को (प्रत्याशा से इधर उधर भटकने के लिए) यदि देवि तृष्णे ! तुम प्रसन्न होकर पुष्ट कर दो तो ऐसे प्राणियों को लाखों ब्रह्माण्ड मिल जाने पर भी शान्ति कैसे मिल सकेगी ? ॥ ३२ ॥

तृष्णा—आर्यपुत्र ! मैं स्वयं ही इस विषय में सदैव सचेष्ट हूँ । अब

सांप्रतमार्यपुत्रस्याज्ञया ब्रह्माण्डकोटयोऽपि न मे उदरं पूरयिष्यन्ति। (अज्जउत्त, सअं जेव्व दाव अहं एदस्सि अत्थे णिच्चं अहिजुत्ता। संपदं अज्जउत्तस्स अण्णाए ब्रह्मण्डकोटिओवि ण मे उदरं पूरइस्संदि)

क्रोधः– हिंसे, इत आगम्यताम्।

(प्रविश्य हिंसा)

हिंसा–एषास्मि। आज्ञापयत्वार्यपुत्रः। (एसम्हि। आणवेदु अज्जउत्तो)

क्रोधः–प्रिये, तावत्त्वया सहधर्मचारिण्या मातृपितृवधोऽपि ममेषत्कर एव। तथाहि–

केयं माता पिशाची क इव हि जनको भ्रातरः केऽत्र कीटा
वन्ध्योऽयं बन्धुवर्गः कुटिलविटसुहृच्चेष्टिता ज्ञातयोऽमी।

भवदादेशेन। ब्रह्माण्डकोट्योऽपि न मे उदरं पूरयिष्यन्ति = कोटिसंख्यकब्रह्माण्डान्यपि न मे तृप्तिं करिष्यन्ति, का कथा ब्रह्माण्डस्यैकस्य, कोटिसंख्यकब्रह्माण्डान्यप्यात्मसात्कृत्वा न हि तुष्टिं यास्यामि इति तृष्णोक्तेस्तात्पर्यम्।

क्रोध इति। सहधर्मचारिण्या = पत्न्या। ईषत्करः = सुकरः।

केयमिति। इयम् पिशाची = राक्षसी, तत्सदृशीत्यर्थः माता का = कीदृशी न कापीत्यर्थः, जनकः = पिता, क इव = न कोऽपीत्यर्थः, कीटाः = कीटसदृशा उपेक्षणीयाः, अत्र = जगति, के = न केऽपीत्यर्थः, अयम् बन्धुवर्गः वन्ध्यः = निष्फलः। अमी ज्ञातयः = गोत्रजाः, कुटिलविटसुहृच्चेष्टिताः—कुटिलाः = वक्राः, ये विटाः = धूर्तजारादयः, तद्वत् सुहृच्चेष्टितम् = मित्रताव्यवहारो येषां

आर्यपुत्र की आज्ञा से तो करोड़ों ब्रह्माण्ड भी (मेरे द्वारा निगल लिये जाने पर) मेरे उदर को पूर्ण नहीं कर पाएँगे।

क्रोध—हिंसे ! इधर आओ ! (हिंसा का प्रवेश)

हिंसा—यह (उपस्थित) हूँ। आज्ञा दें आर्यपुत्र।

क्रोध—प्रिये ! तुम जैसी सहधर्मचारिणी के द्वारा मुझे माता-पिता का वध भी सुकर ही है। क्योंकि—

इस जगत् में पिशाची-तुल्य माता कौन है ? पिता कौन है ? कीट सदृश (तुच्छ) भाई कौन हैं ? यह बन्धुवर्ग तो निष्फल ही है, ये ज्ञातिजन तो कुटिल जार आदिधूर्तों के समान कृत्रिम सौहार्दपूर्ण व्यवहार ही करने वाले हैं :

(हस्तौ निष्पीड्य)

आगर्भं यावदेषां कुलमिदमखिलं नैव निःशेषयामि
स्फूर्जन्तः क्रोधवह्नेर्न दधति विरतिं तावदङ्गे स्फुलिङ्गाः ।। ३३ ।।

(विलोक्य) एष स्वामी। तदुपसर्पामः। (सर्वे उपसृत्य) जयतु जयतु देवः।

महामोहः—श्रद्धायास्तनया शान्तिरस्मद्द्वेषिणी। सा भवद्भिरवहितैर्निग्राह्येति।

सर्वे—यदादिशति देवः।

तादृशाः (सन्ति) यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, एषाम् = भ्रातृबन्धुवर्गज्ञातीनाम्, आगर्भम्=गर्भावधि इदम् अखिलम्=समस्तम्, कुलम्=वंशम्, नैव निःशेषयामि = निःशेषं करोमि, तावत्=तावत्कालपर्यन्तम्, अङ्गे=मदीये शरीरे, स्फूर्जन्तः=देदीप्यमानाः, क्रोधवह्नेः = क्रोधानलस्य, स्फुलिङ्गाः = अग्निकणाः, विरतिं न दधति = विरता न भवन्ति। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ३३ ॥

महामोह इति। तनया=पुत्री, शान्तेः श्रद्धामूलत्वात् तत् पुत्रीत्वेन निरूपणम्। अस्मद्द्वेषिणी = अस्माकं विरुद्धमाचरतीत्यर्थः। अवहितैः = सावधानैः। निर्ग्राह्या = दण्डनीया।

(हाथों को मलकर)

जब तक गर्भसमेत इनके समग्र कुल को समाप्त नहीं कर लेता हूँ तब तक मेरे शरीर में देदीप्यमान कोपाग्नि की चिनगारियाँ शान्त नहीं होंगी ॥ ३३ ॥

(देखकर) यह स्वामी (महामोह) हैं। तो समीप जाता हूँ। (सब समीप जाकर) महाराज की जय हो।

महामोह—श्रद्धा की पुत्री शान्ति हमसे द्वेष करती है। उसे तुम लोग सावधान होकर निगृहीत (दण्डित) करो।

सब—महाराज की जो आज्ञा।

(इति निष्क्रान्ताः)

महामोहः—श्रद्धायास्तनया इत्युपक्षेपेणोपायान्तरमपि हृदयमारूढम्। तथाहि। शान्तेर्माता श्रद्धा। सा च परतन्त्रा। तत्केनाप्युपायेनोपनिषत्सकाशात्तावच्छ्रद्धापकर्षणं कर्तव्यम्। ततो मातृवियोगदुःखादतिमृदुलतया शान्तिरुपरता भविष्यति। श्रद्धां व्याक्रष्टुं मिथ्यादृष्टिरेव विलासिनी परं प्रगल्भेति तदस्मिन्विषये सैव नियुज्यताम्। (पार्श्वतो विलोक्य) विभ्रमावति, सत्वरमाहूयतां मिथ्यादृष्टिविलासिनी।

विभ्रमावती—यद्देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि)।

उपक्षेपेण = उपक्रमेण। हृदयमारूढम् = हृदयं प्रत्यागतम्। सा = शान्तिः। परतन्त्रा = श्रद्धाधीना। श्रद्धापकर्षणम् = श्रद्धाया अपकर्षणम् = दूरीकरणम्। उपरता = मृता। व्याक्रष्टुम् = दूरीकर्तुम्। प्रगल्भा=समर्थेत्यर्थः।

मिथ्यादृष्टिरिति। चिरदृष्टस्य=चिरकालादनन्तरं लब्धदर्शनस्य। प्रेक्षिष्ये= द्रक्ष्यामि। उपालप्स्यते = उपालम्भं प्रदास्यति।

विभ्रमावतीति। आत्मानमेव न वेत्स्यति = त्वन्मुखदर्शनजन्यानन्दमग्नो महाराज आत्मानमेव विस्मरिष्यति।

(निकल गये)

महामोह—'श्रद्धा की तनया है' इस प्रसङ्ग से एक दूसरा उपाय भी मन में सूझ गया। वह यह कि शान्ति की माता श्रद्धा है, इसलिए वह (शान्ति) परतन्त्र (अर्थात् श्रद्धा के अधीन) है। इसलिए किसी उपाय से उपनिषद् के पास से सर्वप्रथम श्रद्धा को हटा लिया जाय। उसके बाद माता के वियोग से शान्ति अत्यन्त मृदुल होने के कारण स्वयं अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो जायगी। श्रद्धा को (उपनिषद् के पास से) दूर हटाने में विलासिनी मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त समर्थ है। इसलिए इस विषय में वही नियुक्त की जाय। (बगल की ओर देखकर) विभ्रमावति! मिथ्यादृष्टि विलासिनी को शीघ्र बुलाओ।

विभ्रमावती—महाराज की जो आज्ञा।

(निष्क्रम्य मिथ्यादृष्टया सह प्रविशति)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, चिरदृष्टस्य महाराजस्य कथं मुखं प्रेक्षिष्ये। न खलु मां महाराज उपालप्स्यते ? (सहि, चिरदिट्ठस्स महाराअस्स कहं मुहं पेक्खिस्सं । णं खु मं महाराओ उवालहिस्सदि ?)

विभ्रमावती—सखि, त्वन्मुखदर्शनेनात्मानमेव महाराजो न वेत्स्यति कुत उपालप्स्यते ? (सहि, तुअ मुहदंसणेण अप्पाणं जेव्व महाराओ ण वेइस्सदि । कुदो उवालहिस्सदि ?)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, किं मामलीकसौभाग्यां संभाव्य विडम्बयसि । (सखि, किं मं अलीअसोहग्गां संभाविअ विलम्बेसि)

विभ्रमावती—सखि, सांप्रतमेव प्रेक्षिष्येऽलीकत्वं सौभाग्यस्य । अन्यच्च निद्राघूर्णाकुले प्रियसख्या लोचने पश्यामि । तर्हि किं खलु प्रियसख्या लोचनस्य विनिद्रतायाः कारणम् । (सहि, संपदं जेव्व पेक्खिस्से अलिअत्तणं सोहग्गस्स । अण्णच्च णिद्दाघुम्माउले प्पिअसहीए लोअणे पेक्खेमि । ता किं खु प्पिअसहीए लोअणस्स विणिद्ददाए कालणम्)

मिथ्यादृष्टिरिति । अलीकसौभाग्याम् = मिथ्याभाग्यवतीम् । सम्भाव्य = मत्वा । विडम्बयसि = उपहससि ।

विभ्रमावतीति । सौभाग्यस्य अलीकत्वम् = असत्यत्वम्, विपरीतलक्षणया सत्यत्वमित्यर्थः । निद्राघूर्णाकुले = निद्रया घूर्णे आकुले च । विनिद्रतायाः =

(निकलकर पुनः मिथ्यादृष्टि के साथ विभ्रमावती का प्रवेश)

मिथ्यादृष्टि—सखि ! बहुत दिनों के बाद दृष्टि के सामने पड़ने पर महाराज का मुख कैसे देख सकूँगी ? महाराज निश्चय ही मुझे उलाहना देंगे ।

विभ्रमावती—सखि ! तुम्हारा मुख देखते ही महाराज अपने को ही नहीं जान पायेंगे उलाहना कहाँ से दे सकेंगे ?

मिथ्यादृष्टि—सखि ! मुझे मिथ्या सौभाग्यवाली समझकर क्यों बना रही हो ?

विभ्रमावती—सखि ! अभी ही तुम्हारे सौभाग्य के मिथ्यात्व को देखूँगी । एक बात और है कि तुम्हारे नेत्रों में रात जगरण की खुमारी दिख पड़ती है तो

मिथ्यादृष्टिः—सखि, एकवल्लभापि या स्त्री भवति तस्या अपि निद्रा दुर्लभा। किं पुनरस्माकं सकललोकवल्लभानाम्। (सहि, एकवल्लहावि जा इत्थिआ भवई ताएवि णिद्दा दुल्लहा। किं उण अम्हाणं सअललोअवल्लहाणम्)

विभ्रमावती–के के पुनः प्रियसख्या वल्लभाः। (के के उण प्पिअसहीए वल्लहा)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, प्रथमं महाराजः, अत उपरि कामः, क्रोधः, लोभः, अहंकारश्च। अथवालं विशेषेण। अस्मिन्कुले यो जातो बालः स्थविरो युवापि हृदयनिहितया मया विना रात्रिदिवसान्नाभिरमते। (सहि, पढमं महाराओ, अदो उवरि कामो, क्कोहो, लोहो, अहंकालो त्ति। अधवा अलं विसेसेण। एत्थ कुले जो जादो बालो ट्ठविरो जुआणोवि हिअअणिहिदए मए विणा रत्तिदिअहाइं ण अहिरमई)

जागरस्य। अन्यासक्तं प्रियं प्रतीक्षमाणा त्वं रात्रौ निद्रां न लब्धवतीति विभ्रमावत्या उक्तेरभिप्रायः।

मिथ्यादृष्टिरिति। एकवल्लभा—एकः वल्लभः = प्रियः यस्यास्तादृशी। सकललोकवल्लभानाम् = सर्वजनप्रियाणाम्। यस्या एक एव प्रियो भवति साऽपि तं प्रियं प्रतीक्षमाणा रात्रौ निद्रां न लभते, का वार्ता पुनरस्माकम्, यासामनेके वल्लभा इति मिथ्यादृष्टिकथनस्याभिप्रायः।

अस्मिन् कुले = मोहवंशे। स्थविरः = वृद्धः। हृदयनिहितया मया विना नाभिरमते मां हृदये निधायैव निर्वृतिं लभते नान्यथेति भावः।

प्रिय सखी के नेत्र की विनिद्रता का क्या कारण है? (अर्थात् रात भर अन्यासक्त प्रिय की प्रतीक्षा ही तो इसका कारण नहीं है?)।

मिथ्यादृष्टि—सखि! जिसके एक ही प्रिय होता है उसी स्त्री को भी नींद हराम हो जाती है, फिर हमारी क्या बात जिसका सारा संसार ही वल्लभ है?

विभ्रमावती—अच्छा, कौन कौन प्रिय सखी के वल्लभ हैं?

मिथ्यादृष्टि—सखि, सबसे पहिले महाराज, उसके बाद काम, क्रोध, लोभ और अहङ्कार। अथवा विशेष की बात छोड़ों। इस कुल में जो भी उत्पन्न है, बच्चा, बूढा जवान सभी कोई मुझे बिना हृदय में रखे चैन नहीं पाता है।

विभ्रमावती—नन्वस्य कामस्य रतिः, क्रोधस्य हिंसा, लोभस्य तृष्णा, प्रियतमेति श्रूयते। तासां कथं प्रियतमान्नित्यं रमयन्तीर्ष्यां न संजनयसि (णं एत्थं कामस्स रदी, क्कोहस्स हिंसा, लोहस्स तिण्हा परमप्पिआ सुणीअदि। तासं कधं पिअदमाणं निच्चं रमन्दी इस्सं ण संजाणेसि)

मिथ्यादृष्टिः—सखि, ईर्ष्येति कथं भण्यते। ता अपि मया विना मुहूर्तमपि न तुष्यन्ति। (सहि, इस्सेत्ति कहं भणीअदि। ता अवि मए विणा मुहूतंवि ण तुस्सति)

विभ्रमावती—सखि, अत एव भणामि त्वत्सदृशी सुभगास्यां पृथिव्यां नास्ति, यस्याः सौभाग्यमहर्द्धिविधुरितहृदयाः सपत्न्यः प्रसादं प्रतीच्छन्ति। सखि, अन्यद् भणामि एवं निद्राकुलनयनविसंस्थुलस्खलच्च-

---

विभ्रमावतीति। तासाम् = रतिहिंसातृष्णानाम्। प्रियतमान् = कामक्रोधलोभाख्यान् प्रियान्। रमयन्ती = स्वेन सह विहारयन्ती। रतिहिंसातृष्णाः स्वस्वप्रियं त्वया सह रममाणं दृष्ट्वा त्वां प्रति स्त्रीस्वभावसुलभामीर्ष्यां कथं न कुर्वन्तीति विभ्रमावतीप्रश्नस्याशयः।

सुभगा = भाग्यशालिनी। यस्याः = तव मिथ्यादृष्टेः। सौभाग्यमहर्द्धिविधुरितहृदयाः—सौभाग्यस्य महर्द्धिः = महती ऋद्धिरिति महर्द्धिः = महासम्पत्तिः, तया विधुरितम् = विरहितं हृदयं यासां ताः। सपत्न्यः प्रसादम् = प्रसन्नताम्। प्रतीच्छन्ति = वाञ्छन्ति। निद्राकुलेत्यादिः—निद्रया आकुलाभ्यां नयनाभ्यां विसंस्थुलौ = अस्थिरौ, अत एव स्खलन्तौ = अयथास्थानन्यस्यमानौ यौ चरणौ तयोर्यौ

विभ्रमावती—अरे, इस काम की रति, क्रोध की हिंसा, लोभ की तृष्णा प्रियतमा है, ऐसा सुना जाता है। उनके प्रियतमों को नित्य रमण कराती तू उन (इत्यादि) के (हृदय में) ईर्ष्या क्यों नहीं पैदा करती हो ?

मिथ्यादृष्टि—ईर्ष्या को क्या कहती हो ? वे भी मेरे विना क्षण भर भी चैन नहीं पाती हैं।

विभ्रमावती—सखि, इसीलिए मैं कहती हूँ कि तुम्हारी जैसी सौभाग्यवती इस संसार में नहीं हैं, जिसके सौभाग्य की महासम्पत्ति से पराजित हृदय वाली सपत्नियाँ भी अनुग्रह की कामना करती हैं। सखि, एक बात और कहती हूँ कि

रणनूपुरझङ्कारमुखरया गत्या महाराजं संभावयन्ती शङ्कितहृदयं करिष्यति प्रियसखीति तर्कयामि। (सहि अदो जेव्व भणामि तुहसरिसो सुहआ इत्थिआ पुहिवीए णत्थि। जाए सोअगमहद्धिविहुरिअहिअआ सावत्तिओ प्पसाअं पडिच्छन्ति सहि, अएणच्च भणामि। एवं णिद्दाउलणअणविसंठुलक्खलन्तचलणणेउलंझकालमुहलाएगदोए माहाराअं संभावयंदी संकिदहिअअं करिस्सदि पिअसही ति तक्केमि)

मिथ्यादृष्टिः— किमत्र शङ्कितव्यम्। न चास्माकं महाराजनियुक्तानामेवैषोऽविनयः। अपि च सखि, दर्शनमात्रप्रसन्नानां पुरुषाणां पुरतः कीदृशं भयम। (किं एत्थ संकिदव्वं। णं अम्हाणं महाराअणिउत्ताणं जेव्व एसो अविणओ। अविअ सहि, दंसणमत्तप्पसण्णाणं पुरीसाणं पुरो कीरिसं भअम्)

महामोहः—(विलोक्य) अये, संप्राप्तेव प्रिया मिथ्यादृष्टिः। या एषा—

नूपुरौ तयोर्झङ्कारेण = शब्देन मुखरया = शब्दायमानया। गत्या = गमनेन। महाराजम् = मोहम्। सम्भावयन्ती = सत्कुर्वती। शङ्कितहृदयं करिष्यति = त्वमात्मन ईदृश्या गत्या महाराजस्य हृदये शङ्कामुत्पादयिष्यति यदियं मिथ्यादृष्टिः परपुरुषेण सह क्षपां क्षपितवतीत्यर्थः।

मिथ्यादृष्टिरिति। महाराजनियुक्तानाम्—महाराजेन=महामोहेन नियुक्ताः= पुरुषान्तरसङ्गमार्थमादिष्टाः, तासाम्। दर्शनमात्रप्रसन्नान म् = रमणीविलोकनमात्रेणैव प्रसन्नानाम्। पुरुषाणां पुरतः कीदृशं भयम्—यदा रमणीविलोकनमात्रेणैवानन्दनिमग्नाः पुरुषा तद्रमणीकृतपरपुरुषसङ्गमरूपमपराधं वोद्धुमक्षमा भवन्ति तदा पुरुषाणां पुरतस्ता भयं न कुर्युरिति भावः।

निद्रा से अलसाये नेत्रों के कारण अस्थिर एवं लड़खड़ाते चरणों के नूपुर की झङ्कार से शब्दायमान चाल से महाराज को सत्कृत करती हुई उनके हृदय को तू (परपुरुषरमणविषयक) शङ्का से युक्त कर दोगी, ऐसा मेरा ख्याल है।

मिथ्यादृष्टि—इसमें शङ्का की क्या बात है? महाराज के द्वारा ही (ऐसा करने के लिए) नियुक्त हमारा यह आचरण अविनय है ही नहीं। दूसरे, सखि! हमारे विलोकनमात्र से प्रसन्न हो जाने वाले पुरुषों के सामने हमें भय कैसा?

महामोह—(देखकर) अरे, प्रिया मिथ्यादृष्टि पहुँच चुकी है। जो यह—

श्रोणीभारभरालसादरगलन्माल्योपवृत्तिच्छला-
ल्लीलोत्क्षिप्तभुजोपदर्शितकुचोन्मीलन्नखाङ्कावलिः ।
नीलेन्दीवरदामदीर्घतरया दृष्ट्या धयन्ती मनो
दोषान्दोलनलोलकङ्कणरणत्कारोत्तरं सर्पति ॥ ३४ ॥

विभ्रमावती—एष महाराजः । उपसर्पतु प्रियसखी । (एसो महाराम्रो उवसत्पदु पिअसही)

मिथ्यादृष्टिः—(उपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः । (जअदु जग्रदु महाराग्रो)

महामोहो मिथ्यादृष्टिगतिवर्णयन्नाह—**श्रोणीभारेति ।**

श्रोणीभारभरालसा-श्रोणी = नितम्बः, तस्या भारः = गुरुता, तस्य भरः = अतिशयः, तेन अलसा = मन्दगमना, दरगलन्माल्योपवृत्तिच्छलात्-दरम् = ईषत् गलतः = शिथिलधम्मिल्लदेशात् स्रंसमानस्य माल्यस्य या उपवृत्तिः = यथास्थान-स्थापनम्, तस्य छलात् = व्याजात्, व्याजमवलम्ब्येत्यर्थः, लीलोत्क्षिप्तभुजोपदर्शित-कुचोन्मीलन्नखाङ्कावलिः—लीलया = विलासेन उत्क्षिप्तौ = उत्थापितौ यौ भुजौ= बाहू, ताभ्याम् उपदर्शिता = दृष्टिगोचरीकृता, कुचयोः उन्मीलन्ती = प्रकाश-माना, नखाङ्कावलिः = नखचिह्नपङ्क्तिर्यया सा' नीलेन्दीवरदामदीर्घतरया—नीलेन्दीवराणाम् = नीलकमलानां दाम = माला तद्वत् दीर्घतरया = अत्यन्ताय-तया, दृष्ट्या = कटाक्षमालया, मनः यूनामिति भावः, धयन्ती = पिबन्ती, अत्यधिकमाकर्षन्तीत्यर्थः, दोषान्दोलनलोलेत्यादिः—दोष्णोः = भुजयोः, आन्दोल-नेन=चालनेन लोलयोः = चलयोः, कङ्कणयोः रणत्कारः=झणत्कारः, तेनोत्तरम्= युक्तं यथा भवति तथा, सर्पति = आगच्छति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

नितम्ब के भाराधिक्य से अलस, (केशपाश से) तनिक खिसकती पुष्पमाला को यथास्थान निवेशित करने के व्याज से ऊपर उठाये हाथों से कुचों के प्रकाशमान नखक्षतों को दिखाती, नीलकमलमाला के समान विशाल कटाक्षमाला से (युवकों के) मन को पीती (आकर्षित करती), भुजाओं के डोलने से चञ्चल कङ्कणों को झङ्कृत करती आ रही है ॥ ३४ ॥

विभ्र ावती—यह महाराज हैं । प्रियसखी समीप चलें ।

मिथ्यादृष्टि—(समीप पहुँच कर) महाराज की जय हो ! जय हो !

महामोहः—प्रिये,

दलितकुचनखाङ्कमङ्कपालीं
रचय ममाङ्कमुपेत्य पीवरोरु।
अनुहर हरिणाक्षि शंकराङ्क-
स्थितहिमशैलसुताविलासलक्ष्मीम् ॥ ३५ ॥

(मिथ्यादृष्टिः सस्मितं तथा करोति)

महामोहः—(आलिङ्गनसुखमभिनीय) अहो, प्रियायाः परिष्वाङ्गा-त्परावृत्तं नवयौवनम् । तथाहि—

दलितेति—पीवरोरु-पीवरौ = मांसलौ, ऊरू यस्यास्तत्सम्बोधनं पीवरोरु= मांसलोरुदेशे ! हरिणाक्षि = मृगनयने ! मम = महामोहस्य, अङ्कम् = क्रोडमुपेत्य= प्राप्य, दलितकुचनखाङ्कम्—दलिताः = विकसिताः, प्रकटा इत्यर्थः, कुचयोः, स्तनयोः, नखाङ्काः = नखचिह्नानि यस्यां क्रियायां यथा स्यात्तथा, अङ्कपालीम् = आलिङ्गनम्, रचय = कुरु, देहीत्यर्थः । शङ्कराङ्केत्यादिः—शङ्करस्य = शिवस्य अङ्के स्थिता हिमशैलसुता = पार्वती तस्या विलासः, तस्य लक्ष्मीम् = शोभाम्, अनुहर=अनुकुरु, ममाङ्के स्थिता त्वं शिवाङ्कस्थिता पार्वतीव शोभामाप्नुहीत्यर्थः । अनेन उमामहेश्वरयोरिवावयोर्निर्बाधं विलासः प्रवर्तमानो भवत्विति ध्वनितम् । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । उपमाऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

मिथ्यादृष्टिरिति । सस्मितम्=ईषद्धासपूर्वकम् । तथाकरोति = महामोह-मालिङ्गति ।

महामोह इति । 'अहो' इति प्रशंसासूचकमव्ययमत्र । परिष्वङ्गात् = आलिङ्गनात् । परावृत्तम् = प्रत्यागतम् । प्रियालिङ्गितस्य मम गतयौवनस्यापि देहे पुनरागतमिव यौवनमिति मन्येऽहमिति भावः ।

महामोह—प्रिये,

हे पीवरोरु ! मृगनयने ! मेरे अङ्क में आकर कुचों को प्रकट करती मुझे आलिङ्गन दो । शिव के अङ्क में स्थित पार्वती के विलास की शोभा को प्राप्त कर लो ॥ ३५ ॥ (मिथ्यादृष्टि मुस्कराहट के साथ वैसा करती है)

महामोह—(आलिङ्गनसुख का अभिनय कर) अहो ! प्रिया के आलिङ्गन से (मुझ में) नई जवानी वापस आ गयी । क्योंकि—

यः प्रागासीदभिनववयोविभ्रमावाप्तजन्मा
चित्तोन्माथी विविधविषयोपप्लवानन्दसान्द्रः।
वृत्तीरन्तस्तिरयति तवाऽऽश्लेषजन्मा स कोऽपि
प्रौढप्रेमा नव इव पुनर्मान्मथो मे विकारः॥ ३६॥

मिथ्यादृष्टिः—महाराज, अहमपि सांप्रतं नवयौवना संवृत्ता। न

प्रियालिङ्गनमाहात्म्यं प्रतिपादयन्नाह—यः **प्रागासीदिति**। अभिनववयोविभ्रमावाप्तजन्मा अभिनवस्य = नूतनस्य, वयसः=अवस्थाया यो विभ्रमः=विलासः, तस्मादवाप्तम् = प्राप्तम्, जन्म = आविर्भावो येन सः, विविधविषयोपप्लवानन्दसान्द्रः—विविधानां विषयाणाम् = भोग्यपदार्थानां य उपप्लवः = सम्बन्धस्तेन य आनन्दः = सुखम्, तेन सान्द्रः = घनीभूतः, चित्तोन्माथी = हृदयोन्मादकः, यः = यादृश इत्यर्थः, मे मम, मान्मथः—मन्मथस्यायमिति मान्मथः ('तस्येदम्' इत्यण्) कामसम्बन्धी, विकारः = कामवेग इत्यर्थः, प्राक् = यौवने वयसि, आसीत्, तवाश्लेषजन्मा = तव मिथ्यादृष्टेरालिङ्गनात् प्रादुर्भूतः, प्रौढप्रेमा—प्रौढम् = उद्रिक्तं प्रेम = प्रीतिर्यस्मिन् सः पुनः = भूयः, नव इव = अननुभूत इव, कोऽपि = अनुभवैकवेद्यः, सः = तादृश एव, मान्मथो विकारः = कामवेगः, मम अन्तःवृत्तीः = मनोवृत्तीः, तिरयति = तिरस्करोति। मम यौवने वयसि यादृशः कामविकार आसीत् स एवेदानीं त्वदालिङ्गनाद् भूयः प्रादुर्भूय ममान्तःवृत्तीस्तिरस्करोतीति भावः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्॥ ३६॥

मिथ्यादृष्टिरिति। साम्प्रतम् = इदानीं भवता सङ्गमस्य काले। नवयौवना नवं यौवनं यस्यास्तादृशी। संवृत्ता = जाता। भावानुबन्धः = हृदयगतः, प्रेमा =

नव यौवनावस्था का विलासजन्य, विविधविषयसम्बन्धी सुखों से घनीभूत जो कामविकार कभी पहले (युवावस्था में) था, तेरे आलिङ्गन से उत्पन्न, हृदय को उन्मत्त बना देने वाला वही उद्रिक्त प्रीति वाला अनिर्वचनीय पुनः नूतन-सा कामविकार मेरी अन्तःवृत्तियों को तिरोहित कर रहा है॥ ३६॥

मिथ्यादृष्टि—महाराज! मैं भी इस समय नवयौवना-सी हो रही हूँ। निश्चय ही वास्तविकता एवं निष्कपटता से जुड़ी प्रीति समय के द्वारा भी कभी

खलु भावानुबन्धः प्रेमा कालेनापि विघटते। आज्ञापयतु महाराजः किंनिमित्तं भट्टारकेण स्मृतास्मि। (महाराअ, अहंवि संपदं नवजोवणा संवुत्ता। ण खु भावाणुवन्धो प्पेमा कालेणावि विघडिअदि। आणवेदु महाराओ किंणिमित्तं भट्टिणा सुमरिदम्हि)

महामोहः—प्रिये,

स्मर्यते सा हि वामोरु या भवेद्धृदयाद्वहिः।
मच्चित्तभित्तौ भवती शालभञ्जीव राजते ॥ ३७ ॥

मिथ्यादृष्टिः—महान्प्रसादः। (महप्पसादो)

स्नेहः, कालेनापि = समयेनापि, विघटते = न्यूनतां याति। भट्टारकेण = स्वामिना भवता।

स्मर्यत इति। वामोरु—वामौ = सुन्दरौ, ऊरू = जङ्घे यस्यास्तत्सम्बोधनं वामोरु = सुन्दरजङ्घे ! हीति प्रसिद्धौ। सा स्मर्यते या हृदयाद् वहिः चित्ताद्वहिः, भवेत्। तव स्मरणं न युक्तमित्याह— भवती मच्चित्तभित्तौ—मम चित्तमेव भित्ति-स्तत्र, शालभञ्जीव = लिखितपुत्तलिकेव राजते = शोभते। उपमालङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३७ ॥

मिथ्यादृष्टिरिति। महान् प्रसादः = महती कृपा।

फीकी नहीं की जा सकती है। महाराज वतायें कि मैं किस प्रयोजन से याद की गयी हूँ।

महामोह—प्रिये;

सुजङ्घे ! याद तो वह किया जाता है जो हृदय से वाहर हो। तुम तो मेरी चित्त-भित्ति पर आलिखित पुत्तलिका के समान (सतत) विराजमान रहती हो (अतः तुम्हें याद करने का प्रश्न ही नहीं है) ॥ ३७ ॥

मिथ्यादृष्टि— (यह) आप की महती कृपा हैं।

महामोहः—यथैव प्रकाशितैरङ्गैः सर्वत्र विचरसि तथैव प्रवर्तितव्यम् । अन्यच्च दास्याः पुत्री श्रद्धा विवेकेन सहोपनिषदं संयोजयितुं कुट्टीनीभावं प्रतिपन्ना । अतः—

प्रतिकूलामकुलजां पापां पापानुवर्तिनीम् ।
केशेष्वाकृष्यतां रण्डां पाषण्डेषु निवेशय ।। ३८ ।।

मिथ्यादृष्टिः—एतावन्मात्रेऽपि विषये अलं भर्तुरभिनिवेशेन । वचनमात्रेणैव भर्तुर्दासी श्रद्धा सर्वामाज्ञां करिष्यति । सा खलु मया मिथ्या धर्मो, मिथ्या मोक्षो, मिथ्या वेदमार्गो, मिथ्या सुखविघ्नकराणि शास्त्रप्रलपितानि, मिथ्या स्वर्गफलमिति भण्यमाना वेदमार्गमेव परिहरिष्यति, किं पुनरुपनिषदम् । अपि च । विषयानन्दविमुक्ते मोक्षे दोषान्दर्शयन्त्योपनिषदपि विरक्ताः करिष्यतेऽचिरं मया श्रद्धा । (एद्दहमेत्तके वि विसए अलं भट्टिणो अहिणिवेसेण । वअणमत्तकेण । जेव्व भट्टिणो

महामोह इति । 'दास्याः पुत्री' इति निन्दायाम् । कुट्टिनीभावम् = दूतीभावम् । प्रतिपन्ना = गता ।

प्रतिकूलामिति । प्रतिकूलाम् = अस्मदननुकूलकार्यकारिणीम् , अकुलजाम्= दुष्कुलोत्पन्नाम्, पापाम् = दुराचाराम्, पापानुवर्तिनीम्—पापानाम्=शमदमादीनाम् अनुवर्तिनीम् = अनुगामिनीम्, तां रण्डाम् = नियामकशून्याम्, श्रद्धाम्, केशेष्वाकृष्य, पाषण्डेषु = सद्धर्मशून्येषु निवेशय = नियोजय ।। ३८ ।।

एतावन्मात्रेऽपि विषये = अस्मिन्नत्यन्तलघुनि कार्ये । अभिनिवेशेन = मनो-

---

महामोह—जिस तरह अनावृत अङ्गों से सर्वत्र विचरण करती हो वैसे ही घूमा करो । और दूसरी बात यह कि दासी की छोकरी श्रद्धा विवेक के साथ उपनिषद् (देवी) को मिलाने के लिए कुटनी बनी है । अतः—

हमारे विरुद्ध आचरण करने वाली, वदजात पापिनी, पापियों की अनुगामिनी उस राँड को केशग्रहण पूर्वक घसीट कर पाषण्डों के हवाले कर दो ।३८।

मिथ्यादृष्टि—ऐसे छोटे से कार्य के लिए स्वामी चिन्ता न करें । मेरे वचनमात्र से श्रद्धा आप की दासी वनकर सभी आज्ञा का पालन करेगी । धर्म मिथ्या, मोक्ष मिथ्या, वेदमार्ग मिथ्या, सुखों में विघ्न करने वाले शास्त्र के वचन मिथ्या और स्वर्ग फल मिथ्या है—इस प्रकार मेरे द्वारा कही गयी वह निश्चय ही

दासी सद्धा सव्वं ग्रण्णां करिस्सदि। सा खु मए मित्या धम्मो, मित्या मोक्खो, मित्था वेअमग्गो मित्था सुहविग्घग्रराइं, सात्थपलविदाइं, मित्था सग्गफलं ति भणिअन्ती वेअमग्गं गेव्व पलिहलिस्सदि, किं उण उवणिसदम्। अवि ग्र। विसआणन्दविमुक्के मोक्खे दोसाणं दंसअन्तीए उवणिसदवि विरत्ता कलिस्सदि ग्रचिलं मए सद्धा।)

महाराजः—यद्येवं सुष्ठु मे प्रियं संपादितं प्रियया। (पुनरालिङ्ग्य चुम्बति)

मिथ्यादृष्टिः—भट्टारकस्य प्रकाशे एवं प्रवृत्तेन लज्जे। (भट्टिणो प्पआसे एव्वं प्पउत्तेण लज्जेमि)

महामोहः—तद्भवतु। स्वागारमेव प्रविशामः (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीकृष्णमिश्रयतिविरचिते प्रबोधचन्द्रोदये द्वितीयोऽङ्कः॥ २॥

व्यापारेण। एतादृशलघुकार्ये भवान् मा चिन्तां करोत्वित्यर्थः।

भट्टारकस्य = सूर्यस्य। एवंप्रवृत्तेन = भवतश्चुम्बनेन।

महामोह इति। स्वागारम् = निजभवनम्।

इति कल्याण्याख्यायां प्रबोधचन्द्रोदयव्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः॥ २॥

वेदमार्ग को ही छोड़ देगी, फिर उपनिषद् को क्या बात? फिर भी विषयानन्द से शून्य मोक्षविषयक दोषों को दिखाकर मेरे द्वारा श्रद्धा शीघ्र ही उपनिषत् से भी विरक्त कर दी जायगी।

महाराज—यदि ऐसी बात है तब तो तुमने मेरा बड़ा प्रिय कार्य किया। (फिर गले लगाकर चूमता है)

मिथ्यादृष्टि—दिन के समय आप की ऐसी प्रवृत्ति से लज्जा लगती है।

महामोह—ग्रच्छी बात है। हम अपने ग्रावास गृह में ही चलें। (सब चले जाते हैं)

इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय की 'कल्याणी' व्याख्या में द्वितीय ग्रङ्क समाप्त हुग्रा।

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शान्तिः करुणा च)

शान्तिः —(सास्रम्) मातः मातः, क्वासि। देहि मे प्रियदर्शनम्।

ततः—

मुक्तातङ्ककुरङ्गकाननभुवः शैलाः स्खलद्वारयः
पुण्यान्यायतनानि संततपोनिष्ठाश्च वैखानसाः।
यस्याः प्रीतिरमीषु सात्रभवती चण्डालवेश्मोदरं
प्राप्ता गौः कपिलेव जीवति कथं पाषण्डहस्तं गता ॥ १ ॥

मुक्तातङ्केति। मुक्तातङ्ककुरङ्गकाननभुवः-मुक्तः = परित्यक्तः, आतङ्कः = भयं यैस्तादृशाः कुरङ्गाः = मृगा यत्र तादृश्यः काननभुवः = वनस्थल्यः, स्खलद्वारयः—स्खलन्ति = पतन्ति, वारीणि = जलानि येभ्यस्तादृशाः, जलप्रपातयुक्ता इत्यर्थः, शैलाः = पर्वताः, पुण्यानि = पवित्राणि, आयतनानि = देवमन्दिराणि, सन्ततपोनिष्ठाः—सन्ततम् = निरन्तरम् तपोनिष्ठाः=तपस्यानिरताः, वैखानसाश्च= वानप्रस्थाश्च, अमीषु = पूर्वोक्तेषु, यस्याः = श्रद्धायाः, प्रीतिः = अनुरागः, सा अत्रभवती = पूज्या श्रद्धा, पाषण्डहस्तंगता—धर्मादिशून्यजनानामधिकारं गता, चाण्डालवेश्मोदरं प्राप्ता — चाण्डालगृहाभ्यन्तरं गता कपिला गौरिव कथम् = केन प्रकारेण जीवति = जीवनं यापयति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। उपमाऽलङ्कारः ॥ १ ॥

(तदनन्तर शान्ति और करुणा का प्रवेश)

शान्ति—(रोकर) माँ ! माँ कहाँ हो ? मुझे प्रिय दर्शन दो।

निर्भय हरिणों से युक्त वन स्थलियों, निर्झरों से युक्त पर्वतों, पवित्र देवमन्दिरों सतत तपोनिष्ठ मुनिजनों से स्नेह करती है वह पूज्य श्रद्धा, चाण्डाल के घर में पड़ी कपिला गौ के समान पाषण्डों के हाथ पड़कर कैसे जीती होगी ?।१॥

अथवाऽलं जीवितसंभावनया। यतः—

मामनालोक्य न स्नाति न भुङ्क्ते न पिबत्यपः।
न मया रहिता श्रद्धा मुहूर्तमपि जीवति॥ २॥

तद्विना श्रद्धया मुहूर्तमपि शान्तेर्जीवितं विडम्बनमेव। तत्सखि करुणे, मदर्थं चितामारचय। यावदचिरमेव हुताशनप्रवेशेन तस्याः सहचरी भवामि।

करुणा—(सास्रम्) सखि, एवं विषमज्वलनज्वालोल्कादुःसहान्यक्ष

अलं जीवितसंभावनया = अद्यप्रभृति सा जीवन्ती भविष्यतीति विचारणा व्यर्थैवेति भावः।

मामनालोक्येति। माम् = स्वपुत्रीं शान्तिम्, अनालोक्य = अदृष्ट्वा, न स्नाति = न स्नानं करोति, न भुङ्क्ते = नाहारं करोति, न अपः = जलम्, पिबति। अत एव हेतोः, मया = शान्त्या, रहिता = वियुक्ता, श्रद्धा मुहूर्तमपि = क्षणमपि न जीवति = प्राणान् धारयति। तस्याः प्राणा मद्दर्शनायत्ताः, मद्वियोगे तज्जीवनमशक्यमिति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्॥ २॥

तद्विनेति। तत् = तस्मात्, मम स्नेहाधीनजीविताया: श्रद्धाया असद्भावादित्यर्थः। जीवितम् = जीवनम्, विडम्बनमेव = उपहासास्पदमेव। मदर्थम् = मम कृते। हुताशनप्रवेशेन = अग्निं प्रविश्येत्यर्थः। तस्याः = स्वमातुः श्रद्धायाः। सहचरीभवामि = पार्श्वं यामि।

करुणेति। विषमज्वलनज्वालोल्कादुःसहानि–विषमा = अत्युग्रा, ज्वलनस्य = अग्नेः, ज्वाला = शिखा, तस्या उल्का तद्वत् दुःसहानि = मर्मपीडकानि। अक्ष-

---

अथवा जीते रहने की सम्भावना करना बेकार है। क्योंकि—

जो श्रद्धा बिना मुझे देखे न स्नान करती है, न खाती है, और न जल पीती है वह मुझसे वियुक्त होकर क्षण भर भी नहीं जी सकती है॥ २॥

इसलिए श्रद्धा के बिना क्षण भर भी शान्ति का जीना विडम्बना ही है। तो सखि करुणे! मेरे (जलने के) लिए चिता तैयार करो। मैं शीघ्र ही अग्नि में प्रवेश कर उसकी सहचरी हो जाऊँ।

करुणा—(रोकर) सखि, इस प्रकार अत्यन्त तीव्र अग्नि ज्वाला की

राणि जल्पन्ती सर्वथा विलुप्तजीवितां मां करोषि। तस्मात्प्रसीदतु मुहूर्तं जीवितं धारयतु प्रियसखी। यावदितस्ततः पुण्येष्वाश्रमेषु मुनिजन-समाकुलेषु भागीरथीतीरेषु निपुणं निरूपयामि कदाचिन्महामोहभीत्या कथमपि प्रच्छन्ना निवसति। (सहि, एव्वं विसमज्जलणज्जालाउल्लकादुःस-हाइं अक्खराइं जप्पन्ती सव्वधा विलुत्तजीविदं मं करेसि। ता प्पसीदद्दु मुहूत्तं जीविदं धारेदु पिअसही। जाव इदो तदो पुण्णेक्खु अस्सनेसु मुणिअणसमाउलेसु भाईरहीतीरेसु णिउणं निरुवेम्हि कआवि महामोहभीदिआ कहम्वि पच्छण्णा णिवसदि)

शान्तिः—सखि, किमन्विष्यते। अन्वेषितैव—

नीवाराङ्कितसैकतानि सरितां कूलानि वैखानसै-

राक्रान्तानि समिच्चषालचमसव्याप्ता गृहा यज्वनाम्।

राणि = वाक्यानि, जल्पन्ती = अभिदधाना। विलुप्तजीविताम् = विलुप्तम् = विनष्टम्, जीवितम् = जीवनं यस्यास्तादृशीम्। तवेदृशानि वचनानि श्रुत्वाऽहं मृतेव भवामीति करुणोक्तेराशयः। प्रसीदतु = कृपां करोतु। मुनिजनसमाकुलेषु = ऋषिवृन्दयुक्तेषु। निपुणं निरूपयामि = सम्यक् गवेषयामि। प्रच्छन्ना = निगूढा।

शान्तिरिति। किमन्विष्यते = त्वत्कर्तृकमन्वेषणं वृथा भविष्यतीति भावः। अन्वेषितैव = मयेति शेषः, सर्वत्र पूर्वमेव मयाऽन्वेषणं कृतं, न पुनर्दृष्टा सा, तस्मात्त्वत्कर्तृकान्वेषणेन नास्ति तदवाप्तिसंभावनेति भावः।

अन्वेषितस्थानान्याह—**नीवाराङ्कितेति।** नीवारैः = वन्यधान्यैः, अङ्कितानि = चिह्नितानि, युक्तानीत्यर्थः, सैकतानि = पुलिनप्रदेशाः, येषां तादृशानि, वैखानसैः = वानप्रस्थैः, मुनिभिरित्यर्थः, आक्रान्तानि = अध्युषितानि, सरिताम्= नदीनाम्, कूलानि = तीराणि, यज्वनाम्, याज्ञिकानाम्, समिच्चषालचमसव्याप्ताः-

उल्का के समान वाक्य कहती हुई तू मुझे मृत सी कर रही है। इसलिए कृपाकर थोड़ी देर जीवन धारण करो, जब तक मैं इधर-उधर पवित्र आश्रमों, मुनिजनों से सङ्कुल गंगा तट में अच्छी तरह ढूँढती हूँ, सम्भवतः महामोह के भय से किसी तरह (कहीं) छिपी हुई हो।

शान्ति—क्या ढूँढोगी ? मैंने ढूँढा ही है—

नीवारयुक्त पुलिन वाले मुनिजन सेवित नदी तट, समिधा, चषाल, चमस

प्रत्येकं च निरूपिताः प्रतिपदं चत्वार एवाश्रमाः
श्रद्धायाः क्वचिदप्यहो खलु मया वार्तापि नाकर्णिता ॥ ३ ॥

करुणा – सखि, एवं भणामि । यदि सैव सात्त्विकी श्रद्धा तदा तस्या नेदृशीं दुर्गतिं संभावयामि । न खलु तादृश्यः पुण्यमय्यः सत्य एतादृशीमसंभावनीयां विपत्तिमनुभवन्ति । (सहि, एव्वं भणामि । जइ सा जेव्व सत्तई सद्धा तदं ताए ण एरिसीं दुग्गदिं संभावेमि । ण खु तारिसीओ पुण्णमयी सदीओ एतारिसीं असंभावणिज्जं विपत्तिं वणुहवन्दि)

शान्तिः—सखि, किन्तु प्रतिकूले विधातरि न संभाव्यते । तथाहि–

समिधः = यज्ञकाष्ठानि, चषालः = यूपकटकः, चमसाः = यज्ञपात्रविशेषाः, तैः व्याप्ताः = आकीर्णाः, प्रत्येकं गृहाः = आश्रमाः, चत्वार एव = चत्वारोऽपि, एवकारोऽप्यर्थः, आश्रमाः = ब्रह्मचर्यादयः, प्रतिपदम् = प्रतिस्थानम्, निरूपिताः= विलोकिताः । अहो = आश्चर्यम्, क्वचिदपि = एषु स्थानेषु कुत्रापि, खलु = निश्चयेन, मया = शान्त्या, श्रद्धायाः वार्तापि = चर्चापि, नाकर्णिता = न श्रुता, दर्शनस्य का कथेति भावः । तस्मात्तदन्वेषणे भवत्याः प्रवृत्तिर्निष्फलैव भविष्यतीति शान्तेरभिप्रायः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

करुणेति । सात्त्विकी = सत्त्वगुणाश्रया । यदीति असंशये संशयोक्तिः । पुण्यमय्यः = पवित्राः । सत्यः = साध्व्यः । असंभावनीयाम् = अनाशङ्कनीयाम् ।

शान्तिरिति । प्रतिकूले विधातरि = विधौ प्रतिकूलतां गते । किन्तु न संभाव्यते = सर्वमपि सम्भाव्यत इत्यर्थः ।

आदि से युक्त याज्ञिकों के आश्रम सर्वत्र प्रत्येक को देखा, चारों आश्रमों में प्रत्येक स्थान छान डाला आश्चर्य है कि कहीं मुझे श्रद्धा की चर्चा तक भी नहीं सुनने में आयी ॥ ३ ॥

करुणा—सखि, मैं यह कहती हूँ कि यदि वह श्रद्धा सचमुच सात्त्विकी है तब उसकी ऐसी दुर्गति की संभावना मैं नहीं करती हूँ । वैसी पुण्यमयी सच्चरित्र स्त्रियाँ इस प्रकार की असम्भावनीय विपत्ति का अनुभव कभी नहीं करतीं ।

शान्ति, सखि, भाग्य के प्रतिकूल हो जाने पर क्या संभव नहीं है ? देखो—

श्रीदेवी जनकात्मजा दशमुखस्यासीद् गृहे रक्षसो
नीता चैव रसातलं भगवती वेदत्रयी दानवैः।
गन्धर्वस्य मदालसां च तनयां पातालकेतुश्छलाद्
दैत्येन्द्रोऽपजहार हन्त विषमा वामा विधेर्वृत्तयः॥ ४॥

एवंविधिविलसितमेतदिति संप्रधारय। तद्भवतु। पाषण्डालयेष्वेव तावदनुसरावः।

करुणा—सखि, एवं भवतु। (सहि, एवं भोदु) (इति परिक्रामतः)

श्रद्धायाः पाषण्डहस्तगमने दैवं मूलमिति विवक्षुः कविः शान्तिमुखेन कथयति—श्रीदेवीति। श्रीदेवी = साक्षाल्लक्ष्मीः, देवतारूपा च, जनकात्मजा = सीता, रक्षसः = राक्षसस्य, दशमुखस्य = रावणस्य, गृहे = लङ्कायाम्, आसीत्। भगवती = सर्वानुष्ठानमूलभूता विश्ववन्द्या, वेदत्रयी = ऋग्यजु सामरूपा वेदत्रितयी चैव दानवैः = दैत्यैः, रसातलम् = पातालम्, नीता = प्रापिताऽऽसीत्। मदालसाम् = मदालसाभिधानाम्, गन्धर्वस्य = देवयोनिविशेषस्य, तनयाम् = कन्यां च, दैत्येश्वरः, पातालकेतुः = पातालकेतुनामा, छलात् अपजहार = अपहृतवान्। हन्तेति खेदे। विधेः = दैवस्य, वृत्तयः = व्यापाराः, वामाः = कुटिलाः, विषमाः= विलक्षणाः, कारणशून्या इत्यर्थः। अत्र सामान्येन विशेषस्य समर्थनम्, अतोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ४॥

एवमिति। एतत् = श्रद्धाया विपत्तिः। विधिविलसितम् = दुर्दैवविचेष्टितम्। संप्रधारय = निश्चयेन जानीहि। पाषण्डालयेषु = सद्धर्मशून्यजनानाम् भवनेषु।

देवी श्री सीताजी को राक्षस रावण के घर में रहना पड़ा। भगवती वेदत्रयी को दानवों ने पाताल पहुँचा दिया। गन्धर्वकन्या मदालसा को दैत्यराज पातालकेतु ने छल करके हर लिया। दुःख का विषय है कि विधि की वृत्तियाँ विलक्षण एवं टेढ़ी हुआ करती हैं॥ ४॥

भाग्य का यह ऐसा विधान है, यह समझो। अच्छी बात है। तो पाषण्डों के घरों में ही खोजें।

करुणा—सखि, ऐसा ही हो। (घूमती हैं)

(अग्रतो विलोक्य)

करुणा—(सत्रासम्) सखि, राक्षसो राक्षसः। (सहि, रक्खसो रक्खसो)

शान्तिः—कोऽसौ राक्षसः ?

करुणा—सखि, पश्य पश्य। य एष गलन्मलपिच्छिलबीभत्सदुःप्रेक्ष्यदेहच्छविः उल्लुञ्चितविकुरमुक्तवसनदुर्दर्शनः शिखिशिखण्डपिच्छिकाहस्त इत एवाभिवर्त्तते। (सहि, पेक्ख पेक्ख। जो एसो गलन्तमलपिच्छिलवीहत्सदुप्पेक्खदेहच्छवी उल्लुचिअचिउरमुक्कवसणदुद्दंसणो सिहिसिहण्डपिच्छिआहत्थो इदो जेव्व अहिवट्टदि)

शान्तिः—सखि, नायं राक्षसः। निर्वीर्यः खल्वयम्।

करुणेति। गलन्मलपिच्छिलवीभत्सदुःप्रेक्ष्यदेहच्छविः—गलता = स्रवता, मलेन = वसादिना, पिच्छिला = मसृणा, वीभत्सा = घृणोत्पादिका दुःप्रेक्ष्या = द्रष्टुमशक्या देहच्छविः = शरीरकान्तिर्यस्य तादृशः। मनुना द्वादश शरीरमला उक्तास्तथाहि—वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविड् घ्राणकर्णविट्। श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥ (मनु० ५।१३५)। उल्लुञ्चितचिकुरमुक्तवसनदुर्दर्शनः-उल्लुञ्चिताः = उत्पाटिताः चिकुराः = केशा येन स उल्लुञ्चितचिकुरः, मुक्तवसनः = नग्नः, अतएव दुर्दर्शनः = द्रष्टुमयोग्यः। शिखिशिखण्डपिच्छिकाहस्तः-शिखिनः = मयूरस्य शिखण्डानाम् = पिच्छानां पिच्छिका=समुच्चयः, हस्ते यस्य तादृशः, इत एवाभिवर्तते=इमामेव दिशमागच्छति। एतेन जैनसाधुस्वरूपवर्णनं कृतम्। जीवविनाशशङ्कया स्नानस्य निषेधात्ते मलोपधारिणः, आचारवशाल्लुञ्चितकेशा नग्नाश्च ते मार्गस्य सूक्ष्मजन्तुदूरीकरणाय मयूरपिच्छं हस्ते धारयन्ति।

शान्तिरिति। खलु = निश्चयेन, निर्वीर्यः = पौरुषरहितः।

(आगे की ओर देख कर)

करुणा—(डरकर) सखि, राक्षस है राक्षस।

शान्ति—कहाँ राक्षस है ?

करुणा—सखि, देखो, देखो, यह जिसका शरीर गिरते हुए मलों से आर्द्र एवं घिनौना है, केश नोचे हुए हैं, वस्त्ररहित अत एव देखने के योग्य नहीं है और हाथ में मोर की पूँछ लिये हुए है।

शान्ति—सखि, यह राक्षस नहीं है, यह तो पौरुष बल से हीन है।

करुणा—तर्हि क एष भविष्यति । (ता को एसो भविस्सदि)

शान्तिः—सखि, पिशाच इति शङ्के ।

करुणा—सखि, प्रस्फुरन्महामयूखमालोद्भासितभुवनान्तरे ज्वलति प्रचण्डमार्तण्डमण्डले कथं पिशाचानामत्रकाशः ? (सहि, पप्फुरन्तमहामऊहमालोब्भासिअभुअणन्तरे उ.लदि पचण्डमात्तण्डमण्डले कहं पिसाआणं अवभासो ?)

शान्तिः—तर्हि अनन्तरमेव नरकविवरादुत्तीर्णः कोऽपि नारकी भविष्यति । (विलोक्य विचिन्त्य च) आः, ज्ञातम् । महामोहप्रवर्तितोऽयं दिगम्बरसिद्धान्तः । तत्सर्वथा दूरे परिहरणीयमस्य दर्शनम् । (इति पराङ्मुखीभवति)

करुणेति । प्रस्फुरन्महामयूखमालोद्भासितभुवनान्तरे— प्रस्फुरतः = प्रकटस्य, महामयूखस्य = किरणस्य मालया = परम्परया, उद्भासितम् = प्रकाशितम् भुवनान्तरम् = भुवनमध्यभागो येन तादृशे । ज्वलति = दीप्यमाने । प्रचण्डमार्तण्डमण्डले = प्रखरसूर्यमण्डले । कथं पिशाचानामवकाशः = पिशाचाः कथं प्रचरितुं शक्नुवन्ति ।

शान्तिरिति । अनन्तरमेव = इदानीमेव । नरकविवरात् = रौरवादिनरककुण्डात् । उत्तीर्णः = बहिरागतः । नारकी = नरकवासी । महामोहप्रवर्तितः = महामोहेन प्रचारितः । दिगम्बरसिद्धान्तः = जैनमतप्रभेदः । परिहरणीयम् = त्याज्यम् ।

करुणा—तब यह कौन हो सकता है ?

शान्ति—सखि, मेरी समझ से तो यह पिशाच है ।

करुणा—सखि, किरणों से भुवन को उद्भासित करने वाला सूर्यमण्डल प्रदीप्त हो रहा है तब पिशाचों को निकलने का मौका कैसे मिल सकता है ?

शान्ति—तो फिर अभी-अभी नरक से निकला हुआ कोई नारकी होगा । (देख कर, और सोच कर) अहा, समझ गयी । यह तो महामोह प्रवर्तित दिगम्बरमत है । इस लिए इसका दर्शन दूर से ही सर्वथा परित्याज्य है । (मुँह फेर लेती है)

करुणा—सखि, मुहूर्तकं तिष्ठ। यावदत्र श्रद्धामन्वेषयामि। (सहि, मुहूत्तकं चिट्ठ। जाव एत्थ ! सद्धां अण्णेसामि)

(उभे तथा स्थिते)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो दिगम्बरसिद्धान्तः)

दिगम्बरः—ॐनमोऽर्हद्भ्यः। नवद्वारपुरीमध्ये आत्मा दीप इव ज्वलति। एष जिनवरभाषितः परमार्थोऽयं मोक्षसुखदः। (इति परिक्रामति) (आकाशे) अरेरे श्रावकाः, शृणुध्वम—

ॐणमो अलिहन्ताणम्। णवदुवालग्घलमज्झे अप्पा दीवेव्व जलदि। एसो जिणवलभासिदो पलमत्थो जं मोक्ससुखदो अलेले सावका, सुणुद्धं)—

मलमयपुद्गलपिण्डे सकलजलैरपि कीदृशी शुद्धिः।

दिगम्बर इति। अर्हद्भ्यः—जैनमते 'अर्हन्' इति ईश्वरस्य संज्ञा। उक्तञ्च—'अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः' इति। नवद्वारपुरीमध्ये = नवेन्द्रिययुत-देहमध्ये। दीप इव ज्वलति = दीपवत् प्रकाशमानः। परमार्थः = सिद्धान्तः। मोक्षसुखदः = मोक्षरूपपरमानन्दप्रदाता। श्रावकाः = शिष्याः।

मलमयेति। मलमयपुद्गलपिण्डे—मलमये = श्लेष्ममूत्रादिपूर्णे पुद्गल-पिण्डे = शरीरे, ('पुद्गलं वपुरात्मनः' इति धरणिः।) सकलजलैरपि कीदृशी शुद्धिः = मलसंभृतत्वात् कथमपि शुद्धिर्न संभवतीत्यर्थः। आत्मा विमल-

---

करुणा—सखि, क्षणभर रुको, जब तक यहाँ श्रद्धा को ढूँढ लूँ।

(दोनों खोजती हुई ठहरती हैं)

(तदनन्तर यथानिर्दिष्ट दिगम्बरसिद्धान्त का प्रवेश)

दिगम्बर—अर्हन् को नमस्कार है। नवद्वारपुरी (नौइन्द्रियद्वारों से युक्त शरीर) के मध्य में आत्मा दीप के समान प्रकाशमान है। यही जिनवर का प्रतिपादित परमार्थ (सिद्धान्त) है, यही मोक्ष सुख का दाता है। (टहलता है) (आकाश की ओर मुँहकर) अरे ओ श्रावको ! सुनो—

मलों से परिपूर्ण देह की समस्त जलों से भी शुद्धि कैसे संभव है ? आत्मा

आत्मा विमलस्वभावः ऋषिपरिचरणैर्ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥
(मलमअपुग्गलपिण्डे सअलजलेहिं वि केलिसी सुद्धी ।
अप्पा विमलसहाओ रुसिपलिचलणेहिं जाणव्वो ॥)

किं भणथ कीदृशमृषिपरिचरणमिति । तच्छृणुध्वम्—
(किं भणत्थ केलिसं लिसिपरिचलणं ति । ता सुणुअ)—

दूरे चरणप्रणामः कृतसत्कारं च भोजनं मिष्टम् ।
ईर्ष्यामलं न कार्यं ऋषीणां दारान् रममाणानाम ॥ ६ ॥
(दूले चलणपणामो, किदसक्कालं च भोअणं मिट्ठम् ।
इस्सामलं ण कज्जं लिसिणं दालाणं लमन्ताणम् ॥)

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

श्रद्धे, इतस्तावत् । (सद्धे, इदो दाव) उभे सभयमालोकयतः ।

स्वभावः =सहजनिर्मलः, कायिकमलेन निर्लिप्तः, न हि तस्य जलैः शुद्धिरपेक्ष्यते । स चात्मा ऋषिपरिचरणैः = ऋषिसेवाभिः, ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥

दूर इति । दूरे = दूरत एव, चरणप्रणामः = पादवन्दनम्, तेषां गौरवरक्षार्थं चरणस्पर्शो न कार्य इति भावः । कृतसत्कारम् = सत्कारपूर्वकमित्यर्थः । मिष्टम् = मधुरम् भोजनम् । ऋषीणाम्, दारान् = युष्माकं श्रावकाणां रमणीः, रममाणानाम् = उपभुञ्जानानाम्, ईर्ष्यामलम् = कथमेते=परललनोपभोगं कुर्वन्तीत्येवं बुद्धिरूपेर्ष्यैव मलम्, तन्न कार्यम्, तादृश्या ईर्ष्यायाः पापजनकतया तत्र मलत्वारोपः । शरीरमस्पृष्ट्वैव मुनीनां दूरत एव चरणप्रणामः कार्यः, सादरं मधुरं भोजनं दातव्यम्, नैतावदेव, ऋषयो युष्माकं स्त्रीभिः सह विहरन्त्यपि चेत्तदपि भवद्भिरीर्ष्या न कार्येति जानीत मुनिपरिचरणम् ॥ ६ ॥

सहज निर्मल है, यह ऋषिपरिचर्या से जाना जाता है ॥ ५ ॥

क्या कहा ? ऋषि परिचर्या कैसी होती है ? तो सुनो—

दूर से चरणों में प्रणाम करो (अर्थात् शरीर का स्पर्श न करो), आदर पूर्वक मधुर भोजन दो । यदि ऋषि तुम्हारी स्त्रियों के साथ विहार करें तो भी ईर्ष्या न करो ॥ ६ ॥

(नेपथ्य की ओर देखकर)

श्रद्धे, जरा इधर आओ । (दोनों सभय देखती हैं)

(ततः प्रविशति तदनुरूपवेषा श्रद्धा)

श्रद्धा—किमाज्ञापयति राजकुलम्। (किं आणवेदि लाउलम्) (शान्तिर्मूर्च्छिता पतति)

दिगम्बरः—श्रावकाणां कुटुम्बं मुहूर्तमात्रमपि मा परिहरिष्यति भवती। (सावकाणां कुलं मुहुत्तमेकं वि मा पलिहलिस्सदि भवदी।)

श्रद्धा—यदाज्ञापयति राजकुलम्। (जं आणवेदि लाउलम्) (इति निष्क्रान्ता)

करुणा—समाश्वसितु प्रियसखी। न खलु नाममात्रेण प्रियसख्या भेतव्यम्। यतः श्रुतं मया हिंसासकाशाद्यदस्ति पाषण्डानामपि तमसः सुता श्रद्धेति। तेनैषा तामसी श्रद्धा भविष्यति। (समस्ससदु पिअसही। ण खु णाममेत्तकेण पियसहीए भेदव्वं। जदो सुदं मए हिंसासआसादो जं अत्थि पासण्डाणं वि तमसः सुदा सद्धेति। तेण एसा तामसी सद्धा भविस्सदि)

शान्तिः—(समाश्वस्य) सखि, एवमेवैतत्। तथाहि—

करुणेति। नाममात्रेण=नामसादृश्येनेत्यर्थः। नेयं श्रद्धा तव माता सात्त्विकी श्रद्धा अपि तु तामसीयम्, तस्मान्नामसादृश्येन भयं न कार्यमिति भावः। श्रुतं मया हिंसासकाशात् = हिंसामुखाच्छ्रुतं मया। तमसः सुता = तामसीत्यर्थः।

शान्तिरिति। एवमेवैतत्=इदं नामसाम्यमेव, नेयं मम माता श्रद्धेति भावः।

(तदनन्तर तदनुरूप वेश धारण किये श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—राजकुल की क्या आज्ञा है? (शान्ति मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है)

दिगम्बर—श्रावक-कुटुम्ब को क्षणमात्र के लिए भी मत छोड़ना।

श्रद्धा—राजकुल की जो आज्ञा। (निकल गई)।

करुणा—प्रिय सखी धैर्य धारण करे। नाम (के साम्य) मात्र से प्रिय सखी को डरना नहीं चाहिए। क्योंकि मेरे द्वारा हिंसा (के मुख) से सुना गया है कि पाखण्डों के पास भी तामसी श्रद्धा होती है। इसलिए यह तामसी श्रद्धा होगी।

शान्ति—(धैर्य धारण कर) सखि, यही बात है। क्योंकि—

दुराचारा सदाचारां दुर्दर्शा प्रियदर्शनाम् ।
अम्बामनुसरत्येषा दुराशा न कथंचन ॥ ७ ॥

तद्भवतु तावत् । सौगतालयेष्वप्यसावन्विष्यताम् ।

(शान्तिकरुणे परिक्रामतः)

(ततः प्रविशति भिक्षुरूपः पुस्तकहस्तो बुद्धागमः)

भिक्षुः—(विचिन्त्य) भो भो उपासकाः,

सर्वे क्षणक्षयिण एव निरात्मकाश्च
यत्रार्पिता बहिरिव प्रतिभान्ति भावाः ।

दुराचारेति । दुराचारा दुष्टः आचारो यस्याः सा, पापाचारेत्यर्थः । दुर्दर्शा—दुष्टः दर्शः = दर्शनं यस्याः, सा, कुरूपेत्यर्थः । दुराशा = नीचा, एषा = इयं तामसीश्रद्धा, सदाचाराम्—सन् = प्रशस्तः आचारो यस्यास्तादृशीम् (सन् प्रशस्ते विद्यमाने सत्याभ्यर्हित साधुषु'इत्यमरः) प्रियदर्शनाम्—प्रियम् = शोभनम्, दर्शनम् = प्रेक्षणं यस्यास्तादृशीम्, सौम्यामित्यर्थः । अम्बाम् = सात्त्विकीं श्रद्धाम्, कथंचन = केनापि प्रकारेण, न अनुसरति = नानुकरोति । इयं नाम्नैव मम मातुः साम्यं भजते न गुणैरतो नेयं मम मातेति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ७ ॥

तद्भवत्विति । सौगतालयेषु = सौगताः = बौद्धाः, तेषामालयेषु = गृहेषु । भिक्षुः स्वकीयमतं निरूपयन् स्वमतसिद्धां मुक्तिमाह—**सर्व** इति ।

सर्वे भावाः = पदार्थाः, क्षणक्षयिणः = स्वेतरक्षणभङ्गुराः, निरात्मकाश्चैव= नास्ति आत्मा = स्थितिर्येषां तादृशाः, असन्तः इत्यर्थः, प्रतिभासमानशरीरा इति यावत् । एते क्षणभङ्गुराः सत्ताशून्या भावाः, यत्र = विज्ञानसन्ततौ, अर्पिताः = आरोपिताः, बहिरिव = बाह्या इव प्रतिभान्ति = भासन्ते । धीसन्ततिस्वरूपमाह

दुराचारा, कुरूपा यह नीच (तामसी श्रद्धा), सदाचारा तथा प्रियदर्शना अम्बा (सात्त्विकी श्रद्धा) का किसी भी प्रकार से अनुकरण नहीं कर रही है ॥७॥

अच्छा, यही सही । (फिर भी) बौद्धों के घरों में भी उसे खोजा जाय ।

(शान्ति और करुणा चलती हैं)

(तदनन्तर भिक्षु के रूप में, हाथ में पुस्तक लिए बुद्धागम का प्रवेश)

भिक्षु - (सोच कर) हे हे उपासको ! सभी भाव (पदार्थ) क्षणभङ्गुर और सत्ताहीन हैं । फिर भी ये (सांसारिक वासनाओं के कारण) धीसन्तति

सैवाधुना विगलिताखिलवासनत्वा-
द्धीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा ॥ ८ ॥

(परिक्रम्य पुनः सश्लाघम्) अहो, साधुरयं सौगतधर्मो यत्र सौख्यं मोक्षश्च । तथाहि—

आवासो लयनं मनोहरमभिप्रायानुरूपा वणिङ्-

धर्मकीर्तिः—'स्वाभाविकमेव संविदः स्वप्रकाशत्वम्, विषयास्तत्र विष्वक् प्रकाशन्ते' इति । सैव धीसन्ततिः = विज्ञानसन्ततिः, विगलिताखिलवासनत्वात्— विगलिताः = विनष्टाः अखिलाः = समस्ताः, वासनाः = संस्काराः यस्यास्तस्या भावस्तत्त्वं तस्मात्, सकलसंस्कारोच्छेदात्, अधुना = साम्प्रतम्, निर्विषयोपरागा— निर्गतः विषयोपरागः = विषयसम्बन्धः, यस्याः तादृशी, नीलपीताद्यनेकविध- विषयसम्बन्धशून्येत्यर्थः । स्फुरति=प्रकाशते । अयमाशयः—"सांसारिकवासनाभिः, क्षणभङ्गुराः = सत्ताशून्याश्चापि भावाः धीसन्ततावारोपिताः सन्तो यावत् प्रतिभासन्ते तावदेव वन्धः, सांसारिकवासनोच्छेदे विषयसम्बन्धरहिता शुद्धा धीसन्ततिः स्फुरति सैव निर्वाणावस्था" इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

परिक्रम्येति । 'अहो' इति प्राशस्त्यसूचकमव्ययपदम् । साधुः = प्रशस्तः । सौगतधर्मः—सौगतः = सुगतस्य=वुद्धस्यायमिति सौगतः वौद्धः, धर्मः । सौख्यम्= सांसारिककामनापूर्तिः । मोक्षः = परमपदप्राप्तिः । भोगमोक्षसमन्विततया सर्व- धर्माणां श्रेष्ठोऽयमस्माकं वौद्धधर्म इति भावः ।

तदेव वौद्धधर्मश्रेष्ठत्वं प्रतिपादयति—आवास इत्यादिना । मनोहरम् = रमणीयम्, लयनम् = गृहम्, आवासः = निवासस्थानम् । अभिप्रायानुरूपाः = मनोनुकूलाः, वणिङ्नार्यः = वणिजाम् = श्रेष्ठिनाम्, नार्यः=स्त्रियः, वणिङ्नार्यः =

(विज्ञानपरम्परा) में आरोपित होते हुए वहिःस्थित की तरह प्रतिभासित होते रहते हैं (इसी स्थिति को वन्धन समझिए)। समस्त वासनाओं के विनष्ट हो जाने पर समस्त विषयों के सम्वन्ध से रहित होकर (केवल) शुद्ध धी- सन्तति ही प्रकाशित होती है (इसी स्थिति को निर्वाणावस्था कहते हैं) ॥ ८ ॥

(चल कर पुनः प्रशंसापूर्वक) अहा ! सौगत धर्म धन्य है जिसमें सुख और मोक्ष दोनों हैं । जैसा कि—

रहने के लिए सुन्दर-सा घर, इच्छानुरूप सेठों की स्त्रियाँ अथवा वेश्याएँ,

नार्यो वाञ्छितकालमिष्टमशनं शय्या मृदुप्रस्तराः।
श्रद्धापूर्वमुपासिता युवतिभिः क्लृप्ताङ्गदानोत्सव-
क्रीडानन्दभरैर्व्रजन्ति विलसज्ज्योत्स्नोज्ज्वलाः रात्रयः ॥९॥

करुणा—सखि, क एष तरुणतालतरुप्रलम्बो लम्बमानकषाय-पिशङ्गचीवरो मुण्डितसचूडमुण्डपिण्ड इत एवागच्छति। (सहि, को एसो तरुणतालतलुप्पलम्बो लम्बन्तकसाअपिसङ्गचिउरो मुण्डिदसचूडमुण्डपिण्डो इदो जेव्व आअच्छदि)

रूपा जीवा वारविलासिन्यो वा। वाञ्छितकालम्=अभीष्टसमये इष्टम्=अभिलाषानुरूपम्, अशनम् = भोजनम्। मृदुप्रस्तराः—मृदवः = कोमलाः, प्रस्तराः = प्रच्छदपटा यासां ताः, कोमलास्तरणयुक्ताः, शय्याः। श्रद्धापूर्वम् = बुद्धदेवप्रीत्यर्थं भिक्षूणां सेवा शरीरार्पणेनापि विधातव्येति विश्वासपूर्वकम्, क्लृप्ताङ्गदानोत्सवक्रीडानन्दभरैः—क्लृप्ता = सम्पादिता, या अङ्गदानोत्सवक्रीडा = सुरतक्रीडा, तस्याम् आनन्दभराः = सुखसमूहास्तैः करणभूतैः, युवतिभिः = आरूढयौवनाभिः, उपासिताः = सेविताः, विलसज्ज्योत्स्नोज्ज्वलाः-स्फुटचन्द्रिकाशोभमानाः, रात्रयः व्रजन्ति = गच्छन्ति। बौद्धमते नार्यः स्वपत्यनुज्ञयैव बौद्धपरिव्राजकलिङ्गपूजां कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः। अनेनास्माकं भोगेन सहैव मोक्षोऽप्युपपद्यते, न ह्यन्येषामिदं सौभाग्यमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

करुणेति। तरुणतालतरुप्रलम्बः= प्रौढतालवृक्ष इव दीर्घः। लम्बमानकषायपिशङ्गचीवरः–लम्बमानम्=आस्तीर्यमाणम्, कषायपिशङ्गचीवरम् = कषायपिशङ्गवर्णपरिधानं यस्य तादृशः, मुण्डितसचूडमुण्डपिण्डः—मुण्डितः, सचूडः = सशिखः, मुण्डपिण्डः यस्य सः।

यथासमय रुचि के अनुकूल भोजन, कोमल बिछौने से युक्त शय्या और (बुद्धदेव की प्रसन्नता के लिए शरीरार्पण से भी भिक्षुओं की सेवा की जानी चाहिए, इस) विश्वास के साथ सम्पादित सुरत क्रीडा जन्य आनन्द से युवतिजन सेवित चाँदनी रातें व्यतीत होती हैं ॥ ९ ॥

करुणा—सखि, यह कौन, ताड़ की तरह लम्बा, लटकता हुआ केसरिया चोगा पहने, शिखा समेत मूँड़ मुड़ाये इधर ही आ रहा है ?

शान्तिः—सखि, बुद्धागम एषः।

भिक्षुः—(आकाशे) भो भो उपासकाः भिक्षवश्च, श्रूयतां भगवतः सुगतस्य वाक्यामृतम्। (पुस्तकं वाचयति) पश्याम्यहं दिव्येन चक्षुषा लोकानां सुगतिं दुर्गतिं च। क्षणिकाः सर्वे संस्काराः। नास्त्यात्मा स्थायी। तस्माद्भिक्षुषु दारानाक्रमत्सु नेर्षितव्यम्। चित्तमलं हि तद्यदीर्ष्यानाम। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) श्रद्धे, इतस्तावत्।

(प्रविश्य श्रद्धा)

श्रद्धा—आज्ञापयतु राजकुलम्। (आणवेदु लाउलम्)

भिक्षुः—उपासकान्भिक्षूंश्च चिरमालिङ्ग्य स्थीयताम्।

श्रद्धा—यदाज्ञापयति राजकुलम्। (जं आणवेदि लाउलम्) [इति निष्क्रान्ता]

भिक्षुरिति। उपासकाः = श्रद्धालवो गृहस्थाः। सुगतस्य = बुद्धस्य। सुगतिम् = सुकर्म। दुर्गतिम् = दुष्कर्म। संस्काराः=संस्क्रियन्ते विषयीक्रियन्त इति संस्काराः, भावा इत्यर्थः। स्थायी = परलोकभोक्तेत्यर्थः। दारान् = रमणीः, उपासकानामिति शेषः।

शान्ति—सखि, यह बुद्धागम है।

भिक्षु—(आकाश की ओर) अरे उपासको और भिक्षुओ! भगवान् सुगत (बुद्ध) का वचनामृत सुन लो। (पुस्तक बाँचता है) मैं दिव्यदृष्टि से लोगों की सुगति (सत्कर्म) और दुर्गति (दुष्कर्म) देखा करता हूँ। सभी संस्कार क्षणिक हैं। स्थायी आत्मा नहीं है। इसलिए भिक्षु यदि स्त्रियों के साथ रमण करें तो ईर्ष्या मत करना। जो ईर्ष्या (कही जाती) है वह चित्त का मल है। (नेपथ्य की ओर देख कर) श्रद्धे, जरा इधर आओ।

(श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—राजकुल आज्ञा दे।

भिक्षु—उपासकों और भिक्षुओं से सदा लिपटी रहो।

श्रद्धा—जो राजकुल की आज्ञा। (निकल गयी)

शान्तिः—सखि, इयमपि तामसी श्रद्धा ।

करुणा—एवमेतत् । (एवं णेदम्) ।

क्षपणकः—(भिक्षुमालोक्योच्चैःशब्दम्) । अरेरे भिक्षुक, इतस्तावत्। किमपि पृच्छामि । (अलेले भिक्खुअ, इदो दाव । किंपि पुच्छिस्सम्)

भिक्षुः—(सक्रोधम्) आः पाप पिशाचाकृते, किमेवं प्रलपसि ।

क्षपणकः—अरे, मुञ्च क्रोधम् । शास्त्रगतं पृच्छामि । (अले, मुञ्च-कोहम् । साच्छगदं पुच्छामि)

भिक्षुः—अरे क्षपणक, शास्त्रकथामपि वेत्सि । भवतु । प्रतीक्षामस्तावत् । (उपसृत्य) किं पृच्छसि ।

क्षपणकः—भण तावत्क्षणविनाशिना त्वया कस्य कृते इदं व्रतं धार्यते । (भण दाव क्खणविणासिणा तुए कस्स किदे एदं व्वदं धाली अदि)

क्षपणक इति । क्षपणकः = जैनागममतावलम्वी दिगम्वरः ।

भिक्षुरिति । पिशाचाकृते = पिशाचवत् नग्नाकृते !

क्षपणक इति । क्षणविनाशिना = सर्वं क्षणभङ्गुरमिति मन्यमानेन । सर्वं क्षणिकं मन्यमानस्यात्मापि क्षणिकः तर्हि धार्यमाणेनानेन व्रतेनालम्, तत्फलभोगाय तस्यास्थायित्वादिति भावः ।

शान्ति—सखि, यह भी तामसी श्रद्धा है ।

करुणा—यही बात है ।

क्षपणक—(भिक्षु को देखकर, जोर से) अरे रे भिक्षुक, जरा इधर आना (तुमसे) कुछ पूछूँगा ।

भिक्षु—(क्रोध के साथ) आः पाप पिशाच के समान डरावनी सूरत वाला ! क्या बकवास करता है ।

क्षपणक—अरे, क्रोध छोड़ो । शास्त्रसम्बन्धी बात पूछूँगा ।

भिक्षु - अरे क्षपणक, तू शास्त्र की बात भी जानता है । अच्छा, प्रतीक्षा करेंगे । (समीप जाकर) क्या पूछता है ।

क्षपणक—जरा कहो कि तू क्षणविनाशी है तो किसके लिए यह व्रत धारण करता है ?

भिक्षुः—अरे श्रूयताम्। अस्मत्संततिपतितः कश्चिद्विज्ञानलक्षणः समुच्छिन्नवासनो मोक्ष्यते।

क्षपणकः—अरे मूर्ख, कस्मिन्नपि मन्वन्तरे कोऽपि मुक्तो भविष्यति। ततस्ते सांप्रतं नष्टस्य कीदृशमुपकारं करिष्यति। अन्यच्च पृच्छामि। केन ते ईदृशो धर्म उपदिष्टः? (अले मुलुक्ख, कस्सिवि मण्णन्तले कोवि मुक्को भविस्सदि। तदो दे संपदं णट्ठस्स कीरिसं उवआलं कलिस्सदि। अण्णं च पुच्छामि। केण दे ईरिसो धम्मो उवदिट्ठो?)

भिक्षुः—नूनं सर्वज्ञेन भगवता बुद्धेनोक्तोऽयमेव धर्मः।

क्षपणकः—अरे, सर्वज्ञो बुद्ध इति कथं त्वया ज्ञातम्। (अले, सव्वणो वुद्धोत्थि त्ति कथं तुए णादम्)

भिक्षुः—ननु रे, तदागमैरेव प्रसिद्धो बुद्धः सर्वज्ञ इति।

भिक्षुरिति। अस्मत्संततिपतितः—अस्माकं सन्ततौ = विज्ञानपरम्परायां पतितः = प्रविष्टः। समुच्छिन्नवासनः = नष्टवासनः। कश्चित् =कोऽपि। मोक्ष्यते= मुक्तो भविष्यति। व्रतिमुच्यमानयोरेकसन्ततिगतत्वेन व्रतमोक्षयोर्न व्यधिकरणत्व-मिति त्वदुक्तशङ्काऽपास्तेति भावः।

क्षपणक इति। मन्वन्तरे=कतिपययुगान्तरे। साम्प्रतम् = अधुना। नष्टस्य= मृतस्य।

भिक्षुरिति। तदागमैः = तस्य = बुद्धस्य, आगमैः = शास्त्रैः।

भिक्षु—अरे सुनो, हमारी विज्ञानपरम्परा में प्रविष्ट, विज्ञानलक्षण, वासनाओं से रहित कोई मोक्ष को प्राप्त करेगा।

क्षपणक—अरे मूर्ख, किसी मन्वन्तर में (अर्थात् कतिपय युगों के वाद) कोई मुक्त होगा। और इस समय जो तुम नष्ट हो रहे हो (अर्थात् कष्ट उठा रहे हो) तुम्हारा वह क्या उपकार करेगा? और मैं पूछता हूँ कि किसने तुम्हें इस प्रकार के धर्म का उपदेश किया।

भिक्षु—अरे सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ने यह उपदेश किया है, यही धर्म है।

क्षपणक—अरे बुद्ध सर्वज्ञ है, यह कैसे तुमने जान लिया?

भिक्षु—अरे रे, उनके शास्त्रों से बुद्ध सर्वज्ञ प्रसिद्ध हैं।

क्षपणकः—अरे उज्झितबुद्धिक, यदि तस्य भाषितेन सर्वज्ञत्वं प्रतिपन्नोऽसि तदहमपि सर्वं जानामि। त्वमपि पितृपितामहैः सह सप्तपुरुषमस्माकं दास इति। (अले, उज्झिअबुद्धिअ, जयि तस्स भासिदेण सव्वण्णत्तं पडिवज्जेसि ता अहं वि सव्वं जाणामि। तुमंपि पिदुपिदामहेहिं सद्धं सत्तपुलिसं अम्हाणं दासो त्ति)

भिक्षुः—(सक्रोधम्) आः पाप, पिशाच मलपङ्कधर, कस्तवाहं दासः?

क्षपणकः—अरे विहारदासीभुजङ्ग दुष्टपरिव्राजक, दृष्टान्त एष मया दर्शितः। तत् प्रियं ते विस्रब्धं भणामि। बुद्धानुशासनं परिहृत्यार्हतानुशासनमेवानुसृत्य दिगम्बरमतमेव धारयतु भवान्। (अले विहालदासीभुअङ्ग दुट्ठपलिव्वजिअ, दिट्ठदो एसो मए दंसिदो। ता पिअं दे विस्सद्धं भणामि। बुद्धाणुसासण पलिहलिअ अलिहन्ताणुसासणं जेव्व अनुसलिअ दिअवलमदं जेव्व धालेदु भवम्)

क्षपणक इति। उज्झितबुद्धिक = निर्बुद्धे! तस्य = बुद्धस्य, भाषितैः = कथनैः। सर्वज्ञत्वं प्रतिपन्नः असि = तं सर्वज्ञं ज्ञातवान्। 'तदहमपि सर्वं जानामि' इति मदुक्त्या ममापि सर्वज्ञत्वं प्रतिपद्यस्व, यथा बुद्धोक्तौ विश्वस्य तत्सर्वज्ञत्वं प्रतिपन्नोऽसि तथा मम दासत्वमपि त्वया स्वीकर्तव्यमिति भावः।

भिक्षुरिति। पाप = पापिन्! पिशाच=पिशाचवद्भीषणाकृते! मलपङ्कधर= मलिनदेह!

क्षपणक इति। विहारदासीभुजङ्ग = वेश्याभर्त्तः! विस्रब्धम् = विश्वस्तम्। बुद्धानुशासनम् = बौद्धमतम्। आर्हतानुशासनम् = जैनमतम्। दिगम्बरमतमेव = तत्रापि दिगम्बरजैनसिद्धान्तमेव।

क्षपणक—अरे निर्बुद्धि! यदि उसी के कहने से उसे सर्वज्ञ स्वीकार करते हो तो मैं भी सब जानता (अर्थात् सर्वज्ञ) हूँ। बाप-दादों के सहित सात पीढियों तक तुम भी हमारे दास हो।

भिक्षु-(क्रोध के साथ) आः पाप, पिशाच, मलपङ्कधर, मैं तेरा कौन दास हूँ?

क्षपणक—अरे विहारदासी भुजङ्ग (बौद्ध आश्रमों की दासियों के साथ रमण करने वाला) दुष्ट परिव्राजक! यह तो मैंने दृष्टान्त दिखाया है। इसलिए विश्वसनीय प्रिय बात तुम्हें कह रहा हूँ कि बुद्धमत को छोड़कर, जैनसिद्धान्त का अनुसरण कर दिगम्बर मत को ही तुम धारण कर लो।

भिक्षुः—आः पाप, स्वयं नष्टः परानपि नाशयितुमिच्छसि ।

स्वाराज्यं प्राज्यमुत्सृज्य लोके निन्द्यामनिन्दितः ।
अभिवाञ्छति को नाम भवानिव पिशाचताम् ॥ १० ॥

अपि च, आर्हतमपि धर्मवेदनं कः श्रद्धाति ?

क्षपणकः—ग्रहनक्षत्रचारचन्द्रसूर्योपरागलुप्तलाभपरमार्थज्ञानसंधान-दर्शनेन निरूपितं सर्वज्ञत्वं भगवतोऽर्हतः। (गमहणक्खत्तचालचन्दसूल्लोपला-अलुप्तलाहपलमत्थाणाणसंधाणदंसणेण णिलुविदं सव्वणंतणं भअवदो अलिहन्तस्स)

भिक्षुरिति । स्वयं नष्टः = पतितः, जैनमतमङ्गीकृत्येति भावः । परानपि = अन्यानपि ।

स्वाराज्यमिति । लोके = जगति, को नाम अनिन्दितः सन्, प्राज्यम् = उत्कृष्टम्, स्वाराज्यम् = स्वातन्त्र्यम्, उत्सृज्य = त्यक्त्वा, भवानिव, निन्द्याम् = शास्त्रगर्हिताम्, पिशाचताम् = पिशाचत्वम्, क्षपणकत्वमित्यर्थः, अभिवाञ्छति = अभिलषति, न कोऽपीत्यर्थः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १० ॥

आर्हतमतस्यानुपादेयत्वमाह—अपि चेति । आर्हतमपि धर्मवेदनम् = धर्मज्ञानम्, कः श्रद्धत्ते = कः स्वीकरोति, न कोऽपीत्यर्थः ।

क्षपणक इति । ग्रहनक्षत्रचारेत्यादिः—ग्रहाणाम् = सूर्यादीनां नवग्रहाणाम्, नक्षत्राणाम् = अश्विन्यादिसप्तविंशतिनक्षत्राणां च चारः = यथामार्गं यथाकालं च सञ्चरणम्, चन्द्रसूर्योपरागः = चन्द्रग्रहणं सूर्यग्रहणं च, लुप्तलाभः = लुप्तस्य = अदर्शनं गतस्य पदार्थस्य लाभः = प्राप्तिः । परमार्थज्ञानम् = तत्त्वज्ञानं च, एतेषां सन्धानदर्शनेन=निबन्धनदर्शनेन, साधारणजनदुर्बोधानामेतेषां सम्यक् प्रतिपादनेन । भगवतोऽर्हतः सर्वज्ञत्वं निरूपितम् = भगवान् अर्हन् सर्वज्ञ इति स्पष्टीकृतः ।

भिक्षु—अरे पापाचार, स्वयं तो तू नष्ट ही हुआ, दूसरों को भी नष्ट करना चाहता है ।

जगत् में कौन अनिन्दित व्यक्ति उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य को छोड़कर तुम्हारी तरह निन्दनीय पिशाचता (अर्थात् क्षपणक होना) चाहेगा ? ॥ १० ॥

और जैन मत पर श्रद्धा ही कौन करता है ?

क्षपणक—ग्रहनक्षत्रगति, चन्द्रसूर्यग्रहण, लुप्तपदार्थ की प्राप्ति, परमार्थज्ञान आदि के सम्यक् प्रतिपादन से भगवान् अर्हन् की सर्वज्ञता स्पष्ट है ।

भिक्षुः--अरे, अनादिप्रवृत्तज्योतिषातीन्द्रियज्ञानेन प्रतारितेन भगवतेदमतिकष्टं व्रतमाश्रितम्। तथाहि—

ज्ञातुं वपुः परिमितः क्षमते त्रिलोकीं
जीवः कथं कथय संगतिमन्तरेण।
शक्नोति कुम्भनिहितः सुशिखोऽपि दीपो
भावान्प्रकाशयितुमप्युदरे गृहस्य॥ ११॥

भिक्षुरिति। अनादिप्रवृत्तयज्योतिषातीन्द्रियज्ञानेन—अनादिप्रवृत्तेन=अनादिसिद्धेन ज्योतिषा = ज्योतिः शास्त्रेण यत् अतीन्द्रियज्ञानम्=इन्द्रियागोचरं ज्ञानम्, तेन। प्रतारितेन = वञ्चितेन, भगवता = अर्हता। इदम् = एतत्, अतिकष्टम् = अतिदुःखावहम्, व्रतम्, आश्रितम् = स्वीकृतम्। अनादिप्रवृत्तज्योतिःशास्त्रेणैव भूतभविष्यद्विषयकमतीन्द्रियज्ञानं जायते, तस्मादात्मनः सर्वज्ञत्वं कथमपि न सम्भवतीति भावः।

तदेव समर्थयितुमाह—ज्ञातुं वपुःपरिमित इति। वपुःपरिमितः—वपुषा= शरीरेण, परिमितः = शरीरमात्रपरिमाण इत्यर्थः। जीवः = विज्ञानरूपः सन्, सङ्गतिमन्तरेण = सन्निकर्षं विना, त्रिलोकीम् = त्रैलोक्यम्, सर्वमित्यर्थः, कथम् = केन प्रकारेण, ज्ञातुं क्षमते = शक्नोति, इति कथय = वद। देहपरिमितो जीवः सकलत्रैलोक्यस्य सन्निकर्षभावे कथं सर्वं ज्ञातुं शक्नोति यदसौ युष्माभिः सर्वज्ञः कथ्यत इति भावः। कुम्भनिहितः = धटोदरेऽवस्थापितः, सुशिखः = प्रज्वलन्नपीत्यर्थ, दीपः, गृहस्य उदरे = गृहाभ्यन्तरे स्थितान् इत्यर्थः, भावान् = पदार्थान्, प्रकाशयितुम् (किम्) शक्नोति ? यथा घटाभ्यन्तरनिहितः

भिक्षु—अनादि प्रवृत्त ज्योतिः शास्त्र से होने वाले अतीन्द्रिय ज्ञान से वञ्चित हो अर्हन् ने इस अतिकष्टकर व्रत को स्वीकार किया है। (अर्थात् अनादि प्रवृत्त ज्योतिः शास्त्र से ही भूत-भविष्यद्विषयक अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिए आत्मा की सर्वज्ञता कथमपि सम्भव नही है)।

जीव (विज्ञानरूप होता हुआ भी) शरीरमात्रपरिमाण होने से (दूरस्थ पदार्थों के साथ) सन्निकर्ष के अभाव में त्रिलोकी को कैसे जान सकेगा (जो तुम लोगों के द्वारा सर्वज्ञ कहा जाता है)। क्या घड़े के भीतर रक्खा हुआ दीपक

तस्माल्लोकद्वयविरुद्धादार्हतमताद्वरं सुगतमतमेव साक्षात्सुखावहमतिरमणीयं पश्यामः ।

शान्तिः—सखि, अन्यतो गच्छावः ।

करुणा—एवं भवतु । (एवं भोदु) । (इति परिक्रामतः)

शान्तिः—(पुरो विलोक्य) एष पुरस्तात्सोमसिद्धान्तः । भवतु । अत्रापि तावदनुसरावः ।

(ततः प्रविशति कापालिकरूपधारी सोमसिद्धान्तः ।)

सोमसिद्धान्तः—(परिक्रम्य)

सुशिखोऽपि दीपः गृहाभ्यन्तरगतपदार्थसन्निकर्षमलभमानस्तान् प्रकाशयितुं न समर्थो भवति तथैव जीवो विज्ञानरूपः सन्नपि वपुःमात्रपरिमाणतया दूरस्थपदार्थैः सह सन्निकर्षमनाप्नुवन् तान् ज्ञातुं कथमपि न क्षमत इत्यर्थः । प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ११ ॥

तस्मादिति । लोकद्वयविरुद्धात्—इहलोकपरलोकविरुद्धात् दुःखप्रदत्वादिति भावः । सुगतमतम् = बुद्धमतम् । साक्षात् सुखावहम् = धर्मनिरपेक्षतया सुखकरम् । अतिरमणीयम् = अतिशोभनम् । शान्तिरिति । सोमसिद्धान्तः = कापालिकमतम् ।

सम्यक् प्रकाशशील होने पर भी घर के भीतर के पदार्थों को प्रकाशित कर सकता है ? ॥ ११ ॥

इसलिए इस लोक और परलोक से विरुद्ध आर्हतमत की अपेक्षा साक्षात् सुखप्रद और अत्यन्तरमणीय बौद्धमत को ही हम अच्छा देख रहे हैं ।

शान्ति—सखि, दूसरी ओर चलें ।

करुणा—अच्छी बात है । (चलती हैं)

शान्ति—(सामने देखकर) यह सामने सोमसिद्धान्त है । अच्छा, यहाँ भी चलें ।

(तदनन्तर कापालिकरूपधारी सोमसिद्धान्त का प्रवेश)

सोमसिद्धान्त—(चलकर)

नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः

श्मशानवासी नृकपालभोजनः ।

पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा

जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात् ॥ १२ ॥

क्षपणकः—क एष कापालिकं व्रतं पुरुषो धारयति । तदेनमपि पृच्छामि । (उपसृज्य) अरेरे कापालिक, नरास्थिमुण्डमालाधारक, कीदृशस्तव धर्मः कीदृशस्तव मोक्षः ? (को एसो कावालिअव्वदं पुलिसो धालेदि । ता णं वि पुच्छिस्सम् । अलेले कावालिअ, णलात्थिमुण्डमालाधारिअ, कीलिसो तुम्ह धम्मो, कीलिसो तुम्ह मोक्खो ?)

कापालिकः—अरे क्षपणक, धर्मं तावदस्माकमवधारय ।

नरास्थिमालेति । नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः—नराणामस्थ्नां मालया कृतं भूषणं येन तादृशः, श्मशानवासी = श्मशाननिवासशीलः, नृकपालभोजनः—नृकपाले = नरमुण्डे भोजनं यस्य सः, यद्वा भुज्यतेऽत्रेति भोजनम् = भोजनपात्रम् 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट् । नृकपालं भोजनम् = भोजनपात्रं यस्य सः । (एतादृशोऽहम्) योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा—योगः = समाधिः, स एव अञ्जनम् तेन शुद्धम् = निर्दोषम्, लोकोत्तरशक्तिसम्पन्नमित्यर्थः । चक्षुः = दृष्टिः, तेन, मिथो भिन्नम् = परस्परव्यावृत्तम् , जगत् = संसारम्, समग्रं सांसारिक-पदार्थजातम्, ईश्वरात् अभिन्नम्, यथा मुद्रिकाकङ्कणादेरन्योन्यभेदेऽपि सुवर्णाद-भिन्नता तद्वदिति भावः । पश्यामि । एतेन कापालिकव्रतधारणार्थं लोकाः प्रेरिता इति ॥ १२ ॥

कापालिक इति । अवधारय = जानीहि ।

नरास्थि माला से विभूषित, श्मशानवासी और नर की खोपड़ी में भोजन करने वाला मैं योगरूप अञ्जन से शुद्ध दृष्टि के द्वारा परस्परभिन्न (देख पड़ने वाले भी) जगत् को ईश्वर से अभिन्न देखता हूँ ॥ १२ ॥

क्षपणक—यह कौन पुरुष कापालिक व्रत धारण किये हुए है । तो इससे भी पूछता हूँ । (समीप जाकर) अरे ओ कापालिक, नरास्थि मुण्डमालाधारी ! तुम्हारा धर्म और मोक्ष कैसा है ?

कापालिक—अरे क्षपणक, सर्वप्रथम हमारे धर्म को जान लो—

मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै-
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः॥ १३॥

भिक्षुः—(कर्णौ पिधाय) बुद्ध बुद्ध, अहो दारुणा धर्मचर्या।

क्षपणकः—अर्हन् अर्हन्, अहो घोरपापकारिणा केनापि विप्रलब्धो वराकः। (अलिहन्त अलिहन्त, अहो घोलपावकालिणा केणावि विप्पलद्धो वलाओ)

मस्तिष्कान्त्रेति। मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीः—मस्तिष्कम् = कपालान्तर्वर्तिरसः अन्त्राणि = सिराविशेषाः, वसाः = मज्जाः, ताभिः अभिपूरितम् = आधारितम्, महामांसम् = नरमांसम्, तेन आहुतीः, वह्नौ = अग्नौ, जुह्वताम् = होमं कुर्वताम्, नः = अस्माकम्, ब्रह्मकपाले = ब्राह्मणनरस्य कपाले कल्पिता = उपनीता, सुरा = मदिरा, तस्याः पानेन, पारणा = व्रतसमाप्तिः भवतीति शेषः। सद्यः = तत्क्षणमेव, कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलैः—कृत्तेभ्यः = छिन्नेभ्यः, कठोरकण्ठेभ्यः विगलताम्=च्यवमानानाम्, कीलालानाम्= शोणितानाम्, धाराभिः उज्ज्वलैः = शोभमानैः, पुरुषोपहारबलिभिः=नरबलिभिः, देवः महाभैरवः = कालभैरवः, नः = अस्माकम्, अर्च्यः = पूज्यः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १३॥

भिक्षुरिति। 'बुद्ध बुद्ध' इत्येवं घृणातिशयं द्योतितम्। दारुणा=कठोरा।

क्षपणक इति। 'अर्हन् अर्हन्' इति क्षपणककृतस्वेष्टदेवस्मरणमपि घृणातिशयद्योतनाय। विप्रलब्धः = वञ्चितः। वराकः = मन्दभाग्यः।

मस्तिष्क, आंत और मज्जा आदि से युक्त नरमांस की अग्नि में आहुति करने वाले हम लोगों की ब्रह्मकपालस्थितसुरा के पान से पारणा होती है। तत्काल काटे गये कठोरकण्ठ से बहती रक्त धार से सुशोभित नरबलि से महाभैरव की अर्चना करते हैं॥ १३॥

भिक्षु—(कानों को ढककर) बुद्ध ! बुद्ध ! कैसी भयङ्कर धर्मचर्या है !

क्षपणक—अर्हन् ! अर्हन् ! अहो, किसी घोर पापी से यह बेचारा ठगा गया है।

कापालिकः—(सक्रोधम्) आः पाप पाखण्डापसद, मुण्डितमुण्डचूडा-केश, केशलुञ्चक, अरे, विप्रलम्भकः किल चतुर्दशभुवनोत्पत्तिस्थिति-प्रलयप्रवर्तको वेदान्तप्रसिद्धसिद्धान्तविभवो भगवान्भवानीपतिः। दर्शयामस्तर्हि धर्मस्यास्य महिमानम् ?

हरिहरसुरज्येष्ठश्रेष्ठान्सुरानहमाहरे
वियति वहतां नक्षत्राणां रुणध्मि गतीरपि।
सनगनगरीमम्भःपूर्णां विधाय महीमिमां

कापालिक इति। पाखण्डापसद = पाखण्डाधम। मुण्डितमुण्डचूडाकेश = कर्त्तितसशिखकेश, इदं बौद्धसम्बोधनम्। 'केशलुञ्चक' इदं जैनमुद्दिश्य सम्बोधनम्। 'अरे' इति क्रोधद्योतनाय। विप्रलम्भकः = धूर्त्तः। चतुर्दशभुवनोत्पत्तिस्थिति-प्रलयप्रवर्तकः = सकलजगदुत्पत्तिपालनसंहारकर्ता। वेदान्तप्रसिद्धसिद्धान्त-विभवः—वेदान्तेषु = उपनिषत्सु प्रसिद्धः सिद्धान्तविभवः यस्य स तादृशः। भवानीपतिः = शिवः।

हरिहरेति। अहम्, हरिहरसुरज्येष्ठश्रेष्ठान्—हरिः = विष्णुः, हरः = शिवः, सुराणाम् = इन्द्रादीनाम्, ज्येष्ठाः = वयसाऽधिकाः, श्रेष्ठाः = प्रभावेण अधिकाश्च, तान्, सुरान्, आहरे = आनये। अपि = वा, वियति = आकाशे, वहताम्, चलताम्, नक्षत्राणाम् = ताराणाम्, गतीः = गमनानि, रुणध्मि = वारयामि। सनगनगरीम् = नगैः = पर्वतैः, नगरैश्च सहितामिमाम् महीम् = पृथ्वीम्, अम्भः-पूर्णाम् = उदकपूर्णां विधाय = कृत्वा, भुवं समुद्रे निमग्नां कृत्वेत्यर्थः, कलय =

कापालिक—(क्रोध के साथ) क्यों रे पापी अधम पाखण्ड, मुण्डित-मुण्डचूडाकेश, केशलुञ्चक ! चतुर्दश भुवन के उत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता वेदान्त-प्रसिद्ध सिद्धान्त वाले भगवान् भवानीपति (शिव) वञ्चक हैं ? तो दिखायें इस धर्म की महिमा ?

हरिहर प्रभृति बड़े-बड़े देवताओं को (बलात्) ला सकता हूँ। आकाश में चलने वाले नक्षत्रों की गति को रोक सकता हूँ। पर्वतों तथा नगरों सहित इस

कलय सकलं भूयस्तोयं क्षणेन पिबामि तत् ॥ १४ ॥

क्षपणकः—अरे कापालिक, अत एव भणामि केनापीन्द्रजालिना मायां दर्शयित्वा विप्रलब्धोऽसीति। (अले कावालिअ, अदो जेव्व भणामि केणावि इन्दजालिणा माआं दंसीअ विप्पलद्धोऽसि त्ति)

कापालिकः—आः पाप, पुनरपि परमेश्वरमैन्द्रजालिकमित्याक्षिपसि तन्न मर्षणीयमस्य दौरात्म्यम्। (खड्गमाकृष्य) तदलमस्य।

एतत्करालकरवालनिकृत्तकण्ठ-

जानीहि, तत् सकलं तोयम् = जलम्, भूयः = पुनः, क्षणेन पिबामि। तत् सकलं जलं पीत्वा क्षणेन भूमिं पुनर्यथास्थितां करोमीत्यर्थः। एतत्सर्वमद्भुतं कार्यं स्वप्रभोर्महिम्ना तवाग्रतः कर्तुं प्रभवामीति भावः। हरिणी वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'। इति ॥ १४ ॥

क्षपणक इति। अतएव = तवेदृशकार्यसम्पादनप्रभुत्वादेव। भणामि = कथयामि। केनापीन्द्रजालिना = केनचिदैन्द्रजालिकेन। मायाम् = इन्द्रजालम्। विप्रलब्धोऽसि = त्वं प्रतारितोऽसि।

कापालिक इति। पाप = पापाचार! पुनरपि = भूयोऽपि। मर्षणीयम् = क्षन्तव्यम्। दौरात्म्यम् = दुष्टता।

एतत्करालेति। एतत्करालेत्यादिः—एतेन = मम हस्तधृतेन, करालेन = भीषणेन, करवालेन = खड्गेन निकृत्तात् = छिन्नात्, (अस्य) कण्ठनालात् =

पृथ्वी को जल पूर्ण कर, समझ लो पुनः उस सारे जल को क्षण भर में पी जाता हूँ ॥ १४ ॥

क्षपणक—अरे कापालिक, इसी से तो कह रहा हूँ कि किसी जादूगर ने जादू दिखा कर तुम्हें ठग लिया है।

कापालिक—आः पापी, फिर भी परमेश्वर को ऐन्द्रजालिक कह कर उनकी निन्दा कर रहा है। इसकी दुष्टता अब सहने योग्य नहीं है। (खड्ग खींच कर) तो बस, इसका—

इसी भीषण खड्ग से कण्ठ काट कर निकलते हुए फेनिल बुलबुलों से युक्त

नालोच्चलद्बहुलफेनिलवुद्‌बुदौघैः ।
साधं डमड्डमरुडांकृतिहूतभूत-
वर्गेण भर्गगृहिणीं रुधिरैर्धिनोमि ॥ १५ ॥

(इति खङ्गमुद्यच्छति)

क्षपणकः—(सभयम्) महाभाग, अहिंसा परमो धर्मोऽस्ति । (महाभाग्र, अहिंसापलमो धम्मो त्थि) (भिक्षोरङ्कं प्रविशति)

भिक्षुः—(कापालिकं वारयन्) भो भो महाभाग, कौतुकप्रयुक्तवाक्कलहेनायुक्तमेतस्मिंस्तपस्विनि प्रहर्तुम् ।

गलधमनीतः उच्चलन्तः = उच्छलन्तः बहलाः = प्रभूताः, फेनिलाः = फेनवन्तः, वुद्‌वुदानाम् ओघाः = समुदायाः, येषु तादृशैः, रुधिरैः = शोणितैः (करणभूतैः) डमड्डमरुडांकृतिहूतभूतवर्गेण सार्धम्—डमन् = शब्दं कुर्वन् यो डमरुः = वाद्यविशेषः, तस्य डाङ्कृतिः = डामित्यव्यक्तशब्दः, तया हूतः=आकारितः, भूतवर्गः = प्रेतगणः, तेन सार्धम् = तेन सह, भर्गगृहिणीम्—भर्गस्य = शिवस्य, गृहिणीम् = भार्याम्, शिवामित्यर्थः, धिनोमि = तर्पयामि । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १५ ॥

खड्गमुद्यच्छति = प्रहर्तुं खड्गमुत्थापयति ।

भिक्षुरिति । कौतुकप्रयुक्तवाक्कलहेन—कौतुकार्थमेव प्रयुक्तेन = कृतेन वाक्कलहेन = वार्तालापेन । एतस्मिन् तपस्विनि = जैनसाधौ । प्रहर्तुम् अयुक्तम् = प्रहारो नोचितः ।

रुधिर से, डमरु के डम डम शब्द के द्वारा वुलाये गये भूतगणों के सहित शिवपत्नी को तृप्त करता हूँ ॥ १५ ॥

(खड्ग तानता है)

क्षपणक—(भय से) महाभाग, अहिंसा परम धर्म है । (भिक्षु के अङ्क में दुवक जाता है)

भिक्षु—(कापालिक को रोकता हुआ) अरे ओ महाभाग, विनोदार्थ की गयी वातचीत के कलह से इस तपस्वी पर प्रहार करना अनुचित है ।

कापालिकः—(खड्गं प्रतिसंहरति)

क्षपणकः—(समाश्वस्य) महाभागो यदि संहृतघोररोषावेशः संवृत्तस्ततोऽहं किमपि प्रष्टुमिच्छामि । (महाभाओ जदि संहलिदघोललोसावेसो संवुत्तो तदो अहं किंवि पुच्छिदुमिच्छेमि)

कापालिकः—पृच्छ ।

क्षपणकः—श्रुतो युष्माकं परमो धर्मः । अथ कीदृशः सौख्यमोक्षः । (सुदो तुम्हाणं पलमो धम्मो । अध केलिसो सोक्खमोक्खो)

कापालिकः—शृण—

दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्झिता

कापालिक इति । प्रतिसंहरति = नियच्छति ।

क्षपणक इति । संहृतघोररोषावेशः—संहृतः = नियन्त्रितः, घोरः = भयानकः, रोषस्य = कोपस्य, आवेशः = आवेगो येन तादृशः । संवृत्तः = जातः । सौख्यमोक्षः = सौख्यप्रधानो मोक्षः ।

दृष्टमिति । विषयैः विना = विषयैः = वनितादिभिर्विना, सुखम्, क्वापि न दृष्टम् वनितादीनामेवानन्दकारणतेति भावः । (वैदिकत्वाभिमानिनां संमता) मुक्तिः, जीवस्य, आनन्दबोधोज्झिता—आनन्दः = सुखम्, तस्य बोधः = अनुभव-

---

कापालिक—(खड्ग को अलग हटा देता है)

क्षपणक—(समाश्वस्त होकर) यदि आप अपने घोर रोष के आवेग को रोक चुके हों तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ ।

कापालिक—पूछो ।

क्षपणक—तुम्हारे परम धर्म को तो सुन लिया । अब (आप का) सौख्य-मोक्ष कैसा है (बताइए) ।

कापालिक—सुनो—

विषयों के बिना कहीं आनन्द नहीं दीख पड़ता । (वैदिकों के मत में) जीव की आनन्दबोधरहित शिलाभावरूप (अचेतनतया) स्थिति ही मुक्ति है,

जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरुपलावस्था कथं प्रार्थ्यते ।
पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो
मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूडवपुरित्यूचे मृडानीपतिः ॥ १६ ॥

भिक्षुः— महाभाग, अश्रद्धेयमेतदवीतरागस्य मुक्तिरिति ।

क्षपणकः—अरे कापालिक, यदि न कुप्यसि तर्हि भणामि । शरीरी

स्तेन उज्झिता = रहिता, उपलावस्था = प्रस्तरभावेनावस्थानम्, चेतनस्य अचेतनतयावस्थानमित्यर्थः, स्थितिरेव, (अस्ति) तादृशी मुक्तिरचेतनत्वेनापुरुषार्थतया कथं प्रार्थ्यते ? तादृशी मुक्तिरप्रार्थनीयैवेति तात्पर्यम्, नास्ति तत्र कोऽपि लाभः, अपि तु चेतनस्याचेतनत्वापत्त्या हानिरेवेति भावः । (अस्माकं मते तु) पार्वत्याः प्रतिरूपया = पार्वतीभावं प्राप्तया दयितया = प्रियतया = प्रियया सानन्दम् = मद्यादिसेवनजन्यहर्षेण सह यथा स्यात्तथा, आलिङ्गितः यः स मुक्तः = संसारदुःखान्मुक्तः, चन्द्रचूडवपुः—चन्द्रचूडस्य = शिवस्य वपुरिव वपुर्यस्य तादृशः, शिवस्वरूप इत्यर्थः, क्रीडति = रमते । इति = एवम् शैवागमाभिमतसारूप्यमुक्तिस्वरूपम्, मृडानीपतिः=शिवः, ऊचे=उक्तवान् । तदनुसारं साधकः शिवरूपः, तस्य पार्वतीरूपभार्ययाऽऽलिङ्गितस्य सङ्गमजन्यानन्दानुभव एव मोक्ष इति शिवोक्तितात्पर्यम् । एतेनास्य पद्यस्य प्रथमचरणे 'दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैः' इति कापालिकोक्तिः सङ्गच्छते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

भिक्षुरिति । अवीतरागस्य—न वीतः = विनष्टः, रागः यस्य तादृशस्य, रागयुक्तस्येत्यर्थः, मुक्तिः = मोक्षः, इति एतत्, अश्रद्धेयम् = अविश्वसनीयम् ।

क्षपणक इति । शरीरी=देहसम्बन्धवान् । सरागी=रागयुक्तश्च । विरुद्धम्=

इसे कोई कैसे चाहेगा ? (हमारे मत में) पार्वती भाव को प्राप्त प्रिया से सानन्द आलिङ्गित शिवस्वरूप जीव मुक्त होकर क्रीडा करता है, ऐसा शिव का वचन है ॥ १६ ॥

भिक्षु—महाभाग, जिसका राग नहीं विनष्ट हुआ उसे भी मुक्ति मिलती है—इस बात पर विश्वास नहीं होता ।

क्षपणक—अरे कापालिक, यदि कुपित न हो तो कहूँ । शरीरी और

सरागी मुक्त इति विरुद्धम् । अले कावालिअ, जइ ण कुप्पसि तदो भणामि । सलीलो सलागी मुक्केति विलुद्धम्)

कापालिकः—(स्वगतम्) अये, अश्रद्धाक्षिप्तमनयोरन्तःकरणम् । भवत्वेवं तावत् (प्रकाशम्) श्रद्धे, इतस्तावत् ।

(ततः प्रविशति कापालिकीरूपधारिणी श्रद्धा)

करुणा—सखि, पश्य पश्य रजसः सुता श्रद्धा । या एषा—

विस्पष्टनीलोत्पललोललोचना
नरास्थिमालाकृतचारुभूषणा ।
नितम्बपीनस्तनभारमन्थरा

वेदविरुद्धमित्यर्थः ।

कापालिक इति । अनयोः = भिक्षुक्षपणकयोः । अन्तःकरणम् = हृदयम् । अश्रद्धया = अविश्वासेन, आक्षिप्तम् = व्याप्तमित्यर्थः ।

करुणेति । रजसः सुता = राजसी । सोमसिद्धान्तस्याभिलापप्रधानत्वादिति भावः । तत्स्वरूपमाह—विस्पष्टेति । विस्पष्टनीलोत्पललोललोचना—विस्पष्टे = विकसिते, नीलोत्पले = नीलकमले, तद्वत् लोले = चञ्चले, लोचने = नयने यस्यास्तादृशी, नरास्थिमालाकृतचारुभूषणा—नरास्थिमालया कृतं चारु = सुन्दरं, भूषणं यया तादृशी, नरास्थिमालाविभूषितेत्यर्थः, नितम्बनपीनस्तनभारमन्थरा–नितम्बयोः = श्रोण्योः, पीनयोः = मांसलयोः, स्तनयोः = कुचयोश्च

रागवान् मुक्त होता है—यह विरुद्ध है ।

कापालिक—(मन ही मन) अरे, इन दोनों का अन्तःकरण अश्रद्धा से व्याप्त है । अच्छा रहे । (प्रकट रूप में) श्रद्धे जरा इधर आओ ।

(तदनन्तर कापालिकीरूपधारिणी श्रद्धा का प्रवेश)

करुणा—सखि, देखो ! देखो ! यह राजसी श्रद्धा है । जो यह—

विकसित नीलकमलसदृश नेत्रों वाली, नरास्थिमाला से निर्मित भूषणों से

विभाति पूर्णेन्दुमुखी विलासिनी ॥ १७ ॥

(सहि, पेक्ख पेक्ख रजसस्सुदा सद्धा । जा एसा —

विप्पट्टणीलुप्पललोललोअणा

नरत्थिमालाकिदचालुभूसणा ।

णिअम्बपीणत्थणभालमन्थला

विहादि पुण्णेन्दुमुही विलासिणी ॥ १७ ॥)

श्रद्धा —(परिक्रम्य) एषास्मि । आज्ञापयतु स्वामी । (एसम्हि । आणवेदु सामी)

कापालिकः—प्रिये, एनं दुरभिमानिनं भिक्षुं तावद् गृहाण । (श्रद्धा भिक्षुमालिङ्गति)

भारेण = गौरवेण, मन्थरा = अलसगमना, पूर्णेन्दुमुखी —पूर्णेन्दुरिव मुखं यस्यास्तादृशी, विलासिनी = विलासवती, विभाति = शोभते । 'विस्पष्टनीलोत्पल-लोललोचना' इत्यत्र, 'पूर्णेन्दुमुखी' इत्यत्र चोपमाऽलङ्कारः । अत्र प्रथमचरणे 'इन्द्रवंशा' 'तच्चेन्द्रवंशा प्रथमाक्षरे गुरौ' इतिलक्षणत्वात्, अवशिष्टे पादत्रये वंशस्थम् । तयोः संवलितत्वादुपजातिः । प्रथमपादे 'विस्पष्ट' इत्यस्य स्थाने 'विनिद्र' इति पाठान्तरे शुद्धं वंशस्थम् ॥ १७ ॥

कापालिक इति । दुरभिमानिनम् = मिथ्याभिमानशालिनम् । भिक्षुम् = बौद्धसंन्यासिनम् । गृहाण = आश्रय, तद्धृदयपरिवर्तनायेति भावः ।

युक्त नितम्ब और पीनस्तन के भार से मन्दगामिनी पूर्णचन्द्रमुखी विलासिनी शोभित हो रही है ॥ १७ ॥

श्रद्धा —(चलकर) यह मैं (उपस्थित) हूँ । स्वामी आज्ञा दें ।

कापालिक —प्रिये, जरा इस दुरभिमानी भिक्षु को ग्रहण करो । (श्रद्धा भिक्षु का आलिङ्गन करती है) ।

भिक्षुः—(सानन्दं परिष्वज्य रोमाञ्चमभिनीय जनान्तिकं) अहो, सुख-स्पर्शा कापालिकी। तथाहि—

रण्डाः पीनपयोधराः कति मया चण्डानुरागाद् भुज-
द्वन्द्वापीडितपीवरस्तनभरं नो गाढमालिङ्गिताः।
बुद्धेभ्यः शतशः शपे यदि पुनः कुत्रापि कापालिकी-
पीनोत्तुङ्गकुचावगूहनभवः प्राप्तः प्रमोदोदयः॥ १८॥

भिक्षुरिति। जनान्तिकम्—त्रिपताककरेण अन्यानपवार्य केवलं कापालिकान्तिके इत्यर्थः। सुखस्पर्शा–सुखः = सुखकरः, स्पर्शः = आलिङ्गनं यस्या स्तादृशी, आनन्दकरालिङ्गना। तदेव सुखकरमालिङ्गनं वर्णयति—रण्डा इत्यादिना। मया = भिक्षुणा, चण्डानुरागात् = उत्कटमदनावेगवशात्, पीनपयोधराः—पीनौ = मांसलौ कठोरावित्यर्थः, पयोधरौ = कुचौ यासां तादृश्यः, कति रण्डाः = मृतपतिका अतएव सततसुरतहीना इत्यर्थः, भुजद्वन्द्वापीडितपीवरस्तनभरम्–भुजद्वन्द्वेन = बाहुयुगलेन, आपीडितः = अतिशयेन मर्दितः यः पीवरयोः = पीनयोः स्तनयोः = कुचयोः भरः = भारः यस्यां क्रियायां यथा स्यात्तथा, गाढम् = दृढम्, नो आलिङ्गिताः = नैवालिङ्गिताः, किं तु बहुसंख्याका आलिङ्गिता एवेत्यर्थः। बुद्धेभ्यः = स्वपरमगुरुभ्यः, शतशः शतवारम्, शपे = शपथं करोमि यदि पुनः कुत्रापि = कस्मिन्नपि रण्डालिङ्गने, कापालिकी पीनोत्तुङ्गकुचावगूहनभवः—कापालिक्याः पीनौ = पीवरौ, उत्तुङ्गौ = उन्नतौ, कुचौ = स्तनौ, तयोः अवगूहनम्=आलिङ्गनम्, तस्माद् भवः=जातः, प्रमोदोदयः= आनन्दाविर्भावः, प्राप्तः प्रत्यक्षीकृतः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १८॥

भिक्षु—(सानन्द आलिङ्गन कर रोमाञ्च का अभिनय कर, कापालिक से चुपके से) अहा! कापालिकी का सुखस्पर्श आश्चर्य जनक है। जैसा कि—

मैंने उत्कटमदनावेग वश पीनपयोधरों वाली कितनी रांडो को भुजाओं से पीन कुचों को खूब दबाकर गले नहीं लगाया किन्तु बुद्ध की सैकड़ों शपथ है जो कहीं भी इस कापालिकी के पीन एवम् उन्नत कुचों के आलिङ्गन के समान आनन्द मिला हो॥ १८॥

अहो पुण्यं कापालिकाचरितमहो श्लाघ्यः सोमसिद्धान्तः। आश्चर्योऽयं धर्मः। भो महाभाग, सर्वथा बुद्धानुशासनमस्माभिरुत्सृष्टम्। प्रविष्टाः स्मः पारमेश्वरं सिद्धान्तम्। तदाचार्यस्त्वं शिष्योऽहम्। प्रवेशय मां पारमेश्वरीं दीक्षाम।

क्षपणकः—अरे भिक्षो, कापालिकीस्पर्शदूषितस्त्वम्। तद्दूरमपसर। (अले भिक्खुअ, कावालिणीपलसदूसिदं तुमम्। ता दूलं अपसल)

भिक्षुः–आः पाप, वञ्चितोऽसि रे कापालिक्या परिरम्भमहोत्सवेन।

कापालिकः—प्रिये, क्षपणकं गृहाण। (कापालिकी क्षपणकमालिङ्गति)

अहो पुण्यमिति। 'अहो' इति प्राशस्त्यद्योतकमव्ययपदमत्र। पुण्यम् = पवित्रम्। श्लाघ्यः = प्रशंसनीयः सद्य एव प्रकृष्टानन्दप्रदत्वादिति भावः। उत्सृष्टम् = परित्यक्तम्। पारमेश्वरम्=शैवागमोक्तम्। पारमेश्वरीं दीक्षां प्रवेशय= परमेश्वरसम्बन्धिनीं दीक्षां देहीत्यर्थः।

क्षपणक इति। कापालिकीस्पर्शदूषितः–कापालिक्याः स्पर्शेन = आलिङ्गनेन दूषितः = पतितः। दूरमपसर = मां मा स्प्राक्षीरित्यर्थः।

भिक्षुरिति—परिरम्भमहोत्सवेन = आलिङ्गनजन्यप्रमोदेन।

अहा! धन्य है कापालिक का आचरण और प्रशंसनीय है सोमसिद्धान्त। यह धर्म आश्चर्यजनक है। महाभाग, हमने सर्वथा बौद्धमत छोड़ दिया। पारमेश्वर सिद्धान्त को अपना लिया। इसलिए तुम आचार्य और मैं शिष्य हूँ। मुझे परमेश्वर के मत की दीक्षा दो।

क्षपणक— अरे भिक्षु, तू कापालिकी के स्पर्श से दूषित हो चुका है। इसलिए दूर हटो।

भिक्षु— आः पापी, (तेरा दुर्भाग्य है) तू कापालिकी के आलिङ्गन के आनन्द से वञ्चित है।

कापालिक—प्रिये, क्षपणक का आलिङ्गन करो। (कापालिकी क्षपणक का आलिङ्गन करती है)

क्षपणकः—(सरोमाञ्चम्) अहो अर्हन् ! अहो अर्हन् ! कापालिक्याः स्पर्शसुखम् । सुन्दरि, देहि देहि पुनरप्यङ्कपालीम् । (स्वगतम्) अरे, महान् खल्विन्द्रियविकार उपस्थितः । तर्ह्यस्ति कोऽप्युपायः । किमत्र युक्तम् । भवतु पिच्छिकया छादयिष्यामि ।

अयि पीनघनस्तनशोभने
परित्रस्तकुरङ्गविलोचने ।
यदि रमसे कापालिकीभावैः
श्रावकाः किं करिष्यन्तीति ॥ १६ ॥

क्षपणक इति । अङ्कपालीम् = आलिङ्गनम् । इन्द्रियविकारः = शिश्नोत्थानादिरूपः । पिच्छिकया—पिच्छिका = मयूरमिच्छनिर्मितः पिच्छगुच्छः, यो जैनैः मार्गमार्जनसाधनत्वेन प्रयुज्यते, तया शिश्नोत्थानादिरूपेन्द्रियविकारं छादयिष्यामि।

अयि पीनघनेति । अयि पीनघनस्तनशोभने—पीनौ = पीवरौ, घनौ = परस्परमिलितौ यौ स्तनौ = कुचौ, ताभ्यां शोभना = मनोज्ञा, तत्सम्बुद्धौ तथोक्ते ! परित्रस्तकुरङ्गविलोचने—परित्रस्तस्य = भीतस्य, कुरङ्गस्य = मृगस्य विलोचने = नेत्रे इव विलोचने यस्यास्तत्सम्बुद्धौ तथोक्ते, यदि कापालिकीभावैः = ईदृशीभिः शृङ्गारचेष्टाभिः रमसे = मया सह क्रीडसि (तर्हि) श्रावकाः = जैनमतावलम्बिनो गृहस्थाः, किं करिष्यन्ति = न किमपीत्यर्थः, नास्ति तैः मम किमपि प्रयोजनमिति भावः ॥ १६ ॥

क्षपणक—(सरोमाञ्च) अहो अर्हन् ! अहो अर्हन् ! कापालिकी के स्पर्श में कितना सुख है ! सुन्दरि ! फिर आलिङ्गन दो ! दो ! (मन ही मन) अरे, महान् इन्द्रिय विकार उपस्थित है । तो क्या इसका कोई उपाय है । इस विषय में क्या उचित है । अच्छा मोर की पूँछ से ढक लूँगा ।

ओ पीन और घन स्तनों वाली । भयभीत मृग के नेत्रों के समान नेत्रों वाली । यदि तुम इसी कापालिकी भावों से आलिङ्गन देती रहो तो श्रावक क्या करेंगे । (अर्थात् मुझे श्रावकों से कोई प्रयोजन नहीं है) ॥ १६ ॥

अहो कापालिकदर्शनमेवैकं सौख्यमोक्षसाधनम्। भो कापालिक, अहं तव सांप्रतं दासः संवृत्तः। मामपि महाभैरवानुशासने दीक्षय। (अहो अरिहन्त, अहो अरिहन्त, कापालिनीए पलससुहं। सुन्दलि, देहि देहि पुणोवि अङ्कपालीम्। अरे, महन्तो क्खु इन्दिअविआलो उवत्थिदो। ता अत्थि कोवि उवाओ। किं एत्थ जुत्तम्। भोदु। पिच्छिआए ढंकिस्सम्।

अयि पीणघणत्थणसोहणि पलितत्थकुलङ्गविलोअणि!
जइ लमसि कावालिणीभावेहिं सावका किं कलिस्संदि॥

अहो कावालिअदंसणं जेव्व इक्कं सौक्खमोक्खसाहणम्। भो कावालिअ, हग्गे तुह्के सम्पदं दासो संवुत्तो। मंपि महाभैरवाणुसासणे दिक्खय)

कापालिकः—उपविश्यताम्।

(उभौ तथा कुरुतः)

(कापालिको भाजनं समादाय ध्यानं नाटयति)

श्रद्धा—भगवन्, सुरया पूरितं भाजनम्। (भअवं, सुलाए पूलितं भाअणम्)

कापालिकः—(पीत्वा शेषं भिक्षुक्षपणकयोरर्पयति)

श्रद्धेति। सुरया = तव ध्यानमात्रेणागत्य सुरया स्वयमित्यर्थः। भाजनम् = पानपात्रम्। पूरितम् = पूर्णीकृतम्।

अहा! कापालिकदर्शन ही एक सौख्य मोक्ष का साधन है। कापालिक, मैं अब तुम्हारा दास हो चुका। मुझे भी महाभैरव-मत में दीक्षित कर लो।

कापालिक—बैठ जाओ।

(दोनों वैसा करते हैं)

(कापालिक पानपात्र लेकर ध्यान का अभिनय करता है)

श्रद्धा—भगवन्, पात्र सुरा से पूर्ण हो चुका है।

कापालिक—(पीकर शेष भिक्षु और क्षपणक को देता है)

इदं पवित्रममृतं पीयतां भवभेषजम् ।
पशुपाशसमुच्छेदकारणं भैरवोदितम् ॥ २० ॥

(उभौ विमृशतः)

क्षपणकः—अस्माकमार्हतानुशासने सुरापानं नास्ति । (अम्हाणं अलिहन्ताणुसासणे सुलापाणं णत्थि)

भिक्षुः—कथं कापालिकोच्छिष्टां सुरां पास्यामि ?

कापालिकः—(विमृश्य जनान्तिकम्) किं विमृशसि श्रद्धे, पशुत्वमनयोर्नाद्याप्यपनीयते । तेनास्मद्वदनसंसर्गदोषादपवित्रां सुरामेतौ मन्येते ।

इदमिति । पवित्रम्, स्वभावत इति भावः । अमृतम् = अमृतोपममित्यर्थः, भवभेषजम्—भवस्य=संसारस्य, जन्ममरणादिरूपक्लेशपरम्पराया इत्यर्थः, भेषजम्= औषधम्, निवारकम्, भैरवोदितम् = महाभैरवप्रोक्तम्, पशुपाशसमुच्छेदकारणम्— पशुः = बद्धो जीव इत्यर्थः, तस्य पाशः = बन्धः, तस्य समुच्छेदे = आत्यन्तिकविनाशे कारणम्, इदम्=सुरारूपमित्यर्थः पीयताम्=पातव्यम् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।२०।

क्षपणक इति । आर्हतानुशासने = जैनागमे । सुरापानं नास्ति = अविहितं सुरापानमित्यर्थः, तत्कथं पास्यामीति भावः ।

भिक्षुरिति । कापालिकोच्छिष्टाम् = कापालिकपीतावशेषाम् ।

कापालिक इति । जनान्तिकम्=त्रिपताककरेणान्यानपवार्य केवलं श्रद्धान्तिके इत्यर्थः । विमृशसि = विचारयसि । पशुत्वम् = अज्ञानमित्यर्थः । अपनीयते =

यह पवित्र अमृत तथा भवभेषज पी लो । भैरव ने जिसे जीव (पशु) के बन्धन के विनाश का कारण कहा है ॥ २० ॥

(दोनों विचार करने लगते हैं)

क्षपणक—हमारे जैनमत में मदिरापान (विहित) नहीं है ।

भिक्षु—कापालिक की जूठी मदिरा कैसे पियूँगा ?

कापालिक—(विचार कर, कापालिकी के पास जाकर चुपके से) श्रद्धे, सोच क्या रही हो ? अभी तक इन दोनों का पशुत्व दूर नहीं हुआ है । इसीलिए हमारे मुख संसर्ग के दोष से ये दोनों मदिरा को अपवित्र मान रहे हैं । तो इसे

तद्भवती स्ववक्त्रासवपूतां कृत्वानयोरुपनयतु। यतस्तैर्थिका अपि वदन्ति 'स्त्रीमुखं तु सदा शुचि' इति।

श्रद्धा—यद्भगवानाज्ञापयति। (जं भअवं आणवेदि) (पानपात्रं गृहीत्वा पीतशेषमुपनयति)

भिक्षुः—महाप्रसादः (इति चषकं गृहीत्वा पिवति) अहो सुरायाः सौन्दर्यम्।

निपीता वेश्याभिः सह न कतिवारान्सुवदना-
मुखोच्छिष्टाऽस्माभिर्विकचवकुलामोदमधुरा।
कपालिन्या वक्त्रासवसुरभिमेतां तु मदिरा-

दूरीक्रियते। तेन = अज्ञानेन, एतौ = भिक्षुक्षपणकौ। अस्मद्वदनसंसर्गदोषात् = मन्मुखपीतावशिष्टतयोच्छिष्टत्वादित्यर्थः, अपवित्राम् मन्येते। स्ववक्त्रासवपूताम् = स्ववक्त्रे = स्वमुखे यः आसवः = सुरा, तेन पूताम्=पवित्राम्। उपनयतु=ददातु। तैर्थिकाः = धर्मशास्त्रकाराः।

निपीतेति। अस्माभिः वेश्याभिः सह कतिवारान् = बहुधा, सुवदना-मुखोच्छिष्टः—सुवदनानाम् = सुन्दरीणाम्, मुखैः उच्छिष्टा = पीतावशेषा, विकच-वकुलामोदमधुरा – विकचस्य = विकसितस्य, वकुलस्य = वकुलपुष्पस्य आमोदेन= सुगन्धेन, मधुरा = मिष्टा, सुरा न निपीता=नितरामास्वादिता, बहुधा पीतैवेत्यर्थः। कपालिन्याः = कापालिकयाः, अस्याः, वक्त्रासवसुरभिम्—वक्त्रासवेन = मुखमद्येन सुरभिम्=सुगन्धयुताम् तु एताम् मदिराम् अलब्ध्वा सुरगणः सुधायै स्पृहयति इति

तुम अपने मुख की मदिरा से पवित्र कर इनको दो। क्योंकि धर्मशास्त्रकार भी कहते हैं —'स्त्रियों का मुख सदा पवित्र होता है।'

श्रद्धा—जो आप की आज्ञा। (पानपात्र लेकर जूठा करके देती है)

भिक्षु—महाप्रसाद है। (प्याला लेकर पीता है) अहा! कैसा मदिरा-माधुर्य है।

हमने खिले हुए वकुल (मौलसिरी) पुष्पों के सुगन्ध से मधुर, सुन्दरियों की मुखोच्छिष्ट मदिरा कितनी वार नहीं पी है किन्तु हम समझते हैं कि (इस)

मलब्ध्वा जानीमः स्पृहयति सुधायै सुरगणः ॥ २१ ॥

क्षपणकः—अरे भिक्षो, मा सर्वं पिब। कापालिकीवदनोच्छिष्टां मदिरां मदर्थमपि धारय। (अले भिक्खुअ, मा सव्वं पिव। कावालिणीवअणोच्छिष्टं मइलं मदत्थंवि धालेसु)

(भिक्षुः क्षपणकाय चषकमुपनयति)

क्षपणकः—(पीत्वा) अहो सुराया मधुरत्वम्, अहो स्वादः, अहो गन्धः अहो सुरभित्वम्। चिरं खलु अर्हदनुशासने निपतितः प्रतिवञ्चितोऽस्मीदृशेन सुरारसेन। अरे भिक्षो, घूर्णन्ति ममाङ्गानि। तर्हि स्वप्स्यामि। (अहो, सुराए महुलत्तणम्, अहो सादो, अहो गन्धो, अहो सुलहित्तणम्। चिलं खु अलिहन्ताणुसासणे णिवडिदे पडिवञ्चिदोम्हि ईदिसेण सुलालसेण। अले भिक्खुअ, घोलयन्ति मं अङ्गाइं। ता सुविस्सम्)

जानीमः = प्रतीमः। 'सुधायै' इत्यत्र 'स्पृहेरीप्सितः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। एतत्कपालिनीमुखासवसुगन्धयुतामेतां मदिरां देवाश्चेदपास्यन् कदापि तेषां सुधायामादरो नाभविष्यदिति भावः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ २१ ॥

क्षपणक इति। कापालिकीवदनोच्छिष्टाम् = कापालिनीपीतशेषाम् अतएव नितरां मधुरामित्यर्थः। मदर्थमपि = मत्कृतेऽपि। धारय = रक्ष।

क्षपणक इति। मधुरत्वम् = माधुरी। सुरभित्वम् = सुगन्धः। अर्हदनुशासने = जैनमते। चिरम् = बहुकालपर्यन्तम्। सुरारसेन = मदिरास्वादेन। अत्र मधुरत्वमिति गन्धादिनिष्ठमाधुर्यपरम्, स्वाद इति गुडमरिचादिद्रव्यनिष्ठरुचिविशेषपरः, तथा गन्ध इति सहजवासनापरः, सुरभित्वमितिचागन्तुकवासनापरमिति बोध्यम्। घूर्णन्ति = भ्राम्यन्ति।

कपालिनी के मुख-मद्य से सुरभित इस मदिरा को न पा कर (ही) देवों ने सुधा की स्पृहा की होगी ॥ २१ ॥

क्षपणक—अरे भिक्षु, सब न पी डालो। कापालिकी की जूठी मदिरा मेरे लिए भी रक्खो। (भिक्षु क्षपणक को प्याला देता है)

क्षपणक—(पीकर) अहो ! सुरा की कैसी माधुरी, कैसा स्वाद, कैसी गन्ध, कैसा सौरभ है ! जैनमत में पड़कर बहुत दिनों तक ऐसे सुरारस से वञ्चित रहा हूँ। अरे भिक्षु, मेरे अङ्ग घूम रहे हैं। तो सोऊँगा।

भिक्षुः—एवं कुर्वः । (तथा कुरुतः)

कापालिकः—प्रिये, अमूल्यक्रीतं दासद्वयं लब्धम् । तन्नृत्यावस्तावत् । (उभौ नृत्यतः)

क्षपणकः—अरे भिक्षुक, एष कापालिकोऽथवाचार्यः कापालिक्या सार्धं शोभनं नृत्यति । तस्मादेताभ्यां सार्धमावामपि नृत्यावः । (अले भिक्खुअ, एसो कावालिओ अहवा आचालिओ कावालिनीए सद्ध सोहणं णच्चेदि । ता एदाए सद्धं अम्हेवि णच्चावः)

भिक्षुः—आचार्य, महाश्चर्यमेतद्दर्शनम् । यत्राक्लेशमभिमतार्थसिद्धयः संपद्यन्ते ।

(मदस्खलितं नृत्यतः)

क्षपणकः—(अयि 'पीणघणत्थण' इत्यादि पूर्वमेवोक्त्वा)

कापालिकः—कियदेतदाश्चर्यं पश्यसि ।

भिक्षुरिति । महाश्चर्यम् = अत्याश्चर्यकरम् । एतद्दर्शनम् = एष शैवागमः । अक्लेशम् = कायक्लेशं विनैव । अभिमतार्थसिद्धयः = अभीष्टपदार्थसिदधयः । सम्पद्यन्ते = सम्पन्नाः भवन्ति ।

कापालिक इति । कियदेतत् = अत्यल्पमिदमित्यर्थः ।

भिक्षु—ऐसा ही करते हैं । (दोनों वैसा करते हैं)

कापालिक—प्रिये, विना दाम के ख़रीदे दो दास मिल गये हैं । इस लिए हम दोनों जरा नाचें । (दोनों नाचते हैं)

क्षपणक—अरे भिक्षुक, यह कापालिक अथवा आचार्य कापालिक के साथ बहुत अच्छा नाच रहा है । इस लिए इन दोनों के साथ हम दोनों भी नाचें ।

भिक्षु—आचार्य, यह दर्शन अत्यन्त अद्भुत है । जिसमें अक्लेश ही अभीष्ट सिद्धि हो जाती है ।

(दोनों मस्ती में लड़खड़ाते नाचते हैं)

क्षपणक—(अयि 'पीनघनस्तनशोभने' इत्यादि ३।१९ पूर्वोक्त कहकर)

कापालिक—यह कितना-सा आश्चर्य देखते हो ।

अत्रानुज्झितचक्षुरादिविषयासङ्गेऽपि सिध्यन्त्यमू-
रत्यासन्नमहोदयाः प्रणयिनाप्यष्टौ महासिद्धयः।
वश्याकर्षविमोहनप्रशमनप्रक्षोभणोच्चाटन-
प्रायाः प्राकृतसिद्धयस्तु विदुषां योगान्तरायाः परम् ।२२।

क्षपणकः—अरे कापालिक, (विमृश्य) अथवा आचार्य, आचार्यराज कुलाचार्य । (अले कापालिअ, अहवा आचालिअ, आचालिअलाअ, कुलाचालिअ)

अत्रानुज्झितेति । अत्र = कापालिकमते प्रणयिना = प्रणयः = प्रीतिर्यस्य तच्छीलस्तेन, अभिनिविष्टेनेत्यर्थः । अनुज्झितचक्षुरादिविषयासङ्गेऽपि–अनुज्झितः= अपरित्यक्तः, चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयास्तेषामासङ्गः = सम्बन्धः, तस्मिन् सत्यपि, अमूः = तास्ताः, अष्टावपि = अणिमाद्या अष्टसंख्याकाः महासिद्धयः अत्यासन्नमहोदयाः—अत्यासन्नः = अतिनिकटः, महोदयः = महाफलं यासां तादृश्यः, समीपतरवर्तिमहाफलाः सत्यः, सिध्यन्ति = सिद्धा जायन्ते । वश्याकर्षविमोहनप्रशमनप्रक्षोभणोच्चाटनप्रायाः–वश्यम् = वशीकरणम्, आकर्षः = आकर्षणम्, मोहनम् = भ्रान्त्युत्पादनम्, प्रशमनम् = प्राक्तनसकलज्ञानभ्रंशः, प्रक्षोभणम् = मनसश्चलीकरणम्, उच्चाटनम् = स्थानभ्रंशः तत्प्रायाः = तत्प्रधानाः इत्यर्थः । प्राकृतसिद्धयः = साधारणसिद्धयस्तु विदुषाम् = विवेकिनाम्, परम् = अत्यन्तम्, योगान्तरायाः = योगविघ्नभूताः (भवन्ति) अतस्तुच्छतया त्याज्या इति भावः । कापालिकमते प्रवर्तमानेनेन्द्रियविषयसम्बन्धत्यागं विनापि अणिमाद्या अष्टावपि महासिद्धयोऽवाप्यन्ते । वशीकरणादयः साधारणसिद्धयस्तु विद्वद्भिरुपेक्ष्यन्ते तासां योगविघ्नभूतत्वादिति भावः । अष्टसिद्धयस्तु 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ।' इत्यभियुक्तोक्ताः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

क्षपणक इति । कापालिक इत्यारभ्य कुलाचार्य इत्यन्तमुन्मत्तप्रलपितम् ।

इस (कापालिक मत) में अभिनिविष्ट जन को, विना इन्द्रिय विषय के सम्बन्ध को छोड़े ही अष्ट महासिद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं और उनके महान् फल अत्यन्त निकटवर्ती होते हैं । वशीकरण, आकर्षण, विमोहन, प्रक्षोभण उच्चाटन आदि साधारण सिद्धियाँ तो विद्वानों के योग में विघ्नरूप ही होती हैं (अतः इनकी कामना नहीं करते) ॥ २२ ॥

क्षपणक–अरे कापालिक, (सोचकर) अथवा आचार्य, आचार्यराज, कुलाचार्य !

भिक्षुः—(विहस्य) अयमनभ्यासातिशयपीतया मदिरया दूरमुन्मनीकृतस्तपस्वी । तत्क्रियतामस्य मदापनयनम् ।

कापालिकः—एवं भवतु । (इति स्वमुखोच्छिष्टं ताम्बूलं क्षपणकाय ददाति)

क्षपणकः—(स्वस्थीभूय) आचार्य, इदं पृच्छामि । यादृशी युष्माकं सुराया आहरणसिद्धिः किं तादृशी सिद्धिः स्त्रीषु पुरुषेष्वप्यस्ति । (आचालिअ, एव्वं पुच्छिस्सम् । जादिसी तुम्हाणं सुलाए आहलणसिद्धी किं तादिसी सिद्धी इत्थिआसु पुलिसेसु अवि अत्थि)

कापालिकः—किं विशेषेण पृच्छ्यते । पश्य—

तामेव क्षपणकावस्थामालोक्यभिक्षुराह–अयमिति । अयम् = क्षपणकः । अनभ्यासातिशयपीतया = अनभ्यासेन सातिशयं च पीतया । दूरम् = अत्यन्तम् । उन्मनीकृतः = अतिभ्रान्ति गमितः । मदापनयनम् = मदापसारणक्रिया ।

क्षपणक इति । आहरणसिद्धिः = आनयनसामर्थ्यम् । यथा मन्त्रोच्चारणमात्रेण भवान् सुरामानीतवान् किं तथैव स्त्रियः पुरुषाँश्चानेतुं समर्थ इति प्रश्नस्याशयः ।

कापालिक इति । किं विशेषेण पृच्छ्यते—सामान्यतः सर्वाहरणक्षमे मयि, विशेषाहरणविषयकप्रश्नः व्यर्थमेव क्रियत इति भावः ।

भिक्षु—(हँसकर) विना आदत के वेचारे ने अधिक मदिरा पी ली है जिससे यह होश-हवास खो बैठा है । इस लिए इसका नशा दूर किया जाय ।

कापालिक—ऐसा ही हो । (अपने मुख का जूठा ताम्बूल क्षपणक को देता है)

क्षपणक—(स्वस्थ होकर) आचार्य, यह पूछता हूँ । जैसी आप के पास सुरा के आहरण की सिद्धि है क्या वैसी ही सिद्धि स्त्रियों पुरुषों के विषय में भी है ?

कापालिक—विशेष के लिए क्या पूछते हो ? देखो—

विद्याधरीं वाथ सुराङ्गनां वा नागाङ्गनां वाप्यथ यक्षकन्याम् ।
यद्यन्ममेष्टं भुवनत्रयेऽपि विद्याबलात्तत्तदुपाहरामि ॥ २३ ॥

क्षपणकः—भो, इदं मया गणितेन ज्ञातम् । यत्सर्वेऽपि वयं महामोहस्य किङ्करा इति । (भो, एदं मए गणिदेण ण्णादं । जं सव्वेवि अम्हे महामोहस्स किंकले त्ति)

उभौ—यथा ज्ञातमायुष्मता। एवमेतत् ।

क्षपणकः—तर्हि राजकार्यं किमपि मन्त्रितव्यम् । (ता लाअकज्ज किंवि मन्तिदव्वम्)

कापालिकः—किं तत् ।

क्षपणकः—सत्त्वस्य सुता श्रद्धा महाराजस्याज्ञयाह्वियतामिति । (तत्तस्स सुदा सद्धा महालाअस्स अण्णाए आड्लिअदु त्ति)

विद्याधरीमिति । विद्याधरीम् = विद्याधरस्त्रियम्, अथवा सुराङ्गनाम् = देवरमणीम्, वा नागाङ्गनाम् = नागललनाम्, अथवा यक्षकन्याम् = अकृतविवाहां यक्षपुत्रीम्, (किं बहुना) भुवनत्रयेऽपि = त्रैलोक्येऽपि यत् यत् मम इष्टम् तत्तत् विद्याबलात् = आकर्षणमन्त्रसिद्धिबलात् उपाहरामि = उपाहर्तुं शक्नोमीत्यर्थः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा–'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति ॥२३॥

क्षपणक इति । सर्वेऽपि वयम् = अहम्, त्वं कापालिकश्च, अयं भिक्षुश्चेति वयम् । किङ्कराः = दासाः । राजकार्यम्–राज्ञः = महामोहस्य, कार्यम् = इष्टसाधकं कर्म । मन्त्रितव्यम् = चिन्तनीयम् ।

सत्त्वस्य सुता = सात्त्विकी । आह्वियताम् = आकृष्य समीपमानीयताम् ।

विद्याधरी, देवाङ्गना, नागाङ्गना अथवा यक्षकन्या कोई हो, जिसे संसार में चाहूँ विद्याबल से उसे ले आ सकता हूँ ॥ २३ ॥

क्षपणक—अरे, गणित के द्वारा मैंने यह जान लिया कि हम सभी महामोह के सेवक हैं ।

दोनों—आयुष्मान् (तुमने) जैसा जाना, ठीक है ।

क्षपणक—तो कुछ राजकार्य सोचना चाहिए ।

कापालिक—वह क्या ?

क्षपणक—सात्त्विकी श्रद्धा, महाराज की आज्ञा से आहृत की जाय ।

कापालिकः—कथय क्वासौ दास्याः पुत्री। एष तामचिरमेव विद्याबलादुपाहरामि। (क्षपणकः खटिकामादाय गणयति)

शान्तिः—सखि, अम्बागतमिव हताशानामालापं शृणोमि तदवधानेन तावदाकर्णयावः।

करुणा—सखि, एवं कुर्मः। (सहि एव्वं करेम्ह) (उभे तथा कुरुतः)

क्षपणकः—(गाथां गणयित्वा)

नास्ति जले नास्ति स्थले, नास्ति गिरिगह्वरेषु नास्ति पाताले।
सा विष्णुभक्तिसहिता, वसति हृदये महात्मनाम्॥ २४॥
(णत्थि जले णत्थि थले, णत्थि गिलिगव्हलेसु णत्थि पाआले।
सा विण्णुभत्तिसहिदा, वसदि हिअए महम्माणम्॥)

करुणा—(सानन्दम्) सखि, दिष्ट्या वर्धसे विष्णुभक्त्या देव्याः पार्श्ववर्तिनी श्रद्धेति। (सहि दिट्ठिआ वड्ढसि विण्णुभत्तिए देवीए पास्सवत्तिणी सद्धेत्ति) (शान्तिः हर्षं नाटयति)

शान्तिरिति। अम्बागतम् = श्रद्धाविषयकम्। हताशानाम् = अधमानाम्। आलापम् = वार्ताम्। अवधानेन = सावधानतया। आकर्णयावः = शृणुवः।

नास्ति जल इति। गिरिगह्वरेषु = पर्वतकन्दरासु। सा विष्णुभक्तिसहिता= विष्णुभक्त्या सह सा सात्त्विकी श्रद्धा॥ २४॥

करुणेति। पार्श्ववर्तिनी = समीपे वर्तमाना।

कापालिक—कहो, वह दासी की छोकरी कहाँ है? यह मैं अभी विद्यावल से उसे आहृत करता हूँ। (क्षपणक खड़िया लेकर गिनता है)

शान्ति—सखि, माँ (श्रद्धा) के विषय की-सी अभागों की बात-चीत सुन रही हूँ। तो जरा ध्यान से सुनें!

करुणा—सखि, ऐसा ही करें। (दोनों वैसा करती हैं)

क्षपणक—(गाथा गिनकर)

न जल में है, न स्थल में है, न पर्वतों की कन्दराओं में है, न पाताल में है। वह विष्णुभक्तिसहित महात्माओं के हृदय में वास करती है॥ २४॥

करुणा—(आनन्द के साथ) सखि, तुम्हें बधाई है। श्रद्धा देवी विष्णु भक्ति के पास है।

भिक्षुः—अथ धर्मस्य कामादपक्रान्तस्य कुत्र प्रवृत्तिः ?

क्षपणकः—(पुनर्गणयित्वा)

नास्ति जले नास्ति वने, नास्ति गिरिह्वरेषु नास्ति पाताले।
विष्णुभक्त्या सहितो, वसति हृदये महात्मनाम ॥ २५ ॥

(णत्थि जले णत्थि वणे, णत्थि गिलिगव्हलेसु णत्थि पाआले।
विष्णुभत्तिए सरिदो, वसदि हिअए, महम्माणम् ॥)

कापालिकः—(सविषादम्) अहो महत्कष्टमापतितं महाराजस्य। तथाहि—

मूलं देवी सिद्धये विष्णभक्ति-
स्तां च श्रद्धानुव्रता सत्त्वकन्या।
कामान्मुक्तस्तत्र धर्मोऽप्यभूच्चेत्-
सिद्धं मन्ये तद्विवेकस्य कृत्यम् ॥ २६ ॥

भिक्षुरिति। कामादपक्रान्तस्य = कामं विहाय पृथग्भूतस्य, निष्कामभावेन धर्मस्य क्रियमाणतयेयमुक्तिः। प्रवृत्तिः = अवाप्तिः।

नास्तीति। धर्मो विष्णुभक्त्या सह महात्मनां हृदये वसति, तेषां निष्कामधर्मचारित्वादिति भावः ॥ २५ ॥

मूलमिति। सिद्धये = बोधोत्पत्तिरूपकार्यनिष्पत्तये, मूलम् = प्रथमं कारणम्, देवी विष्णुभक्तिः, अस्तीति शेषः। ताम् = विष्णुभक्तिं च, सत्त्वकन्या = सात्त्विकी, श्रद्धा, अनुव्रता = अनुगता। चेत् = यदि, तत्र श्रद्धाविष्णुभक्तिसमीपे, कामात् मुक्तः = निष्कामः, धर्मोऽपि अभूत् तत् = तदा, विवेकस्य कृत्यम् = कार्यम्, सिद्धम् = निष्पन्नं मन्ये, निष्पन्नमित्येव मन्य इत्यर्थः।

भिक्षु—और काम को छोड़कर पृथक् हुए धर्म की अवाप्ति कहाँ होगी ?

क्षपणक—(पुनः गिनकर)

न जल में है, न वन में है, न गिरिकन्दराओं में है, न पाताल में है। (वह धर्म) विष्णुभक्ति सहित, महात्माओं के हृदय में वास करता है ॥ २५ ॥

कापालिक—(विषाद के साथ) महाराज (मोह) को बड़ा कष्ट उपस्थित है। क्योंकि—

(प्रबोधोदय की) सिद्धि का मूल (प्रथम कारण) विष्णुभक्ति है।

तथापि तावदसुव्ययेनापि स्वामिनः प्रयोजनमनुष्ठेयम्। तन्महाभैरवीं विद्यां धर्मश्रद्धयोराहरणाय प्रस्थापयामः। (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

शान्तिः—आवामप्येवं हताशानां व्यवसायं देव्यै विष्णुभक्त्यै निवेदयावः।

(इति निष्क्रान्ते)

इति श्रीकृष्णमिश्रविरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाम्नि नाटके तृतीयोऽङ्कः।३।

श्रद्धायाः, विष्णुभक्तेः, निष्कामधर्मस्य चैकत्र समवेतत्वादन्तःकरणशुद्धिपूर्वकं प्रबोधोदयो जायत इति भावः। शालिनी वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' ॥ २६ ॥

तथापीति। तथापि = एवं सत्यपि। असुव्ययेनापि = प्राणान् दत्त्वाऽपि। स्वामिनः = मोहस्य प्रयोजनम्=सात्त्विकश्रद्धाविष्णुभक्तिनिष्कामधर्माणां विघटनम्। अनुष्ठेयम् = करणीयम्। तत् = तस्मात्कारणात्। आहरणाय = आनयनाय। प्रस्थापयामः = प्रेषयामः।

शान्तिरिति। एवम् = धर्मश्रद्धयोराहरणरूपमित्यर्थः। व्यवसायम् = कूटयुक्तिमित्यर्थः।

इति कल्याण्याख्यायां प्रबोधचन्द्रोदयव्याख्यायां तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥

और सात्त्विकी श्रद्धा उसके साथ है। यदि काम से मुक्त धर्म भी वहाँ पहुँच गया तो समझता हूँ कि विवेक का कार्य सिद्ध हो गया ॥ २६ ॥

फिर प्राणों को देकर भी स्वामी का कार्य करना है। तो हम महाभैरवी विद्या को धर्म और श्रद्धा के आहरण के लिए भेजते हैं। (सब चले गये)

शान्ति—हम दोनों भी, अभागों की ऐसी कूटयुक्ति को देवी विष्णु भक्ति से निवेदित करें। (दोनों चली गयीं)

इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय की 'कल्याणी' हिन्दी व्याख्या में तृतीय अङ्क समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति मैत्री)

मैत्री—श्रुतं मया मुदितायाः सकाशाद्यथा महाभैरवीसङ्ग्रसनसंभ्रमाद्भगवत्या विष्णुभक्त्या परित्राता प्रियसखी श्रद्धेति। तदुत्कण्ठितेन हृदयेन प्रियसखीं श्रद्धां कदा प्रेक्षिष्ये। (सुदं मए मुदिताए सआसादो जधा महाभैरवीसङ्गसणसम्भादो भअवदीए विष्णुभत्तिए परित्तादा प्पिअसही सद्धेति। ता उक्कण्ठिदेण हिअएण पिअसहीं सद्धां कदा पेक्खिस्सम्) (परिक्रामति)

(ततः प्रविशति श्रद्धा)

श्रद्धा—(सभयोत्कम्पम्)

घोरां नारकपालकुण्डलवतीं विद्युच्छटां दृष्टिभिः

मैत्रीति। मुदितायाः सकाशात् = मुदितमुखादित्यर्थः। महाभैरवीसंग्रसनसंभ्रमात्–महाभैरवी = श्रद्धामाहर्तुं कापालिकाज्ञयाऽऽगता तन्नाम्नी पिशाची, तया संग्रसनम् = बलाद् ग्रहणम्, तस्माद्यः सम्भ्रमः = भयम्, तस्मात्। परिक्रामति = किञ्चिद्गमनं नाटयतीत्यर्थः।

श्रद्धेति। सभयोत्कम्पम्––भयेन य उत्कटः कम्पनम्, तेन सह।

घोरामिति। अहो = आश्चर्यम्, घोराम् = भयावहाम्, नारकपालकुण्डलवतीम्-नरस्येमे इति नारे = नरसम्बन्धिनी ये कपाले एव कुण्डले तद्वतीम्, नरकपालकुण्डलविभूषितामित्यर्थः, दृष्टिभिः = नेत्रैः, त्रिनेत्रत्वेन बहुवचनम्।

(तदनन्तर मैत्री का प्रवेश)

मैत्री—मैंने मुदिता से सुना है कि महाभैरवी द्वारा ग्रस्त होने के भय से प्रिय सखी श्रद्धा को भगवती विष्णुभक्ति ने बचा लिया है। अतः उत्कण्ठित हृदय से प्रियसखी श्रद्धा को कब देखूँगी ? (चलती है)

(तदनन्तर श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—(भय से काँप कर) अहो ! भयावहा, नरकपाल का कुण्डल धारण करने वाली, नेत्रों से चारों ओर विद्युच्छटा प्रकट करने वाली, आग की

मुञ्चन्तीं विकरालमूर्तिमनलज्वालापिशङ्गैः कचैः।
दंष्ट्राचन्द्रकलाङ्कुरान्तरललज्जिह्वां महाभैरवीं
पश्यन्त्या इव मे मनः कदलिकेवाद्याप्यहो वेपते ॥ १ ॥

मैत्री—(स्वगतम्) अये, एषा मे प्रियसखी श्रद्धा भयसमुद्भ्रान्तहृदयाकलितकम्पतरलैरङ्गैः किमपि मन्त्रयन्ती संमुखागतामपि मां न लक्षयति। तस्मादालपिष्यामि तावत्। (प्रकाशम्) प्रियसखि श्रद्धे,

---

विद्युच्छटाम् = विद्युन्मालाम्, मुञ्चन्तीम् = परितः प्रसारयन्तीम्, अनलज्वालापिशङ्गैः—अनलस्य = अग्नेः, ज्वाला = शिखा, तद्वत् पिशङ्गैः = कपिशवर्णैः, कचैः = केशैः, विकरालमूर्तिम् = भयङ्करशरीराम्, दंष्ट्राचन्द्रकलाङ्कुरान्तरललज्जिह्वाम्—दंष्ट्राः = दन्ता एव चन्द्रकलाङ्कुराः = बालचन्द्ररेखाः, तदन्तरे = तन्मध्ये ललन्ती = चला जिह्वा यस्यास्तादृशीम्, महाभैरवीम्=कापालिकप्रेरिताम् मदाहरणार्थमागतां तन्नाम्नीं पिशाचीम्, पश्यन्त्या इव मे=मम, मनः, कदलिकेव= रम्भेव, अद्यापि = तदपसरणादनन्तरमपि, वेपते = कम्पते। 'अनलज्वालापिशङ्गैः' इत्यत्र, 'कदलिकेव' इत्यत्र चोपमाऽलङ्कारः। दंष्ट्राचन्द्रकलाङ्कुराः' इत्यत्र रूपकम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

मैत्रीति। भयसमुद्भ्रान्तहृदयाकलितकम्पतरलैः—भयेन = भीत्या समुद्भ्रान्तम् = अनवस्थितम्, हृदयम् = चित्तम्, तस्मिन् आकलितः = उत्पन्नो यः कम्पः, तेन तरलैः = चञ्चलैः, अङ्गैः, उपलक्षितेति शेषः। मन्त्रयन्ती = मन्दमभिदधाना। संमुखागतामपि = पुरतः उपस्थितामपि। न लक्षयति = न पश्यति, अन्यमनस्कतया न संजानाति मदागमनमिति भावः। आलपिष्यामि=व्याहरिष्यामि,

---

लपटों के समान कपिश वर्ण केशों से विकराल मूर्ति, दाँत रूप चन्द्रकला के बीच लपलपाती जीभ वाली महाभैरवी को अब भी मानों देख रही हूँ, इस प्रकार मेरा मन कदली के समान काँप रहा है ॥ २ ॥

मैत्री—(मन ही मन) अरे, यह मेरी प्रिय सखी श्रद्धा भयाकुल हृदय में उत्पन्न कम्पन से तरल अङ्गों से युक्त कुछ ही कह रही है और सामने समीप आ जाने पर भी मुझे नहीं देख रही है इसलिए (अपनी उपस्थिति जताने के

किमिति त्वमुत्कलितहृदया मामपि न विलोकयसि । (अए, एसा मे पिअसही सद्धा भअसमुब्भान्तहिअआकलिदकम्पतरलेहिं अङ्गेहिं किंवि मन्तअन्ती संमुहागदंवि मं ण लक्खेदि ता आलविस्सं दाव। पिअसहि सद्धे, किंति तुमं उक्कलिदहिअआ मवि ण विलोएदि)

श्रद्धा—(विलोक्य सोच्छ्वासम्) अये, मे प्रियसखी मैत्री ।

कालरात्रिकरालास्यदन्तान्तर्गतया मया ।
दृष्टाऽसि सखि सैव त्वं पुनरत्रैव जन्मनि ॥ २ ॥

तदेहि गाढं परिष्वजस्व माम् ।

मैत्री—(तथा कृत्वा) सखि, तदा विष्णुभक्तिनिर्भर्त्सितप्रभावाया

स्वोपस्थितिं ज्ञापयितुमिति भावः । उत्कलितहृदया—उत्कलितम् = चिन्तातुरम्, हृदयम् = चित्तं यस्यास्तादृशी, चिन्तितहृदयेत्यर्थः । मामपि = मैत्रीमपि, स्वाभिन्नसखीमिति भावः ।

कालरात्राति । कालरात्रिकरालास्यदन्तान्तर्गतया—कालरात्रेरिव करालम् = भयावहम्, आस्यम् = मुखम्, तस्मिन् ये दन्ताः, तदन्तर्गतया = तन्मध्यगतया मया सैव त्वम् पुनः अत्रैव जन्मनि दृष्टाऽसि। सौभाग्यवशादेवाहं मृत्युमुखात्सकुशलं निर्गत्य प्रियसखीं त्वां पुनरत्रैव जन्मनि पश्यामीति भावः ॥ अनुष्टुब्वृत्तम् ॥२॥

तदेहीति । तत् = मम पुनर्जीवनलाभादित्यर्थः । एहि = आगच्छ । परिष्वजस्व = आलिङ्ग ।

मैत्रीति विष्णुभक्तिनिर्भर्त्सितप्रभावायाः—विष्णुभक्त्या निर्भर्त्सितः =

लिए) कुछ कहूँगी । (प्रकट रूप में) प्रियसखि श्रद्धे, तुम्हारा हृदय क्यों ऐसा अनवस्थित हो रहा है कि मुझे भी नहीं देख रही हो ?

श्रद्धा—(देखकर, आह भर कर) अरे, मेरी प्रिय सखी मैत्री !

कालरात्रि के समान (भैरवी के) मुँह और दाँत के भीतर जाकर भी पुनः इसी जन्म में मैंने तुम्हें देखा ॥ २ ॥

तो आओ, मुझे गले लगाओ ।

मैत्री—(वैसा करके) सखि, उस समय जब विष्णुभक्ति के द्वारा महा

महाभैरव्याः कस्मात्तेऽद्यापि वेपन्तेऽङ्गानि । (सहि तधा विण्हुभत्तिणिब्भ-त्थिदप्पभावाए महाभैरवीए कहं दे अज्जवि वेवन्दि अङ्गाइं)

(श्रद्धा घोरामित्यादि पठति)

मैत्री—(सत्रासम्) अहो, हताशा घोरदर्शना । अथ तयागतया किं कृतम् । (अहो, हदासा घोलदंसणा । अध ताए आगदाए किं किदम्)

श्रद्धा—

श्येनावपातमवपत्य पदद्वये मा-
मादाय धर्ममपरेण करेण घोरा ।
वेगेन सा गगनमुत्पतिता नखाग्र-
कोटिस्फुरत्पिशितपिण्डयुगेव गृध्री ॥ ३ ॥

तिरस्कृतः, विनाशित इत्यर्थः, प्रभावः = सामर्थ्यं यस्यास्तादृश्याः ।

श्रद्धा महाभैरवीकृताक्रमणं वर्णयति—श्येनावपातमिति । घोरा=भीषणा, सा= महाभैरवी, श्येनावपातम्=श्येन इव अवपत्य, 'कर्त्तयुपमाने' इति णमुल् । 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोग' इति सोपसर्गस्यानुप्रयोग इति बोध्यम् । अवपत्य=निपत्य, माम्= श्रद्धाम्, चरणद्वये, आदाय = गृहीत्वा, एकेन करेण मम पदद्वयं धृत्वेत्यर्थः अत्र कर्मैकदेशस्य पदद्वयस्य क्रियाधारत्वविवक्षया सप्तमी । अपरेण = अन्येन, करेण=हस्तेन, धर्मम् आदाय, नखाग्रकोटिस्फुरत्पिशितपिण्डयुगा—नखाग्रकोट्योः= नखाग्रवक्रभागयोः, स्फुरत् = प्रकाशमानम्, धृतमित्यर्थः, पिशितस्य = मांसस्य पिण्डयुगम् = पिण्डद्वयं यस्याः सा गृध्रीव, गृध्रीति 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष् । वेगेन गगनम् = आकाशम्, उत्पतिता = उड्डीय गता । यथा गृध्री चरणद्वयस्य नखाग्रवक्रभागेन मांसखण्डयुगमादाय पुनराकाशमुत्पतति तथैव सा

भैरवी का प्रभाव निष्फल कर दिया गया, तब अब भी तुम्हारे अङ्ग क्यों काँप रहे हैं ?

(श्रद्धा 'घोराम्' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य (४।१) को पुनः पढती है)

मैत्री—(भय से) अहो, निगोड़ी बड़ो भयंकर है । अच्छा, उसने आकर क्या किया ?

श्रद्धा—बाज की तरह झपट कर मेरे दोनों पैरों को एक हाथ से और

मैत्री--हा धिक् हा धिक्। (हद्धी हद्धो) (इति मूर्च्छति)

श्रद्धा--सखि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

मैत्री--(आश्वस्य) ततस्ततः (तदो तदो)

श्रद्धा--ततः परमस्मदीयार्तनादोपजातदयार्द्रचित्तया देव्या—

भ्रूभङ्गभीमपरिपाटलदृष्टिपात-
मुद्गाढकोपकुटिलं च तथा व्यलोकि।
सा वज्रपातहतशैलशिलेव भूमौ

भैरवी श्येनवन्मदुपरि पतित्वा करेणैकेन मम पादौ, अपरेण च धर्ममादायाकाशमुत्पतितेति भावः। उपमाऽलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ।। ३ ।।

श्रद्धेति। अस्मदीयार्तनादोपजातदयार्द्रचित्तया—अस्मदीयः = मम धर्मस्य च यः आर्तनादः = करुणक्रन्दनम्, तस्मादुपजाता = उत्पन्ना या दया = करुणा, तया आर्द्रं चित्तं यस्यास्तया देव्या = विष्णुभक्त्या।

भ्रूभङ्गेति। भ्रूभङ्गभीमपरिपाटलदृष्टिपातम्—भ्रुवोः भङ्गः = वक्रता, तेन भीमः = भयङ्करः, परिपाटलः = शोणश्च दृष्टिपातो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा' उद्गाढकोपकुटिलम्—उद्गाढः = सातिशयो यः कोपस्तेन कुटिलं यथा स्यात्तथा तेन प्रकारेण व्यलोकि = दृष्टा, सा भैरवी यथा = येन प्रकारेण, वज्रपातहतशैलशिलेव—वज्रपातेन हता = खण्डितेत्यर्थः, शैलशिला = पर्वतखण्डम्,

---

धर्म को दूसरे हाथ से पकड़ वह दुष्टा, दोनों चंगुखों में मांसखण्ड लिए गृध्री की तरह वेग से आकाश की ओर उड़ गयी ।। ३ ।।

मैत्री—हाय ! हाय ! (मूर्च्छित हो जाती है)

श्रद्धा—सखि, धीरज धरो, धीरज धरो।

मैत्री—(आश्वस्त होकर) उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

श्रद्धा—उसके बाद मेरे और धर्म के आर्त्तनाद से उत्पन्न दया से आर्द्रचित्त हो देवी ने--

भौंहें टेढी कर रक्त नेत्रों से तीव्रकोपवश कुटिलतापूर्वक उसे ऐसा देखा कि वह वज्राहत शैलखण्ड की तरह गिरी और उसका सिर टेढ़ा-मेढ़ा हो गया

व्याभुग्नजर्जरशिरोस्थि यथा पपात ॥ ४ ॥

मैत्री—दिष्टया मया दृष्टा क्रुद्धशार्दूलमुखाद्विभ्रष्टा मृगीव क्षेमेण संजीविता प्रियसखी। (दिट्ठिआ मय दिट्ठा क्रुद्धसाद्दूलमुहादो विब्भट्ठा मिईव क्खेमेण संजीविदा पिअसहा)

श्रद्धा—ततो देव्या समुपजाताभिनिवेशमुक्तमेवमस्य दुरात्मनो महामोहहतकस्य मामप्यवज्ञाय प्रवर्तमानस्य समूलमुन्मूलनं करिष्यामीति। आदिष्टा चाहं देव्या। यथा गच्छ श्रद्धे ब्रूहि विवेकम। कामक्रोधादीनां निर्जयायोद्योगः क्रियताम्। ततो वैराग्यं प्रादुर्भविष्यति।

व्याभुग्नजर्जरशिरोस्थि—व्याभुग्नम्=कुटिलीभूतम्, जर्जरम्=विशीर्णं च शिरोऽस्थि=शिरःकपालं यस्मिन् तद्यथा स्यात्तथा, भूमौ = भूतले, पपात। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

मैत्रीति। दिष्टया = भाग्यवशात्। मया = मैत्र्या। क्रुद्धशार्दूलमुखाद् = कुपितव्याघ्रवदनात्। 'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे' इत्यमरः। विभ्रष्टा = विच्युता। क्षेमेण संजीविता = कुशलपूर्वकं जीवनं धारयन्ती। कुपितव्याघ्रधृता यथा मृगी सौभाग्यवशात् तन्मुखात्कदाचिदेव भ्रष्टा जीवति तथैव कुपितमहाभैरवीगृहीता क्षेमेण त्वं तन्मुक्ता संजीवितेति सौभाग्यमेव—जानीहीति भावः।

श्रद्धेति। समुपजाताभिनिवेशम्—समुपजातः = समुत्पन्नः, अभिनिवेशः = दृढनिश्चयः, यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा। अवज्ञाय=तिरस्कृत्य। प्रवर्तमानस्य= विचेष्टमानस्य। समूलमुन्मूलनम् = सकुलविनाशम्। मत्पार्श्वस्थितयोरपि श्रद्धाधर्मयोराहरणाय महाभैरवीं नियुक्तवता महामोहेन मम तिरस्कारः कृतस्तत् सकुलं तं खलु विनाशयिष्यामीति भावः। अहम् = श्रद्धा। देव्या = विष्णुभक्त्या। आदिष्टा = आज्ञप्ता। निर्जयाय = विजेतुम्। ततो वैराग्यं प्रादुर्भविष्यति = तेषु

एवम् उसकी हड्डी चूर-चूर हो गयी ॥ ४ ॥

मैत्री—भाग्य से मैंने, क्रुद्ध वाघ के मुँह से गिरी मृगी के समान, सकुशल जीवित प्रिय सखी को देखा।

श्रद्धा—उसके बाद देवी विष्णुभक्ति ने आवेश में आकर कहा—मेरा भी तिरस्कार कर ऐसा करने में प्रवृत्त होने वाले, इस नीच महामोह का समूल

अहं च यथासमयं प्राणायामाद्यनुप्राणनेन युष्मत्सैन्यमनुग्रहीष्यामि। ऋतंभरादयश्च देव्यः शान्त्यादिकौशलेनोपनिषद्देव्या संगतस्य भगवतः प्रबोधोदयमनुविधास्यन्तीति। तदहमिदानीं विवेकसंनिधिं प्रस्थिता। त्वं पुनः किमाचरन्ती दिवसानतिवाहयसि।

मैत्री—वयमपि विष्णुभक्तेराज्ञया चतस्रो भगिन्यो विवेकसिद्धिकारणेन महात्मनां हृदयेऽभिवर्तामहे। (अह्मेवि विण्णुभत्तिए अण्णाए चतस्सो वहिणीओ विवेअसिद्धिकालणेण महाप्पणं हिअए अहिवट्टम्हो) (संस्कृतमाश्रित्य) तथाहि—

कामक्रोधादिषु जितेषु वैराग्यं समुत्पत्स्यते। प्राणायामाद्यनुप्राणनेन = प्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणादीनामुज्जीवनेन। युष्मत्सैन्यम् = वस्तुविचारादिरूपम्। ऋतम्भरादयः—ऋतम् = सत्यं, भरति=बिभर्तीति ऋतम्भरा = प्रज्ञा 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इत्यादियोगदर्शनोक्तेः। ऋतम्भरादयश्च, शान्त्यादिकौशलेन=शान्त्यादिरूपेण कौशलेन = समुचितसाधनेन। अनुविधास्यन्ति = अज्ञानावरणनाशानन्तरं करिष्यन्ति। विवेकसन्निधिम् = विवेकसकाशम्। प्रस्थिता = चलिता।

मैत्रीति। चतस्रो भगिन्यः = मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा इत्यर्थः। विवेकसिद्धिकारणेन = विवेकप्रयोजनसाधनाय। अभिवर्तामहे = वसामः।

उन्मूलन कर दूँगी। देवी ने मुझे आदेश दिया है कि श्रद्धे ! जा, विवेक से कह दे, काम क्रोधादि को जीतने के लिए उद्योग करे। इससे वैराग्य की उत्पत्ति होगी। और मैं यथासमय प्राणायाम आदि के उज्जीवन से तुम्हारी सेना की सहायता करूँगी। ऋतम्भरा आदि देवियाँ शान्ति आदि के कौशल से विवेक की उपनिषद् देवी के साथ सङ्गति कराकर प्रबोधोदय करेंगी। इसलिए इस समय मैं विवेक के पास चली हूँ। तुम क्या करती हुई दिन विताती हो ?

मैत्री—हम भी विष्णुभक्ति की आज्ञा से चारों बहिनें विवेक की सफलता के निमित्त महात्माओं के हृदय में रहा करती हैं। (संस्कृत का आश्रय लेकर) देखिए—

ध्यायन्निमां सुखिनि दुःखिनि चानुकम्पां
पुण्यक्रियेषु मुदितां कुमतावुपेक्षाम्।
एवं प्रसादमुपयाति हि रागलोभ-
द्वेषादिदोषकलुषोऽप्ययमन्तरात्मा ॥ ५ ॥

तदेवं चतस्रोऽपि भगिन्यो वयं तदभ्युदयकारणेनैव वासरान्नयामः। कुत्रेदानीं प्रियसखी महाराजमालोकयति।

श्रद्धा—देव्या एतदेवमुक्तम्। अस्ति राढाभिधानो जनपदः। तत्र भागीरथीपरिसरालंकारभूते चक्रतीर्थे मीमांसानुगतया मत्या कथं-

ध्यायन्निमामिति। अयम् = एषः, अन्तरात्मा = जीवः, सुखिनि=सुखयुक्ते जीवे, इमाम् = मैत्रीम्, दुःखिनि = दुःखयुक्ते जीवे च, अनुकम्पाम् = करुणाम्, पुण्यक्रियेषु—पुण्या क्रिया येषां तेषु, सुकृतिष्वित्यर्थः, मुदिताम् = सन्तुष्टिरूपाम्, कुमतौ = दुष्कृतिनि, उपेक्षाम् = उदासीनतारूपाम्, ध्यायन् = चिन्तयन्, एवम्= अनेन प्रकारेण, हि = निश्चयेन, रागलोभद्वेषादिदोषकलुषोऽपि—रागलोभद्वेषादि-दोषैः कलुषः = मलिनीकृतोऽपि, प्रसादम् = प्रसन्नताम्, निर्मलत्वमित्यर्थः, उपयाति = प्राप्नोति। द्वेषादिदोषदूषितोऽपि जीवात्मा मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा-वृत्तिचतुष्टयमालम्ब्य तत्तद्दोषापगमात् स्वाभाविकीं निर्मलतामवाप्नोतीति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५ ॥

तदेवमिति। तदभ्युदयकारणेन = विवेकसमुन्नत्यै। प्रियसखी = श्रद्धा।

श्रद्धेति। देव्या = विष्णुभक्त्या। जनपदः देशः। भागीरथीपरिसरा-लङ्कारभूते—भागीरथ्याः = गङ्गायाः, परिसरः = निकटप्रदेशस्तस्यालङ्कार-

सुखियों के ऊपर मैत्री, दुःखियों पर करुणा, सुकृतियों में मुदिता और दुर्बुद्धियों में उपेक्षा, इस प्रकार वृत्ति रखने से रागलोभद्वेषादिदोष से दूषित भी यह जीवात्मा (तत्तद्दोषों के विनष्ट होने पर) स्वाभाविक निर्मलता को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अतः इस प्रकार हम चारों वहिनें उस (विवेक) के अभ्युदय के निमित्त ही दिन विता रही हैं। तुम इस समय महाराज का कहाँ दर्शन करोगी ?

श्रद्धा—देवी ने इस विषय में ऐसा कहा है—राढा नामक एक देश है। उसमें गंगा तट को अलंकृत करने वाला चक्रतीर्थ नामक स्थान है। वहाँ

चिद्धार्यमाणप्राणो व्याकुलेनान्तरात्मना विवेक उपनिषद्देव्याः संगमार्थं तपस्तपस्यतीति ।

मैत्री—तद् गच्छतु प्रियसखी । अहमपि स्वकं नियोगमनुतिष्ठामि । (ता गच्छदु पिअसही । अहंवि स्सकं णिओअं अणुचिट्ठामि)

श्रद्धा—एवं भवतु ।

(इति निष्क्रान्ते)

(विष्कम्भकः)

(ततः प्रविशति राजा प्रतीहारी च)

राजा—आः पाप महामोहहतक, सर्वथा हतस्त्वयायं महाजनः । तथाहि—

शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरङ्गावली-

भूते=शोभाधायके । चक्रतीर्थे=चक्रतीर्थनाम्नि तीर्थस्थाने । मीमांसानुगतया मत्या—मीमांसा = भाट्टमतम्, तदनुगतया = तत्सहितया, मत्या = स्वपत्न्या । कथंचित्=केनापि प्रकारेण, धार्यमाणप्राणाः—कथङ्कथमपि आश्वास्यमानः । व्याकुलेन=व्यग्रेण, आन्तरात्मना = हृदयेन, उपनिषदो विरहादिति भावः । तपस्तपस्यति = तपश्चरति ।

शान्त इति । मूढः = ज्ञानरहितो जनः, शान्ते = अविद्याविक्षेपरहिते निरुपद्रवे, अनन्तमहिम्नि = अनन्तः = निःसीमा महिमा सामर्थ्यं यस्य तस्मिन्, निर्मलचिदानन्दे = अविद्याजनितदोषरहितज्ञानानन्दरूपे, तरङ्गावलीनिर्मुक्ते =

मीमांसानुगत मति के द्वारा किसी तरह जीवित रक्खे गये विवेकमहाराज व्याकुल हृदय से उपनिषद् देवी की सङ्गति के लिए तपस्या कर रहे हैं ।

मैत्री—अच्छा प्रिय सखि चले । मैं भी अपने कर्त्तव्य का पालन करूँ ।

श्रद्धा—ऐसा ही हो । (दोनों जाती हैं)

(विष्कम्भक समाप्त)

(तदनन्तर राजा और प्रतीहारी का प्रवेश)

राजा—आः पापी नीच महामोह ! तुमने इस महापुरुष को सब प्रकार से मार डाला । क्योंकि—

शान्त, अनन्तमहिमाशाली, निर्मलज्ञानानन्दरूप, तरङ्गावलीशून्य अमृतसिन्धु

निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि मनाङ्मग्नोऽपि नाचामति ।
निःसारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब-
त्याचामत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति ॥ ६ ॥

अथवा संसारचक्रवाहकस्य महामोहस्यावोधो मूलम् । तस्य च तत्त्वावबोधादेव निवृत्तिः । यतः—

उच्चावचविकाररहिते, अमृतसागराम्भसि = अमृतम् = ब्रह्म, तदेव समुद्रजलं तत्र, मग्नः = आप्लुतः, मनागपि = स्वल्पमपि, नाचामति = न पिबति, नानुभवतीत्यर्थः । (अपि तु) निःसारे = तत्त्वरहिते, मृगतृष्णिकार्णवजले = मृगतृष्णिका = मरुमरीचिका एव अर्णवजलम् तस्मिन्, मिथ्याभूतसांसारिकसुखे इत्यर्थः, श्रान्तः = तत्कृतदुःखदुखितोऽपि, पिबति, आचामति, अवगाहते, अभिरमते = प्रसन्नतां याति, मज्जति, उन्मज्जति च । मृगतृष्णिकारूपसंसारनिपतितोऽनेकविधदुःखमनुभवतीति भावः ।

अयमात्मसागरः शान्तो निरुपद्रवोऽन्यस्तु सागरो नक्रशिशुमाराद्युपद्रुतः । अयमनन्तो नित्यत्वादन्यस्तु सीमितः । अयं देहेन्द्रियविषयमलरहितत्वेन निर्मलोऽन्यस्तु मलवान् । एतादृशे सर्वथाविलक्षणेऽमृतसागरेऽयं सांसारिको जीवोऽनिमज्ज्यात्मानन्दवञ्चितो मिथ्याभूतसांसारिकसुखमृगमरीचिकाजले दुःखसंसृष्टं सर्वविधसुखमनुभवतीत्यहो विमूढत्वमस्येति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

अथवेति । संसारचक्रवाहकस्य—संसारचक्रम् = भूयो भूयो जन्ममरणरूपम्, तस्मिन् वाहकस्य = प्रापकस्य, प्रवर्तकस्येत्यर्थः । अबोधः = अज्ञानम् । तत्त्वावबोधात् = ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात् । निवृत्तिः=उपरमः । महामोहस्याज्ञानमेव जन्ममरणादिसंसारचक्रप्रवर्तकत्वकारणम्, तन्निवृत्तिरात्मस्वरूपबोधादेव भवितुं शक्या ।

के जल में डूबकर भी प्यास नहीं बुझाता है और निःसारः मृगतृष्णा के सागर के जल में थक कर भी मूढ पीता है, आचमन करता है, नहाता है, प्रसन्न होता है और डूबता-उतराता रहता है ॥ ६ ॥

अथवा संसार चक्र (पुनः पुनर्जन्मरणादि रूप) के प्रवर्तक महामोह का अज्ञान ही मूल है । और उसकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही होगी । क्योंकि—

अमुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः ॥ ७॥
'प्रायः सुकृतिनामर्थे देवा यान्ति सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥'

इति तत्त्वविदो व्याहरन्ति। तथा तु देव्या विष्णुभक्त्या संदिष्टं 'उद्योगः कामादिविजयविषये क्रियताम्' इति। अहमपि भवदर्थं गृहीत-

अमुष्येति। अमुष्य = सम्प्रत्युपलभ्यमानस्य, संसारतरोः = संसारवृक्षस्य, अबोधमूलस्य = अज्ञानमूलकस्य, उन्मूलविनाशाय = समूलोत्पाटनाय, विश्वेश्वराराधनबीजजातात्—विश्वेश्वरः = परमात्मा, तस्य आराधनम् = मननादिरूपम्, तदेव बीजम् = कारणम्, तस्माज्जातः = उत्पन्नः, तस्मात्, तत्त्वावबोधात् = आत्मस्वरूपज्ञानात्, अपरः = अन्यः, अभ्युपायः = साधनविशेषः, न, अस्तीति शेषः। अयं भावः—अज्ञानमूलकसंसारतरुं समुन्मूलयितुं तत्वज्ञानमपेक्ष्यते, अज्ञानस्य ज्ञानैकनिवर्त्यत्वात्। तच्च तत्वज्ञानं ईश्वराराधनादेव संभवति 'ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादिव' इति कणादोक्तेः'। उपजातिर्वृत्तम् ॥ ७॥

प्राय इति। सुकृतिनाम् = पुण्यकर्मणाम्, अर्थे देवाः प्रायः सहायतां यान्ति= सहाया भवन्ति, अपन्थानम् = निन्दितमार्गम्, गच्छन्तं तु सोदरोऽपि = सहोदरो भ्राताऽपि, अत्यात्मीयोऽपीत्यर्थः, विमुञ्चति = त्यजति, न करोति साहाय्यमित्यर्थः। इति = एवम्, तत्वविदः = ज्ञानिनः। व्याहरन्ति = कथयन्ति। तथा = तदनुसारम्। भवदर्थे = तव प्रयोजने कामादिजयरूपे। गृहीतपक्षा =

इस अज्ञानमूलक संसार वृक्ष के समूल विनाश के लिये ईश्वराराधनरूप बीज से उत्पन्न तत्त्वबोध (अर्थात् आत्मस्वरूपज्ञान) के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है ॥ ७॥

'प्रायः पुण्य कर्म करने वालों के कार्य में देवता भी सहायक होते हैं और कुमार्ग पर चलने वाले को सहोदर भी छोड़ देता है।'

ऐसा तत्त्ववेत्ता ज्ञानी लोग) कहते हैं। तदनुसार देवी विष्णुभक्ति ने संदेश दिया है कि कामादि को जीतने के विषय में उद्योग किया जाय। मैं (विष्णुभक्ति) भी तुम्हारी प्रयोजन-सिद्धि में तुम्हारे पक्ष में रहूँगी। उनमें काम ही मुख्य वीर है, वह तो वस्तुविचार के द्वारा ही जीत लिया जायगा।

पक्षेति। तत्र कामस्तावत्प्रथमो वीरो वस्तुविचारेणैव जीयते। तद्भवतु। तमेव तावद्विजयार्थमादिशामि। वेदवति, आहूयतां वस्तुविचारः।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि) (इति निष्क्रम्य वस्तुविचारेण सह प्रविशति)

वस्तुविचारः—अहो निर्विचारसौन्दर्याभिमानवर्धिष्णुना कामहतकेन वञ्चितं जगत्। अथवा दुरात्मना महामोहेनैव। तथाहि—

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युन्नमत्-

पक्षपातिनी, साहाय्यकर्त्रीत्यर्थः। प्रथमः वीरः = प्रधानो योद्धा। वस्तुविचारेणैव जीयते = वस्तुविचारनाम्ना तवानुजीविना जेतुं शक्यः। विजयार्थम्=कामं जेतुम्।

वस्तुविचार इति। अहो=आश्चर्यम्। निर्विचारसौन्द्र्याभिमानवर्धिष्णुना—निर्विचारः = विचारशून्यो यः सौन्दर्याभिमानः कान्तादिष्विति भावः तेन वर्धिष्णुः = वर्धनशीलः तेन। स्त्रीणां सौन्दर्यस्य विचाराभावेनैव मोहकत्वं, विचारे कृते तस्याहृद्यतायां पर्यवसाने कामनिवृत्तिर्भवति, तस्मादविचारं यावदेव सौन्दर्याभिमानवर्धिष्णुः कामो वस्तुविचारेण सुखेन जेतुं शक्य इति भावः।

कान्तेति। अहो = आश्चर्यम्, मोहस्य दुश्चेष्टितम् = दुःखकरो विलासः। प्रत्यक्षाशुचिपुत्तिकाम्—प्रत्यक्षम् = स्फुटम्, अशुचिपुत्तलिकाम् = मेदोऽस्थिमांस-मज्जासृक्सङ्घातकृततयाऽपवित्रमूर्त्तिम्, स्त्रियं दृष्ट्वा विद्वान् अपि कान्ता=कमनीया सुन्दरी इति, उत्पललोचना = कमलाक्षी इति, विपुलश्रोणीभरा विपुलः = स्थूलः, श्रोणीभरः = नितम्बभारः यस्याः सा, पृथुलनितम्बेत्यर्थः इति, उन्नमत्पीनोत्तुङ्ग-

अच्छी बात है। उस (वस्तुविचार) को ही विजयार्थ आदेश देता हूँ। वेदवति, वस्तुविचार को बुलाया जाय।

प्रतीहारी—जो आप की आज्ञा। (निकल कर पुनः वस्तुविचार के साथ प्रवेश करती है)

वस्तुविचार—अहो। विचार के अभाव में ही (कान्तादिविषयक) सौन्दर्याभिमान के कारण बढ़ने वाले नीच काम ने संसार को धोखे में डाल रक्खा है। अथवा (काम ने नहीं) दुरात्मा महामोह ने ही (ऐसा कर रक्खा है) जैसा कि—प्रत्यक्ष अपवित्रता की पुतली स्त्री को देखकर विद्वान् भी कान्ता, कमलनयना, पृथुलनितम्बा, घनपीनपयोधरा, सुन्दरमुखकमला, सुभ्रू ऐसा मानकर

पीनोत्तुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति विद्वानपि
प्रत्यक्षाशुचिपुत्तिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥८॥

अपि च यथावस्तु विचारयतामपन्दमतीनामपि पिशितपङ्का-वनद्धास्थिपञ्जरमयी स्वभावदुर्गन्धिर्बीभत्सवेषा नारीति नास्ति विरतिः । तदत्र विस्पष्ट एवेतरगुणाध्यासः । तथाहि—

पयोधरा—उन्नमन्ती = क्षणे क्षणे वर्धमानौ = पृथुलौ, उत्तुङ्गौ=उन्नतौ पयोधरौ= कुचौ यस्याः सा इति, सुमुखाम्भोजा = सुन्दरमुखारविन्देति सुभ्रूरिति (कृत्वा) माद्यति = मत्तो जायते, मोदते = प्रसन्नो भवति, अभिरमते = परिक्रीडति, प्रस्तौति = तद्गुणान् कीर्तयति । मूर्खस्त्वज्ञानवशात् स्त्रियामनुरागं करोति, करोतु, नैतत्तावच्चिन्त्यम् । आश्चर्यं त्वेतद्यत् विद्वान् स्त्रियं मेदोऽस्थिमांसमज्जासृक्-सङ्घातभूतशरीरतया अपवित्रमूर्त्ति पुत्तलिकानतिरिक्तां जानन्नपि तां दृष्ट्वा कान्ता, कमलनयना, पृथुलनितम्बा, पीनोन्नतकुचा कमलवदना, सुभ्रूरिति प्रशंसति; प्रशंसत्येव न केवलं किन्तु कामवेगात् माद्यति, प्राप्य हृष्यति, क्रीडति च । एतन्न कामस्य, अपितु महामोहस्य दुर्विलसितमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥८॥

अपि चेति । यथावस्तु=वस्तुस्वरूपयाथात्म्यम् । विचारयताम्=भावयताम् । अमन्दमतीनाम् = तीव्रमेधसाम् । पिशितपङ्कावनद्धास्थिपञ्जरमयी—पिशितम्= मांसम्, तस्य पङ्केन=कर्दमेन, अवनद्धः=संबद्धः, अस्थिपञ्जरः, तन्मयी, प्रकृत-वचने मयट्, टित्वात् स्त्रियां ङीप् । स्वभावदुर्गन्धिर्बीभत्सवेषा—स्वभावेन दुर्गन्धिः = दुर्गन्धयुक्ता, बीभत्सः = घृणाव्यञ्जकः, वेषः यस्याः सा, घृणित-रूपेत्यर्थः । विरतिः = वैराग्यम् । तत्र हेतुमाह—तदत्रेति । अत्र = नार्याम् । इतरगुणाध्यासः—इतरे = अन्ये ये सुन्दरपदार्थाः, तेषां ये गुणाः = सौन्दर्यकोमल-त्वादयस्तेषामध्यासः = आरोपः ।

मत्त होता है, प्रसन्न होता है, रमण करता है, उसकी प्रशंसा करता है । मोह का यह दुर्विलास कैसा आश्चर्यजनक है ॥ ८ ॥

और वस्तुविचार करने वाले बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी, 'नारी मांसपङ्क से संबद्ध अस्थिपञ्जरमात्र, स्वभावतः दुर्गन्ध युक्त वीभत्स रूप है'—ऐसा जानकर भी विरति नहीं होती है । इससे स्पष्ट होता है कि यहां अन्यगुणों का आरोप होता है । जैसा कि—

मुक्ताहारलता रणन्मणिमया हैमास्तुलाकोटयो
राग: कुङ्कुमसंभव: सुरभय: पौष्पा विचित्रा: स्रज: ।
वासश्चित्रदुकूलमल्पमतिभिर्नार्यामहो कल्पितं
बाह्यान्त:परिपश्यतां तु निरयो नारीति नाम्ना कृत: ॥ ६ ॥

(आकाशे) आः पाप कामचण्डाल, किमनालम्बनमेवं भवता व्याकुलीक्रियते जनः । तथा ह्ययमेवमभिमन्यते—

मुक्ताहारलतेति । अहो आश्चर्यम्, मुक्ताहारलता: = मौक्तिकहारा:, रणन्मणिमया:—रणन्त्य: = शब्दं कुर्वन्त्य:, मणिमया: = माणिक्यप्रचुरा:, प्राचुर्ये मयट्, हैमा: हेम्ना = सुवर्णेन निर्मिता:, तुलाकोटय: = नूपुरा:, ('पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः) कुङ्कुमसम्भव: = कुङ्कुमाख्यद्रव्यकृत:, राग: = अङ्गराग:, सुरभय: = सुगन्धयुता:, पौष्पा:=पुष्पसम्बन्धिन्य:, विचित्रा:= नानावर्णा:, स्रज: = माल्यानि, चित्रदुकूलम्—चित्रम् = नानावर्णम्, दुकूलम् = पट्टवस्त्रम्, वास: = परिधानम्, नार्याम् = स्त्रियाम्, अल्पमतिभि: = दुर्बुद्धिभि: कामिजनै:, कल्पितम् = आरोपितम् । तु = किन्तु, बाह्यान्त:परिपश्यताम् = बाह्यम्, अन्तश्च परिपश्यताम् = विचारयतां बुद्धिमतां (मते) निरय: = नरक:, नारीति नाम्ना = व्यपदेशेन कृत: = निर्मित:, नरके नार्यां च नास्ति कोऽपि भेद इति भाव: । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

आकाश इति । कामचण्डाल—चण्डालसदृशपरपीडककाम ! अनालम्बनम् = निराधारम्, क्रियाविशेषणमेतत् । स्त्रीणां मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्संघातनिर्मितशरीरतया तासां रूपस्यासत्त्वात्त्वया लोकानां व्याकुलीकरणं निराधारमेवेति भाव:। अयम्=कामपीडितो जन: । एवम्=वक्ष्यमाणप्रकारेण । अभिमन्यते=मनसि कल्पयति ।

आश्चर्य का विषय है—मुक्ताहार, झङ्कार करते हुए मणिमय स्वर्ण नूपुर, कुङ्कुम का अङ्गराग, सुगन्धित पुष्पकृत नानारंग की मालाएँ, चित्र-विचित्र दुकूलपरिधान इन सब वस्तुओं की कल्पना मूर्खों ने नारी में कर रक्खी है जबकि बाहर-भीतर सब तरफ से विचार करने वालों के लिए नारी के नाम से (अर्थात् नारी के रूप में) नरक का ही निर्माण हुआ है ॥ ६ ॥

(आकाश की ओर देखकर) अरे पापी कामचण्डाल ! तू लोक को निराधार व्यर्थ क्यों व्याकुल कर रहा है ? यह ऐसा मानता है—

बाला मामियमिच्छतीन्दुवदना सानन्दमुद्वीक्षते
नीलेन्दीवरलोचना पृथुकुचोत्पीडं समाश्लिष्यति ।

अरे मूढ,

का त्वामिच्छति का च पश्यति पशो मांसास्थिभिर्निर्मिता
नारी वेद न किंचिदत्र स पुनः पश्यत्यमूर्तः पुमान् ॥१०॥

प्रतीहारी—इत आगच्छतु महाभागः। (इदो आगच्छेदु महाभाओ)

तदेवाह—बालेति। इन्दुवदना = चन्द्रमुखी, नीलेन्दीवरलोचना = नील-कमलनयना, इयम् बाला = रमणी, माम् इच्छति = प्रेम्णाऽभिलषति, सानन्दम्= सहर्षम्, उद्वीक्षते = पश्यति, पृथुकुचोत्पीडम् = पृथुकुचयोः = स्थूलस्तनयोः, उत्पीडः = उन्मर्दनं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, समाश्लिष्यति=आलिङ्गति। एवं भावयन्तं कामहतं जनं तिरस्करोति—

अरे मूढेति। मूढ = वस्तुतत्त्वविचारशून्य ! का त्वाम् इच्छति = न कापि त्वामिच्छतीत्यर्थः, का च पश्यति = न कापीत्यर्थः, पशो = मूर्ख, कामान्ध ! मांसास्थिभिः = मांसेनास्थिपञ्जरेण च, निर्मिता = रचिता नारी = शरीरभूतेति भावः, न किञ्चित्, वेद = जानाति। देहभूतनार्यामासक्तेन त्वया कल्पितं नारी कर्तृकेक्षणादि सर्वमसत्, देहस्याचेतनत्वादिति भावः। कः पुनस्तत्र स्थितो जाना-त्याशङ्क्याह अत्रेति। अत्र = देहे पुनः सः = प्रसिद्धः, अमूर्तः = देहरहितः, पुमान् = पुरुषः साक्षीति भावः, पश्यति (इच्छति चेत्यपि योजनीयम्) दर्शनादेः साक्षिधर्मत्वाद् देहभूतायां तत्तद्धर्मविकलायां नार्यामासक्तिर्वृथैवेति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

चन्द्रानना, नीलकमलनयना यह रमणी मुझे चाहती है, सहर्ष देखती है, स्थूल कुचों को पीडित कर आलिङ्गन करती है। अरे मूढ, कौन तुझे चाहती है ? कौन देखती है ? पशो (मूर्ख कामान्ध) मांस और हड्डियों की बनी (शरीरभूत) नारी कुछ नही जानती है (अर्थात् देह के अचेतन होने से नारी का चाहना-देखना आदि सब कुछ असत् है) देखता तो है वह अमूर्त पुरुष ॥ १० ॥

प्रतीहारी—आप इधर पधारें।

(इत्युभौ परिक्रामतः)

प्रतीहारी--एष महाराज उपविष्टस्तिष्ठति । तदुपसर्पतु भवान् । (ऐसो महाराओ उवविट्ठो चिट्ठदि । ता उवसप्पदु भवम्)

वस्तुविचारः--(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः । एष वस्तुविचारः प्रणमति ।

राजा—इहोपविश्यताम् ।

वस्तुविचारः—(उपविश्य) देव, एष ते किंकरः संप्राप्तः, आज्ञयानुगृह्यताम् ।

राजा—महामोहेन सहास्माकं संप्रवृत्तः सङ्ग्रामः । तदत्र कामस्तस्य प्रथमो वीरः । तस्य च प्रतिवीरतयाऽस्माभिर्भवान्निरूपितः ।

वस्तुविचारः—धन्योऽस्मि । येन स्वामिनाहमेवं संभावितः ।

वस्तुविचार इति । किंकरः = भृत्यः संप्राप्तः समुपस्थितः । आज्ञया अनुगृह्यताम् = आज्ञापयतु स्वामीत्यर्थः ।

राजेति । अस्माकम् = विवेकादीनाम् । संप्रवृत्तः = प्रारब्धः । सङ्ग्रामः = युद्धम् । प्रथमः=प्रधानः । प्रतिवीरतया=प्रतियोद्धृतया । निरूपितः=निर्वाचितः ।

वस्तुविचार इति । सम्भावितः = सम्मानितः, कामेन सह युद्धावसरं प्रदायेति भावः ।

(दोनों चलते हैं)

प्रतीहारी—ये महाराज बैठे हैं, तो आप उनके पास चलें ।

वस्तुविचार—(निकट जाकर) महाराज की जय हो ! जय हो ! यह वस्तुविचार प्रणाम कर रहा है ।

राजा—यहाँ बैठिए ।

वस्तुविचार—(बैठ कर) महाराज, यह आप का सेवक उपस्थित है, आज्ञा देकर अनुगृहीत करें ।

राजा—महामोह के साथ हमारा युद्ध छिड़ चुका है । उसमें काम उसका प्रधान वीर है । इसलिए उसके मुकाबिले का वीर हमने तुम्हें चुना है ।

वस्तुविचार—मैं धन्य हूँ, जो स्वामी के द्वारा मैं ऐसा संमानित हुआ ।

राजा—अथ कया शस्त्रविद्यया भवान्कामं जेष्यति ।

वस्तुविचारः—आः पञ्चशरः कुसुमधन्वा कामो जेतव्य इत्यत्रापि शस्त्रग्रहणापेक्षा । पश्य—

दृढतरमपिधाय द्वारमारात्कथंचित्
स्मरणमपरिवृत्तौ दर्शने योषितां च ।
परिणतिविरसत्वं देहबीभत्सतां वा
प्रतिमुहुरनुचिन्त्योन्मूलयिष्यामि कामम् ॥ ११ ॥

राजा—कया शस्त्रविद्यया = केषां शस्त्राणां प्रयोगेण ।

वस्तुविचार इति । पञ्चशराः=पञ्चैव शराः यस्य सः । कुसुमधन्वा = कुसुमं धनुर्यस्य सः । शस्त्रग्रहणापेक्षा = शस्त्रप्रयोगोऽपेक्ष्यते किमिति भावः ।

दृढतरमिति । आरात् = समीपे, द्वित्रिदिनमध्ये इत्यर्थः । योषिताम् = नारीणाम्, दर्शने = अवलोकने, अपरिवृत्तौ = अपरावर्तने च तदासक्तावित्यर्थः । द्वारम् = मार्गभूतम्, स्मरणम्, कथंचित् = केनापि विहितोपायेन, दृढतरम् = अतिदृढभावेन, अपिधाय = मुद्रयित्वा, परिणतिविरसत्वम्—परिणतौ = संभोगान्ते वार्धक्ये वा विरसत्वम् = नीरसताम्, देहबीभत्सतां वा = देहस्य = नारीशरीरस्य वीभत्सताम् = मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृङ्मलमूत्रादिघृणितत्वम्, प्रतिमुहुः= भूयोभूयः, अनुचिन्त्य = भावयित्वा, कामम्, उन्मूलयिष्यामि = विनाशयिष्यामि । नारीणां दर्शने तदासक्तौ च द्वारभूतं स्मरणं शीघ्रमेव दृढतरं मुद्रयित्वा तदनन्तरं नारीणां परिणामनीरसतायाः, तद्देहबीभत्सतायाश्चानुध्यानेन कामस्य उन्मूलविनाशनं करिष्यामीति भावः । मालिनी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ ११ ॥

राजा—अच्छा, किस शस्त्रविद्या से तुम काम को जीतोगे ?

वस्तुविचार—ओह, केवल पाँच शर वाले और पुष्परूप धनुष वाले काम को जीतना है, फिर भी इसविषय में शस्त्रग्रहण करने की आवश्यकता ! देखिए—

अत्यन्त शीघ्र ही, नारियों के देखने और उनकी आसक्ति में मार्गभूत स्मरण को किसी प्रकार (उचित विधि से) अत्यन्त दृढता से मूँद कर, परिणाम में उनकी नीरसता और शरीर की वीभत्सता का वारम्वार अनुचिन्तन कर काम को उन्मूलित कर दूँगा ॥ ११ ॥

राजा—साधु साधु ।

वस्तुविचारः—अपि च—

विपुलपुलिनाः कल्लोलिन्यो नितान्तपतज्झरी-
मसृणितशिलाः शैलाः सान्द्रद्रुमा वनभूमयः ।
यदि शमगिरो वैयासिक्यो बुधैश्च समागमः
क्व पिशितवसामय्यो नार्यस्तथा क्व च मन्मथः ॥१२॥

नारीति नाम प्रधानमस्त्रं कामस्य । तेन तस्यां जितायां तत्सहायाः सर्व एव विफलारम्भा भङ्गमासादयिष्यन्ति । तथाहि—

विपुलपुलिना इति । यदि विपुलपुलिनाः—विपुलानि = विस्तृतानि, प्रशस्तानीत्यर्थः, पुलिनानि = तटप्रदेशाः, यासां तादृश्यः, कल्लोलिन्यः = नद्यः, नितान्तपतज्झरीमसृणितशिलाः—नितान्तम् = अतिशयेन पतन्त्यो झर्यः=निर्झराः, ताभिः मसृणिताः = चिक्कणाः शिलाः = प्रस्तरखण्डाः येषां तादृशाः शैलाः = पर्वताः, सान्द्रद्रुमाः—सान्द्राः = निविडाः, द्रुमाः = तरवः, यासु तादृश्यः, वनभूमयः = वनस्थल्यः, वैयासिक्यः = व्यासप्रोक्ताः, शमगिरः = शान्तिप्रतिपादिका वाचः, बुधैः = तत्त्वज्ञैः च समागमः = सङ्गतिः (स्युः) (तदा) पिशितवसामय्यः = मांसमेदप्रधानाः, नार्यः = स्त्रियः, क्व = कुत्र, तथा मन्मथः = कामश्च क्व = कुत्र । एतेषु सत्सु नार्यौ मन्मथश्चेत्येतद्द्वयमपि न किमपि कर्तुं प्रभविष्यतीति भावः । हरिणी वृत्तम् ॥ १२ ॥

नारीति । तत्सहायाः = कामस्य सहायकाः । विफलारम्भाः = विफलप्रयत्नाः । भङ्गम् = पराजयम्, आसादयिष्यन्ति = प्राप्स्यन्ति ।

राजा—शाबास ! शाबास !

वस्तुविचार—और,

प्रशस्त तटप्रदेश वाली नदियाँ, नितान्त झरते झरनों से चिकनी शिलाओं वाले पर्वत, घने वृक्षों वाली वनस्थलियाँ, व्यासप्रोक्त शान्तिप्रतिपादक वचन और तत्त्व ज्ञानियों की सङ्गति यदि है तो कहाँ स्त्रियाँ और कहाँ कामदेव (अर्थात् इन सबके होते स्त्रियाँ और कामदेव कुछ भी नहीं कर सकेंगे) ॥ १२ ॥

नारी ही काम का प्रधान अस्त्र है। इस लिए वह जीत ली जायगी तो उस (काम) के सभी सहायक विफल प्रयास होकर हार मान लेंगे । क्योंकि—

चन्द्रश्चन्दनमिन्दुधामधवला रात्रिर्द्विरेफावली-
झङ्कारोन्मुखरा विलासविपिनोपान्ता वसन्तोदयः ।
मन्द्रध्वानघनोदयाश्च दिवसा मन्दाः कदम्बानिलाः
शृङ्गारप्रमुखाश्च कामसुहृदो नार्यां जितायां जिताः ॥ १३ ॥

तदलमतिविलम्बेन । आदिशतु स्वामी ।

सोऽहं प्रकीर्णैः परितो विचारैः
शरैरिवोन्मथ्य बलं परेषाम् ।

आलम्बनविभावे जिते कामोद्दीपनस्य वैफल्यं प्रतिपादयति—चन्द्र इत्यादिना।

चन्द्रः, चन्दनम्, इन्दुधामधवला—इन्दुधाम्ना = चन्द्रिकया धवला=उज्ज्वला शोभमानेत्यर्थः, रात्रिः, द्विरेफावलीझङ्कारोन्मुखराः—द्विरेफावली = भ्रमरपङ्क्तिस्तस्या झङ्कारेण = गुञ्जितेन, उन्मुखराः = शब्दायमानाः, विलासविपिनोपान्ताः—विलासविपिनस्य = क्रीडोपवनस्य, उपान्ताः = प्रान्तप्रदेशाः, वसन्तोदयः = वसन्तप्रादुर्भावः, मन्द्रध्वानघनोदयाः—मन्द्रः = गभीरः, ध्वानः = गर्जितम् येषां ते मन्द्रध्वानाः = गभीरशब्दा ये घनाः = मेघाः, तेषामुदयः = प्रादुर्भावः, येषु तादृशा दिवसाः, मन्दाः = मन्दसञ्चारिणः, कदम्बानिलाः = कदम्बवनसम्बन्धिनो वायवः, शृङ्गारप्रमुखाः—शृङ्गारः = उत्तेजकवेषभूषादिः, प्रमुखः = प्रधानो येषां ते तथोक्ताः कामसुहृदः = कामसहायाः, नार्यां जितायां, जिताः = परास्ताः, निरालम्बनत्वादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

सोऽहमिति । सोऽहम् = वस्तुविचारः, परितः प्रकीर्णैः = वेदशास्त्रपुराणेतिहासादौ व्यस्तभावेन स्थितैः, पक्षे चतुर्दिक्षु प्रक्षिप्तैः, शरैरिव = बाणैरिव, विचारैः, परेषाम् = शत्रूणाम् बलम् = सामर्थ्यम्, उन्मथ्य = विद्राव्य, गाण्डीव-

---

चन्द्र, चन्दन, चांदनी से धवल रात, भौंरों के गुन्जन से गुञ्जित विलासविपिनों के प्रान्तप्रदेश, वसन्त का प्रादुर्भाव, गम्भीर गर्जन करने वाले मेघों से युक्त दिवस, कदम्बवन का मन्द-मन्द चलने वाला पवन और शृङ्गारप्रमुख काम के मित्र, नारी को जीत लेने पर (निरालम्ब हो) परास्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

इस लिए अधिक विलम्ब न करें । आप आदेश दें ।

मैं बाणों के तुल्य प्रकीर्ण विचारों से शत्रुसेना को मथित कर, कुरुसेना

सैन्यं कुरूणामिव सिन्धुराजं
गाण्डीवधन्वेव निहन्मि कामम् ॥ १४ ॥

राजा—(सप्रसादम्) तत्सज्जीभवतु भवाञ्शत्रुविजयाय ।

वस्तुविचारः—यदादिशति देवः ।

(इति प्रणम्य निष्क्रान्तः)

राजा—वेत्रवति, क्रोधस्य विजयाय क्षमैवाहूयताम् ।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति । (ज देवो आणवेदि)

(इति निष्क्रम्य क्षमया सह प्रविशति)

क्षमा—क्रोधान्धकारविकटभ्रुकुटीतरङ्ग-
भीमस्य सान्ध्यकिरणारुणरौद्रदृष्टेः ।

धन्वा = अर्जुन इव, कुरूणाम् सैन्यम् उन्मथ्य, सिन्धुराजम् = जयद्रथमिव, कामम् निहन्मि । यथाऽर्जुनश्चतुर्दिक्षु प्रक्षिप्तैर्बाणैः कुरूणां सैन्यं निराकृत्य जयद्रथं जघान तथैव प्रतिज्ञातकामवधोऽहं यत्र तत्र प्रकीर्णैर्विचारैः कामसैन्यमुन्मथ्य तमद्यैव विनाशयामीति भावः । उपजातिर्वृत्तम् । उपमाऽलङ्कारः ॥ १४ ॥

क्रोधान्धकारेति । क्रोधान्धकारविकटभ्रूकुटीतरङ्गभीमस्य—क्रोध एवान्धकारः, ते विकटा भ्रुकुट्य एव तरङ्गाः, तैर्भीमस्य = भयङ्करस्य, अन्धकारे यथा, क्रोधेऽपि तथा न किञ्चित् सम्यक् प्रकाशते इति क्रोधेऽन्धकारत्वारोपः । सान्ध्यकिरणारुण-रौद्रदृष्टेः—सान्ध्याः = सन्ध्यायां भवाः किरणाः = सायंकालिकसूर्यकिरणाः, तद्वत् अरुणा = रक्ता, रौद्रा = भयावहा दृष्टिर्यस्य तादृशस्य, परस्य = शत्रोः,

---

को मथित कर अर्जुन ने जैसे जयद्रथ को मारा था, उसी तरह कामको मारता हूँ ॥ १४ ॥

राजा—(प्रसन्नता से) तो शत्रुविजय के लिए तैयार हो जाओ।

वस्तुविचार—महाराज का जो आदेश ।

(प्रणाम कर चला गया)

राजा—वेदवति, क्रोध को जीतने के लिए क्षमा को ही बुलाओ ।

प्रतीहारी—जो महाराज की आज्ञा ।

(जाकर, क्षमा के साथ पुनः प्रवेश करती है)

क्षमा—क्रोधान्धकार से टेढ़ी भौंहतरङ्गों से भयङ्कर, सायंकालिक सूर्य-

निष्कम्पनिर्मलगभीरपयोधिधीरा
वीराः परस्य परिवादगिरः सहन्ते ॥ १५ ॥

(सश्लाघमात्मानं निर्वर्ण्य) अहो, अहम् ।

क्लमो न वाचां शिरसो न शूलं
न चित्ततापो न तनोर्विमर्दः ।
न चापि हिंसादिरनर्थयोगः
श्लाघ्या परं क्रोधजयेऽहमेका ॥ १६ ॥

परिवादगिरः = निन्दावचनानि, निष्कम्पनिर्मलगभीरपयोधिधीराः—निष्कम्पः = निश्चलः, निर्मलः = स्वच्छः, गभीरः पयोधिः = सागरः, तद्वत् धीराः = धैर्यवन्तः वीराः सहन्ते । ये वीराः क्रुद्धस्य रिपोरधिक्षेपवचनैर्न विक्षुभ्यन्ति ते सिन्धुरिव गभीरा अनवगाहनीयमनसो भवन्तीति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १५ ॥

क्लमो नेति । वाचां क्लमः = वाग्व्यापारसम्बन्धिनी ग्लानिः, न, शिरसः शूलम् = व्यथा न, चित्ततापः = मानसिकक्लेशः, न, तनोः = शरीरस्य, विमर्दः= परस्परगात्रसंघर्षादङ्गभङ्गः, न, हिंसादिः = प्राणिमारणादिः, अनर्थयोगः दुष्कृत्य-सम्बन्धः, अपि च न, एका = साहाय्यमुपेक्षमाणा, अहम् = क्षमा, क्रोधजये, परम् = अत्यर्थम्, श्लाघ्या = प्रशस्या । क्षमया क्रोधाविष्टः शत्रुरनायासेनैव जीयते । नात्र वाग्व्यापारेण ग्लानिर्न शिरोव्यथा, न मानसिकक्लेशः न शरीरविमर्दः, न हिंसादिदुष्कृत्यसम्बन्धः, 'नान्येषां साहाय्यापेक्षा' अतएव दुर्जनजये क्षमैव श्लाघ्यमनुपमं शस्त्रम् उक्तं च—'क्षमाखड्गः करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति' । इति भावः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १६ ॥

किरण के समान अरुणदृष्टि वाले शत्रु के निन्दा व्यंजक वचनों को शान्त, निर्मल गभीर समुद्र के समान धीर वीर सहन करते हैं ॥ १५ ॥

(श्लाघा के साथ अपनी ओर देख कर) अहो, मैं (सर्वोत्कृष्ट हूँ) ।

न वाणी को कष्ट, न शिर को पीडा, न मनस्ताप, न शरीर को चोट-चपेट, न हिंसादि अनर्थ का योग, फिर भी अकेली ही क्रोध को जीतने से मैं श्लाघ्य हूँ ॥ १६ ॥

(इत्युभे परिक्रामतः)

प्रतीहारी—एष देवः । तदुपसर्पतु प्रियसखी । (एसो देवो । ता उवसप्पतु पिअसही)

क्षमा—(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः । एषा देवस्य दासी क्षमा साष्टाङ्गं प्रणमति ।

राजा—क्षमे, अत्रोपविश्यताम् ।

क्षमा—(उपविश्य) आज्ञापयतु देवः । किमर्थमाहूतो दासीजनः ।

राजा—अस्मिन् सङ्ग्रामे दुरात्मा क्रोधस्त्वया जेतव्यः ।

क्षमा—देवस्याज्ञया महामोहमपि जेतुं पर्याप्तास्मि किं पुनः क्रोधं तदनुचरमात्रम् । तदहमचिरादेव—

तं पापकारिणमकारणवाधितारं
स्वाध्यायदेवपितृयज्ञतपःक्रियाणाम् ।
क्रोधं स्फुलिङ्गमिव दृष्टिभिरुद्वमन्तं

तं पापकारिणमिति । पापकारिणम् = दुष्कृत्यकारिणम्, स्वाध्यायदेवपितृयज्ञतपःक्रियाणाम्—स्वाध्यायः = वेदाध्ययनम्, देवयज्ञः = ज्योतिष्टोमादिः, पितृयज्ञः = श्राद्धपिण्डपितृयज्ञादिः, तपःक्रिया = तपस्या, तासाम् अकारणवाधितारम् = निष्प्रयोजनं विनाशयितारम्, दृष्टिभिः = दृष्टिव्यापारैः, स्फुलिङ्गमिव =

(दोनों प्रतीहारी और क्षमा चलती हैं)

प्रतीहारी—यह महाराज हैं । प्रिय सखी उनके पास चले ।

क्षमा—(समीप जाकर) महाराज की जय हो ! जय हो ! यह महाराज की दासी क्षमा साष्टाङ्ग प्रणाम करती है ।

राजा—क्षमे, यहाँ वैठो ।

क्षमा—(वैठ कर) महाराज आज्ञा दें । यह दासी कैसे बुलायी गयी ?

राजा—इस सङ्ग्राम में दुरात्मा क्रोध को तुम्हें जीतना है ।

क्षमा—महाराज की आज्ञा से महामोह को भी जीत सकती हूँ, फिर उसके नौकर मात्र क्रोध की क्या वात ? अतः मैं शीघ्र ही—

उस पापकर्मा, स्वाध्याय-देवयज्ञ-पितृयज्ञ-तपस्या में अकारण बाधक, दृष्टियों

कात्यायनीव महिषं विनिपातयामि ॥ १७ ॥

राजा—क्षमे, शृणमस्तावत्क्रोधनिजयोपायम् ।

क्षमा—देव, विज्ञापयामि ।

क्रुद्धे स्मेरमुखावधीरणमथाविष्टे प्रसादक्रमो

व्याक्रोशे कुशलोक्तिरात्मदुरितोच्छेदोत्सवस्ताडने ।

धिग्जन्तोरजितात्मनोऽस्य महती दैवादुपेता विपद्

अग्निकणमिव, उद्वमन्तम् = प्रकिरन्तम् तं क्रोधम्, महिषम् = महिषासुरम्, कात्यायनीव = गौरीव, विनिपातयामि = अचिरादेव संहरिष्यामि, वर्तमानसमीपे भविष्यति लट् । उपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १७ ॥

राजेति । क्रोधविजयोपायम्—क्रोधं केनोपायेन जेष्यसि, विज्ञापयतं मामित्यर्थः ।

क्रुद्ध इति । क्रुद्धे = सामान्यतः कुपिते स्मेरमुखावधीरणम्—स्मेरम् = प्रसन्नं मुखम्, तेन अवधीरणम् = तत्क्रोधस्य तिरस्कारः । अथेति पक्षान्तरे, आविष्टे = समधिककुपिते, प्रसादक्रमः—प्रसादः = प्रसन्नता, तस्य क्रमः = अवसर इत्यर्थः, प्रसन्नता प्रदर्शनीया, न तु क्रोधो दर्शनीयः, तत्कोपस्य शामकं प्रसादावलम्बनमेव, कोपावलम्बनेन तु तत्क्रोधः पुनरपि सातिशयं समेधिष्यत इति भावः । व्याक्रोशे—निर्भर्त्सने, कुशलोक्तिः = कुशलप्रश्नः, ताडने = प्रहारे, क्रुद्धजनकृत इति भावः, आत्मदुरितोच्छेदोत्सवः = अनेन प्रायश्चित्ततया मां ताडयित्वा मम दुरितशमनं कृतमिति हर्षप्रदर्शनम् । अस्य = क्रोधाविष्टस्य, अजितात्मनः = अवशेन्द्रियस्य जन्तोः = प्राणिनः, दैवात् = भाग्यवशात्, महती दुर्वारा=दुःखेन वारयितुं शक्या, विपत्, उपेता = प्राप्ता, धिक् = कष्टम्, इति = एवम्, दयारसार्द्रमनसः—

से चिनगारी-सी विकीर्ण करने वाले क्रोध को, महिषासुर को दुर्गा के समान मार गिराती हूँ ॥ १७ ॥

राजा—क्षमे, अच्छा, क्रोध को जीतने का तुम्हारा उपाय सुनें ।

क्षमा—देव, बताती हूँ ।

क्रुद्ध के प्रति हँस कर उपेक्षा करना, आवेश वाले के प्रति प्रसन्नता दिखाना, गाली देने वालों के प्रति कुशल पूछना, मारने पर अपने पाप का

दुर्वारेति दयारसार्द्रमनसः क्रोधस्य कुत्रोदयः ॥ १८ ॥

राजा—साधु साधु ।

क्षमा—देव, क्रोधस्य विजयादेव हिंसापारुष्यमानमात्सर्यादयोऽपि विजिता एव भविष्यन्ति ।

राजा—तत्प्रतिष्ठतां 'भवती' विजयाय ।

क्षमा—यदाज्ञापयति देवः ।

(इति निष्क्रान्ता)

राजा—(प्रतीहारीं प्रति) वेदवति, आहूयतां लोभस्य जेता संतोषः ।

दया एव रसः=जलम् ('रसो जलं रसो हर्षो रसः शृङ्गार इत्यपि' इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी) तेन आर्द्रं मनो यस्य तादृशस्य, क्रोधिनं प्रति दयार्द्रचित्तस्य जनस्य, क्रोधस्य उदयः = आविर्भावः, कुत्र ? न कुत्रापीत्यर्थः । क्रुद्धे जने प्रोक्तप्रकारेण वर्त्तनेन तस्य क्रोधः शाम्यन्नकिञ्चित्करो भवतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

क्षमेति । हिंसापारुष्यमानमात्सर्यादयः—हिंसा = वधोद्योगः, पारुष्यम् = कठोरता, मानः = दर्पः, मात्सर्यम्=परगुणासहिष्णुता, तदादयः क्रोधमूलत्वाज्जिते क्रोधे जिता एवेति भावः ।

राजेति । प्रतिष्ठताम्=प्रस्थानं करोतु । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् ।

प्रायश्चित्त होना समझना, इस क्रोधाविष्ट अजितेन्द्रिय प्राणी को दैववश बड़ी अनिवार्य विपत्ति प्राप्त हुई है—ऐसा सोच कर दयार्द्रहृदय को (क्रोधी के प्रति) क्रोध कहाँ होगा ? ॥ १८ ॥

राजा—शाबास ! शाबास !

क्षमा—महाराज, क्रोध को जीत लेने से ही हिंसा, कठोरता, मान, मात्सर्य आदि भी परास्त ही हो जाँयगे ।

राजा—तो विजय के लिए तुम प्रस्थान करो ।

क्षमा—महाराज की जो आज्ञा । (चली गयी)

राजा—(प्रतीहारी से) वेदवति, लोभ को जीतने वाले सन्तोष को बुलाओ ।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति । (जं देवो आणवेदि)

(इति निष्क्रम्य संतोषेण सह प्रविशति)

संतोषः—(विचिन्त्य सानुक्रोशम्)

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहन्ते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥ १९ ॥

(आकाशे) अरे मूर्ख, लुब्ध, दुरुच्छेदः खल्वयं भवतो व्यामोहः । तथाहि—

सन्तोष इति । सानुक्रोशम् = सदयम् ।

फलमिति । प्रतिवनम् = वने वने इति प्रतिवनम्, सर्वेषु वनेष्वित्यर्थः, अखेदम् = अनायासम्, क्षितिरुहाम् = वृक्षाणाम्, फलम् (जातावेकवचनम्), स्वेच्छालभ्यम् = इच्छामात्रप्राप्यमित्यर्थः । स्थाने स्थाने=यत्र तत्र, पुण्यसरिताम्= पवित्रनदीनाम्, शिशिरमधुरम् = शीतलं मिष्टञ्च, पयः = जलम्, (अखेदं स्वेच्छालभ्यम्), सुललितलतापल्लवमयी—सुललिताः = सुमनोज्ञाः, लताः, तासां पल्लवमयी = पल्लवैर्निर्मिता, मृदुस्पर्शा = कोमला, शय्या (स्वेच्छालभ्या) एवं च सति तदपि = तथापि कृपणाः = दीनाः, धनिनां द्वारि, सन्तापम् = परितापम्, तत्कृतापमानजन्यमिति भावः, सहन्ते = अनुभवन्तीति महदाश्चर्यमिति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १९ ॥

प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा ।

(निकल कर पुनः सन्तोष के साथ प्रवेश करती है)

सन्तोष—(सोच कर दया के साथ)

प्रत्येक वन में वृक्षों के फल, स्थान-स्थान पर पवित्र नदियों के शीतल-मधुर जल, सुन्दरलताओं के पल्लवों से निर्मित कोमल शय्या अनायास सुलभ है। फिर भी दीन जन धनियों के द्वार पर (उनके किये अपमान का) सन्ताप सहते हैं ॥१९॥

(आकाश की ओर मुँह करके) अरे मूर्ख लुब्ध, तुम्हारी यह व्याकुलता कभी मिटने वाली नहीं ।

समारम्भा भग्नाः कति कति न वारांस्तव पशो
पिपासोस्तुच्छेऽस्मिन्द्रविणमृगतृष्णार्णवजले ।
तथापि प्रत्याशा विरमति न ते मूढ शतधा
विदीर्णं यच्चेतो नियतमशनिग्रावघटितम् ॥ २० ॥

इदं च ते लोभान्धस्य चेष्टितं चेतसि चमत्कारमातनोति । यतः—

लभ्यं लब्धमिदं च लभ्यमधिकं तन्मूललभ्यं ततो

समारम्भा इति । पशो = विवेकशून्य ! अस्मिन् तुच्छे द्रविणमृगतृष्णार्णवजले—द्रविणरूपम् = धनरूपं यन्मृगतृष्णार्णवजलम्, तस्मिन्, पिपासोः = पातुमिच्छोः, तव = भ्रान्तस्य, कति = कतिसङ्ख्याकाः, समारम्भाः = उपक्रमाः, कतिवारान् न भग्नाः = कतिधा न विफलीभूताः ? मूढ ! तथापि । ते = तव, प्रत्याशा = प्रचुरधनलाभेच्छा, न विरमति = न निवर्त्तते । यत् चेतः = तव हृदयम्, शतधा न विदीर्णम = (अद्यापि) न स्फुटितम्, (तत्तव हृदयम्) नियतम् = निश्चयेन, अशनिग्रावघटितम्—अशनिग्रावभिः=वज्रशिलाभिः, घटितम्= निर्मितमित्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २० ॥

इदं चेति । लोभान्धस्य—लोभेन अन्धः = वास्तविकतामपश्यन् तस्य, लोभाक्रान्तस्येत्यर्थः, ते = तव, इदं चेष्टितम् = धनप्राप्तिप्रयासः, चेतसि = मम मनसि । चमत्कारमातनोति = आश्चर्यं जनयति ।

लभ्यमिति । लभ्यम् = प्राप्तुमर्हम्, लब्धम् = प्राप्तम्, इदम् च अधिकं लभ्यम् = इदं च कुसीदरूपं प्राप्यम्, (तस्मिन् प्राप्ते) तत् मूललभ्यम् = मूलधनाल्लभ्यम = प्राप्तव्यम्, कुसीदान्तरमिति भावः । ततः = कुसीदान्तराद्

अरे पशु (विवेकशून्य), इस तुच्छ धनरूप मृगतृष्णासागरजल से प्यास बुझाने के इच्छुक तुझ भ्रान्त के कितने उपक्रम कितनी बार विफल नहीं हुए ? मूढ, फिर भी तेरी प्रत्याशा नहीं समाप्त होती । जो तेरा हृदय (अब भी) सैकड़ों खण्डों में नहीं फटा, तो तेरा हृदय निश्चय ही वज्रशिलाओं से बना है ॥ २० ॥

तेरे-जैसे लोभान्ध का यह व्यापार (मेरे) मन में आश्चर्य पैदा करता है । क्योंकि—

यह धन पा लिया, यह पाना है, इससे अधिक मूललभ्य है, इसके बाद यह

लब्धं चापरमित्यनारतमहो लब्धं धनं ध्यायसि।
नैतद्वेत्सि पुनर्भवन्तमचिरादाशापिशाची बलात्
सर्वंग्रासमियं ग्रसिष्यति महालोभान्धकारावृतम् ॥ २१ ॥

अपि च—

धनं तावल्लब्धं कथमपि तथाप्यस्य नियते
व्यये वा नाशे वा तव सति वियोगोऽस्त्युभयथा।
अनुत्पादः श्रेयान्किमु कथय पथ्योऽथ विलयो

अपरम् लब्धम्, इत्येवंप्रकारेण, अनारतम् = सततम्, धनं ध्यायसि=चिन्तयसि, अहो = आश्चर्यम्। पुनः = किन्तु, एतत् = वक्ष्यमाणम्। न वेत्सि = जानासि (यत्) इयम् आशापिशाची, महालोभान्धकारावृतम्—महालोभरूपेणान्धकारेण वृतम् = व्याप्तम्, भवन्तम् = त्वाम्, बलात् = हठात्, अचिरात् = शीघ्रम्, सर्वंग्रासम् = निःशेषमित्यर्थः, ग्रसिष्यति = निगिलिष्यति। इयं धनाशा तव जीवनेन सहैव समाप्तिं यास्यतीति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

धनं तावदिति। कथमपि = केनापि प्रकारेण, महता कष्टेनेत्यर्थः, तावत्= प्रथमतः, धनं, लब्धम् = प्राप्तम्। तथापि अस्य = धनस्य, नियते व्यये वा नाशे वा सति, उभयथा = प्रकारद्वयेन, तव वियोगः अस्ति = तेन धनेन सह तव = अर्जयितुः, वियोगः अस्ति। कथय =वद, (धनस्य) किमु अनुत्पादः=अनुत्पत्तिः, अप्राप्तिरित्यर्थः, श्रेयान् = श्रेयस्करः, अथ = अथवा, विलयः = प्राप्तधनस्य नाशः, पथ्यः = हितः परमार्थे विचार्यमाणे धनस्यानुत्पाद एव श्रेयान्, तत्र

प्राप्त हुआ—इस प्रकार आश्चर्य है कि अनवरत प्राप्तधन का तू चिन्तन किया करता है किन्तु तू यह नहीं समझता कि आशापिशाची शीघ्र महालोभान्धकार से घिरे हुए तुझको बलात् निःशेषतया ग्रस लेगी ॥ २१ ॥

और—

यदि धन किसी प्रकार मिल गया तो इस धन का व्यय अथवा नाश निश्चित है। दोनों प्रकार से (उस धन से) तेरा वियोग होना है। (ऐसी अवस्था में) कहो, धन न पैदा करना अच्छा है या पैदा किये धन का नाश अच्छा है! (अर्थात्

विनाशो लब्धस्य व्यथयतितरां न त्वनुदयः ॥ २२ ॥

किञ्च—

मृत्युर्नृत्यति मूर्ध्नि शश्वदुरगी घोरा जरारूपिणी
त्वामेषा ग्रसते परिग्रहमयैर्गृध्रैर्जगद् ग्रस्यते ।
धूत्वा बोधजलैरबोधबहुलं तल्लोभजन्यं रजः
संतोषामृतसागराम्भसि मनाङ्मग्नः सुखं जीवति ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—एष स्वामी । तदुपसर्पतु महाभागः । (एसो सामी । ता उवसप्पतु महाभाओ)

हेतुमाह—**विनाश** इति । लब्धस्य = प्राप्तस्य विनाशः, व्यथयतितराम् = अतिशयेन क्लेशयति, अनुदयः = धनस्यानुत्पादस्तु न = उत्पत्त्यभावे न तथा क्लेश इत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २२ ॥

मृत्युरिति । शश्वत् = निरन्तरम्, मृत्युः, मूर्ध्नि = शिरसि, नृत्यति, सदा मृत्युरासन्न इति भावः । एषा जरारूपिणी = जरा वार्धक्यं तद्रूपिणी, घोरा = भयावहा, उरगी = सर्पिणी, त्वाम् ग्रसते = निगिलति । परिग्रहमयैः = स्त्रीपुत्रादिरूपैः, गृध्रैः = गृध्रसदृशैरितिभावः, जगत्, ग्रस्यते = भक्ष्यते । तत् = तस्मात्, बोधजलैः = ज्ञानजलैः, अबोधबहुलम् = अबोधेन बहुलम्, अज्ञानसंवलितमित्यर्थः, लोभजन्यम् = लोभोद्भवम्, रजः = मालिन्यम्, धूत्वा = प्रक्षाल्य, सन्तोषामृतसागराम्भसि=सन्तोषामृतसिन्धुजले, मनाक् = सकृत्, मग्नः, सुखं जीवति । सन्तोषः परमं सुखमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २३ ॥

धन न पैदा करना ही अच्छा है क्योंकि) प्राप्त धन का विनाश अत्यन्त कष्टकर है, धन का न होना (उतना कष्टकर) नहीं ॥ २२ ॥

और—

निरन्तर मृत्यु सिर पर नाच रही है । यह घोर बुढापासर्पिणी तुझे निगल रही है । पुत्र-कलत्र आदि गृध्र संसार को ग्रस रहे हैं इस लिए ज्ञानजल से अज्ञानसंवलित लोभजन्य रज को धोकर संतोषामृत के समुद्र में एक बार डुबकी लगाने वाला सुख से जीता है ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—यह स्वामी (हैं) । तो आप उनके समीप चलें ।

(तथा कृत्वा)

संतोषः—जयतु जयतु स्वामी । एष संतोषः प्रणमति ।

राजा—इहोपविश्यताम् । (इति स्वसंनिधावुपवेशयति)

संतोषः—(सविनयमुपविश्य) एष प्रेष्यजनः । आज्ञाप्यतां देवेन ।

राजा—विदितप्रभाव एव भवान् तदलमत्र विलम्बेन । लोभं जतुं वाराणसीं प्रतिष्ठीयताम् ।

संतोषः—यदाज्ञापयति देवः । सोऽहम्—

नानामुखं विजयिनं जगतां त्रयाणां
देवद्विजातिवधबन्धनलब्धवृत्तिम् ।

सन्तोष इति । एष प्रेष्यजनः = अयं दासः समुपस्थितः ।

राजेति । विदितप्रभावः-विदितः = ज्ञातः, प्रभावः पराक्रमः यस्यै तादृशः; वाराणसी = काशी । अत्र वाराणसीमिति द्वितीया, एकं प्रतिशब्दमव्याहृत्योपपाद्या ।

नानामुखमिति । नानामुखम्—नाना मुखानि (१—द्वाराणि, २—वदनानि) यस्य तम्, बहुप्रकारकम्, पक्षे रावणम् दशाननत्वात्, त्रयाणां जगताम्, विजयिनम् (इदं पक्षद्वयेऽपि समानार्थकं विशेषणम्) देवद्विजजातिवधबन्धनलब्धवृत्तिम्—देवाः, द्विजातयः = विप्राः, तेषां वधे = हनने, बन्धने च लब्धा = गृहीता वृत्तिर्येन तम्—देवविप्रवधबन्धनप्रवृत्तिशीलम्, अवशम् = किमपि कर्तुमसमर्थम्,

---

(वैसा करके)

सन्तोष—जय हो, स्वामी की जय हो । यह सन्तोष प्रणाम कर रहा है ।

राजा—यहाँ बैठो । (अपने समीप बैठाता है)

सन्तोष—(विनयपूर्वक बैठ कर) यह दास उपस्थित है । महाराज आज्ञा दें ।

राजा—तुम्हारा प्रभाव विदित ही है । तो इसमें विलम्ब की आवश्यकता नहीं । लोभ को जीतने के लिए तुम काशी जाओ ।

सन्तोष—महाराज की जो आज्ञा । मैं—

नानामुख (१—बहुविषयक, २—दशमुख) त्रिलोकविजेता, देवद्विजों के

रक्षोधिनाथमिव दाशरथिः प्रसह्य
निर्जित्य लोभमवशं तरसा पिनष्मि ॥ २४ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति विनीतवेषः पुरुषः)

पुरुषः—देव, संभृतानि विजयप्रयाणमङ्गलानि। प्रत्यासन्नश्च मौहूर्तिकावेदितः प्रस्थानसमयः।

राजा—यद्येवं सेनाप्रस्थानायादिश्यन्तां सेनापतयः।

पुरुषः—यदाज्ञापयति देवः।

(इति निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये)

भोः भोः सैनिकाः,

रक्षोधिनाथम् = राक्षसपतिं रावणम्, दाशरथिरिव = राम इव अहम् लोभम् प्रसह्य = बलात् तरसा = वेगेन निर्जित्य, पिनष्मि=संचूर्णयामि। उपमाऽलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४ ॥

पुरुष इति। संभृतानि = समाहृतानि। विजयप्रयाणमङ्गलानि = विजययात्राप्रसङ्गोपयुक्तमङ्गलवस्तूनि। प्रत्यासन्नः =समीपमायातः। मौहूर्तिकावेदितः= दैवज्ञविज्ञापितः। प्रस्थानसमयः = यात्राकालः।

वध-बन्धन में प्रवृत्त लोभ को बलपूर्वक वेग से जीतकर असमर्थ कर वैसे ही पीस दूँगा जैसे दशमुख रावण को राम ने जीतकर पीस दिया था ॥ २४ ॥

(चला गया)

(तदनन्तर विनीत वेश में पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—देव, विजययात्रा के सभी मङ्गल कर लिये गये। ज्योतिषी द्वारा बताया हुआ प्रस्थान करने का समय समीप है।

राजा—यदि ऐसा है तो सेना के प्रस्थान के लिए सेनापतियों को आदेश दिया जाय।

पुरुष—महाराज की जो आज्ञा। (निकल गया)

(नेपथ्य में)

अरे ओ सैनिको,

सज्ज्यन्तां कुम्भभित्तिच्युतमदमदिरामत्तभृङ्गा करीन्द्रा
युज्यन्तां स्यन्दनेषु प्रसभजितमरुच्चण्डवेगास्तुरङ्गाः ।
कुन्तैर्नीलोत्पलानां वनमिव ककुभामन्तराले सृजन्तः
पादाताः संचरन्तु प्रसभमसिलसत्पाणयोऽप्यश्ववाराः।।२५।।

राजा—भवतु । कृतमङ्गलाः प्रतिष्ठामहे । (पारिपार्श्वकं प्रति) सारथिरादिश्यतां साङ्ग्रामिकं रथं सज्जीकृत्यानयेति ।

सज्ज्यन्तामिति । कुम्भभित्तिच्युतमदमदिरामत्तभृङ्गाः—कुम्भभित्तिभ्यः = कुम्भस्थलेभ्यः, च्युताः मदाः = मदवारीणि, तद्रूपाभिर्मदिराभिः मत्ताः तत्पानेनेति भावः, भृङ्गाः = भ्रमरा येषां तादृशाः, करीन्द्राः = गन्धगजाः, सज्ज्यन्ताम् = युद्धसंनद्धाः क्रियन्ताम् । प्रसभजितमरुच्चण्डवेगाः—प्रसभम् = अत्यर्थम्, जितः, मरुतः = वायोः, चण्डः = प्रकृष्टः, वेगः = जवः यैस्तादृशाः, तुरङ्गाः = अश्वाः, स्यन्दनेषु=रथेषु, युज्यन्ताम्=यथाविधि बध्यन्ताम् । कुन्तैः=प्रासैः, आयुधविशेषैः, ककुभाम् = दिशाम्, अन्तराले = मध्ये, नीलोत्पलानाम्, नीलकमलानाम्, वनमिव= समूहमिव, सृजन्तः = रचयन्तः, उच्छ्रितैः कुन्तैर्दिगन्तरालं नीलकमलव्याप्तमिव कुर्वन्त इति भावः । पादाताः = पदातयः, सञ्चरन्तु = प्रतिष्ठन्ताम् । असिलसत्पाणयः—असिभिः = खड्गैः, लसन्तः = शोभमानाः, पाणयः = हस्ताः येषां तादृशाः, अश्ववाराः=अश्वारूढाः = सैनिका अपि प्रसभम्=अतिशयेन, सञ्चरन्तु= प्रतिष्ठन्ताम् । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २५ ॥

राजेति । कृतमङ्गलाः = कृतम् = विहितम्, मङ्गलम् = प्रस्थानकालोचित-मङ्गलकृत्यं यैः तादृशा वयम् । प्रतिष्ठामहे = प्रस्थानं कुर्मः । पारिपार्श्विकम् =

कुम्भ स्थल से बहे हुए मदमदिरा से भौंरों को मत्त बनाने वाले मतवाले हाथी सजाये जाँय । वायु के भी प्रकृष्ट वेग को तिरस्कृत करने वाले घोड़े रथों में जोते जाँय । भालों से दिगन्तराल को नीलकमल से व्याप्त-सा करते हुए पैदल सैनिक चल पड़ें । खड्गों से शोभायमान हाथों वाले अश्वारूढ सैनिक भी शीघ्र प्रस्थान कर दें ।। २५ ।।

राजा— अस्तु । हम मङ्गल विधान करके प्रस्थान करें । (पार्श्ववर्त्ती

पारिपार्श्वकः—यदाज्ञापयति देवः।

(इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति यथोक्तं रथमादाय सारथिः)

सारथिः—जीव, सज्जीकृतोऽयं रथः। तदारोहत्वायुष्मान्।

राजा—(कृतमङ्गलविधिरारोहणं नाटयति)

सारथिः—(रथवेगं निरूपयित्वा) आयुष्मन्, पश्य पश्य।

उद्धूतपांसुपटलानुमितप्रबन्ध-
धावत्खुराग्रचयचुम्बितभूमिभागाः।
निर्मथ्यमानजलधिध्वनिघोरहेषम्

पार्श्ववर्तिनं सेवकम्। साङ्ग्रामिकम्—सङ्ग्रामः प्रयोजनमस्येति साङ्ग्रामिकः, तम्, युद्धोपयोगिनम्। 'प्रयोजनम्' इति ठक्।

उद्धूतपांसुपटलेति। उद्धूतेत्यादिः—उद्धूतपांसुपटलेन = उत्क्षिप्तधूलिसमूहेन, अनुमिताः = ज्ञाताः, प्रबन्धेन = अविच्छेदेन धावद्भिः = चलद्भिः, खुराग्रचयैः = खुराग्रभागसमूहैः, चुम्बिताः = स्पृष्टाः, भूमिभागा येषां ते तथोक्ताः, एते वाहाः = अश्वाः, निर्मथ्यमानजलधिध्वनिघोरहेषम्—निर्मथ्यमानस्य = आलोड्यमानस्य, जलधेः=समुद्रस्य ध्वनिरिव घोरा=भयावहा, हेषा=हेषितं यस्मिन्

सेवक के प्रति) सारथि को आदेश दिया जाय कि साङ्ग्रामिक (जंगी) रथ सजा कर ले आयें।

पारिपार्श्विक—महाराज की जो आज्ञा। (निकल गया)

(तदनन्तर यथोक्त रथ लेकर सारथि का प्रवेश)

सारथि—जीव, रथ यह तैयार है। तो आयुष्मान् आरूढ हों।

राजा—(मङ्गलविधान कर चढ़ने का अभिनय करता है)

सारथि—(रथ के वेग को देख कर) आयुष्मन्! देखिए! देखिए!

इन घोड़ों के कदम अविच्छिन्न गति से इतनी तेजी से बढ़ रहे हैं कि उनके खुरों के अग्रभाग से भूमिका (कहीं-कहीं) स्पर्श, केवल उड़ी हुई धूलि से ही अनुमान द्वारा जाना जाता है (अन्यथा यह पता नहीं चलता कि उनके कदम पृथिवी पर भी पड़ रहे हैं)। (रण की समुत्सुकता में) मथे जाते हुए समुद्र

एते रथं गगनसीम्नि वहन्ति वाहाः ॥ २६ ॥

इयं च नातिदूरे दर्शनपथमवतीर्णा त्रिभुवनपावनी वाराणसी नाम नगरी ।

अमी धारायन्त्रस्खलितजलझङ्कारमुखरा
विभाव्यन्ते भूयः शशिकररुचः सौधशिखराः ।
विचित्रा यत्रोच्चैः शरदमलमेघान्तविलस-
त्तडिल्लेखालक्ष्मीं वितरति पताकावलिरियम् ॥ २७ ॥

कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, गगनसीम्नि = अन्तरिक्षे, रथं वहन्ति । अश्वा एतावता वेगेन धावन्ति यदेतेषां क्वचिद् भूतलस्पर्शः उत्क्षिप्तधूलिपटलेनैवानुमीयेत, रणोत्कानामेतेषां ह्रेषा मथ्यमानसागरध्वनिमनुकरोति, एवंभूता अश्वा अन्तरिक्ष एव रथं नयन्तीति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २६ ॥

अमी इति । धारायन्त्रस्खलितजलझङ्कारमुखराः—धारायन्त्रेभ्यः स्खलत्= निर्गच्छत्, जलम् , तस्य यो झङ्कारः = शब्दविशेषस्तेन मुखराः = सशब्दाः, शशिकररुचः—शशिनः = चन्द्रमसः कराः = किरणाः, तेषां रुक् = कान्तिरिव रुक् येषां तादृशाः चन्द्रकिरणवद्धवलकान्तयः, अमी = पुरतो दृश्यमानाः, सौधशिखराः = प्रासादाग्रभागाः, भूयः = बाहुल्येन, विभाव्यन्ते = दृश्यन्ते । यत्र = सौधशिखरेषु, विचित्रा इयम् पताकावलिः, उच्चैः = अतिशयेन, शरदमलमेघान्तविलसत्तडिल्लेखालक्ष्मीम्— शरदि, अमलाः = निर्मला ये मेघाः, तेषामन्ते = शिरसि, विलसन्ती = शोभमाना या तडित् = विद्युत्, तस्या लेखा = रेखा, तस्या लक्ष्मीम् = शोभाम्, वितरति = विस्तारयति । उपमाऽलङ्कारः। धारायन्त्रस्खलित-जलझङ्कारमुखराणां चन्द्रकिरणधवलानां प्रासादानां शिखरेषु विचित्रा पताकावलिः

की ध्वनि के समान घोर (अर्थात् गम्भीर और भयावह) ह्रेषा (हिनहिनाने की ध्वनि) कर ये घोड़े रथ को अन्तरिक्ष भाग में खींच रहे हैं ॥ २६ ॥

और यह समीप में ही त्रिभुवनपावनी वाराणसी नामक नगरी दिखायी दे रही है।

फव्वारों से निकलते जल की झङ्कार से शब्दायमान, चन्द्रकिरण के समान धवल ये प्रासादशिखर दिखायी दे रहे हैं, जिन पर विचित्र पताकाओं की यह

एताश्च प्रतिमुकुलं लग्नमधुपावलीरणितमुखरा जृम्भारम्भभर-विगलन्मकरन्दबिन्दुदुर्दिनाः कुसुमसुरभयो नातिदूरे श्यामायमानघन-च्छदच्छायातरवो नगरपर्यन्तोद्यानभूमयः। यत्रैते मरुतोऽपि गृहीत-

शारदविमलघनान्तर्वर्त्तिविद्युच्छविं वितरतीति भावः। शारदमेघसादृश्येन सौधानां नैर्मल्यातिशयः, विद्युत्सादृश्येन च पताकानां चाञ्चल्यम्, प्रासादानामुच्छ्रितत्वम्, धारायन्त्रस्खलितजलभङ्कारेण भवनानां मुखरतया तत्र लोकातिशयसम्पत्ति-रित्याद्यर्था व्यज्यन्ते। शिखरिणी वृत्तम् ॥ २७ ॥

एताश्चेति। प्रतिमुकुलम् = मुकुले मुकुले इति प्रतिमुकुलम् = प्रतिकोरकम्, सर्वेषु मुकुलेष्वित्यर्थः। लग्नमधुपावलीरणितमुखराः—लग्ना = संसक्ता, मधुपान-लोभादिति भावः, या मधुपावली = भ्रमरपङ्क्तिः, तस्या रणितेन = गुञ्जितेन, मुखराः = शब्दायमानाः। जृम्भारम्भभरविगलन्मकरन्दविन्दुदुर्दिनाः—जृम्भः = विकासः, तस्य आरम्भः = आद्या क्रिया, तस्य भरः = अतिशयः, कुसुमानां विकासातिशय इत्यर्थः, तस्मात् (कुसुमेभ्यः) विगलन् च्यवमानः, यो मकरन्दः= पुष्परसः, तस्य विन्दुभिः, दुर्दिनं=वृष्टिः, यासु तादृश्यः, विकसितपुष्पस्रवन्मकरन्द-वृष्टिमत्य इत्यर्थः। कुसुमसुरभयः—कुसुमैः = पुष्पैः, सुरभयः = सुगन्धयुक्ताः। नातिदूरे = समीपे। श्यामायमानघनच्छदच्छायातरवः—श्यामायमानाः=कृष्णवर्णाः, सातिशयहरितत्वादिति भावः, घनाः = निविडाः, छदाः = पत्राणि येषामेतादृशाः छायातरवः = छायावृक्षाः, यासु तादृश्यः। एताः = पुरो दृश्यमानाः। नगरपर्य-न्तोद्यानभूमयः—नगरस्य = वाराणसीनाम्न्याः पुर्याः, पर्यन्तेषु = परिसरेषु, उद्यान-भूमयः = उपवनप्रदेशाः। मरुतः = वायवः। गृहीतपाशुपतव्रताः = गृहीतं =

पङ्क्ति शरद् के अत्यन्त स्वच्छ मेघों के प्रान्त में शोभायमान विद्युल्लेखा की शोभा धारण कर रही है ॥ २७ ॥

ये नगर के परिसरवर्त्ती उपवन प्रदेश हैं, जो प्रत्येक कली पर (मधुपान के लोभ से) संसक्त भौरों की गुन्जार से गुञ्जित हैं, जहाँ कुसुमों के विकासातिशय के कारण उनसे झरते हुए मकरन्द की बूँदें बरस रही हैं। कुसुमों की सुगन्ध फैल रही है। (अत्यन्त हरे होने के कारण) श्यामवर्ण घने पत्तों वाले छाया

पाशुपतव्रता धूलिमुद्धूलयन्तस्तापसा इव लक्ष्यन्ते । तथाहि—

तोयार्द्राः सुरसरितः सिताः परागै-
र्र्चन्तश्च्युतकुसुमैरिवेन्दुमौलिम् ।
प्रोद्गीतां मधुपरुतैः स्तुतिं पठन्तो
नृत्यन्ति प्रचललताभुजैः समीराः ॥ २८ ॥

स्वीकृतम्, पाशुपतव्रतम् = शैवभावः, यैस्ते । धूलिम् = रजः । उद्धूलयन्तः = उत्पातयन्तः, तापसा इव लक्ष्यन्ते = तपोरता इव प्रतीयन्ते । धूलिमुत्पातयन्तो वायवो गृहीतपाशुपतव्रताः स्वतनौ विभूतिलेपनं कुर्वन्तीति मन्ये । मरुतोऽपि यत्रैवं पशुपतिभक्तिसंभृतास्तत्रान्येषां का कथा इत्यपिना सूचितम् ।

तदेवोत्प्रेक्षितं वायूनां गृहीतपाशुपतव्रतत्वप्रयुक्तं तापसत्वं वैशद्येनोपपादयति— **तोयार्द्रा इत्यादिना** । सुरसरितः = गङ्गायाः, तोयार्द्राः—तोयेन=जलेन आर्द्राः, जलकणसंभृताः, पक्षे कृतजाह्नवीस्नानाः, परागैः = कुसुमरजोभिः, पक्षे विभूतिरजोभिः, सिताः = धवलाः, च्युतकुसुमैः—च्युतैः = पतितैः, वायुवेगकम्पितवृक्षादधःपतितैः, पक्षे स्वयमेव पतितैरिति भावः, कुसुमैः = पुष्पैः, इन्दुमौलिम् = शिवम्, अर्चन्त इव=पूजयन्त इव, अत्र भौवादिकोऽर्चतिरिति बोध्यम् । मधुपरुतैः— मधुपानाम् = भ्रमराणां रुतैः = शब्दैः, पक्षे मधुपानामिव रुतैः, प्रोद्गीताम्— प्रकर्षेण = उच्चैः, तालस्वरतानादिरूपेण च गीयमानाम् स्तुतिम्=स्तोत्रम्, पठन्तः, समीराः = वायवः, प्रचललताभुजैः—प्रकर्षेण चलाः = चञ्चलाः, लता एव भुजाः, पक्षे प्रचला लता इव भुजास्तैः, नृत्यन्ति = नर्तनं कुर्वन्ति । अत्र तोयार्द्रा इत्यनेन वायूनां शैत्यम्, परागैः सिता इत्यनेन सौरभ्यम्, प्रचललताभुजैरित्यनेन मान्द्यं च सूचितम् । प्रहर्षिणी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' । इति ॥ २८ ॥

वृत्त हैं । जहाँ ये वायु भी पाशुपत व्रत ग्रहण कर धूलि उड़ाते हुए (अर्थात् अपने शरीर में विभूतिलेपन करते हुए) तापस से दिखायी दे रहे हैं । जैसा कि—

गङ्गाजल से स्नान कर, पराग रूप विभूति से धवल, गिरे हुए कुसुमों से शिव का अर्चन करते हुए, भौंरों के शब्दों से स्तुति पाठ करते हुए पवन चञ्चललताभुजों से नाच रहे हैं ॥ २८ ॥

राजा—(सानन्दमालोक्य)

सैषान्तर्दधती तमोविघटनादानन्दमात्मप्रभं
चेतः कर्षति चन्द्रचूडवसतिर्विद्येव मुक्तेः पदम् ।
भूमेः कण्ठविलम्बिनीव कुटिला मुक्तावलिर्जाह्नवी
यत्रैवं हसतीव फेनपटलैर्वक्रां कलामैन्दवीम् ॥ २९ ॥

सूतः—(परिक्रम्य) आयुष्मन्, पश्य पश्य । तदिदं सुरसरित्परिसरा-

सैषान्तर्दधतीति । विद्येव = आत्मज्ञानमिव, तमोविघटनात् = अज्ञान-विनाशात्, आत्मप्रभम्—आत्मैव प्रभा = प्रकाशो यस्य तम्, आनन्दम्, अन्तः = अभ्यन्तरे, दधती = प्रकाशयन्ती, मुक्तेः = मोक्षस्य, पदम् = कारणमित्यर्थः, सा= प्रसिद्धा, एषा = इयं दृश्यमाना चन्द्रचूडवसतिः =वाराणसीनाम्नी शिवपुरी, चेतः = हृदयम्, कर्षति = आकर्षति, वशीकरोतीत्यर्थः । इयं शिवपुरी वाराणसी अज्ञानं विनाश्य स्वप्रकाशमानन्दं प्रकाशयन्ती मोक्षकारणतयाऽऽत्मविद्यासादृश्यं प्राप्नोतीति भावः । एवम् = किं चेत्यर्थः, यत्र = वाराणस्याम्, भूमेः = पृथिव्याः, कण्ठविलम्बिनी = कण्ठे लम्बमाना कुटिला = वक्रा, मुक्तावलिरिव = मुक्तामालेव, जाह्नवी = गङ्गा, फेनपटलैः = फेनसमूहैः, वक्राम् = कुटिलाम्, अपूर्णत्वादिति भावः । ऐन्दवीम् = चन्द्रसम्बन्धिनीम् कलाम् = लेखाम्, हसतीव । वक्रतया स्वच्छतया च भुवः कण्ठदेशालङ्कारभूता मुक्तावलिरिव गङ्गा स्वफेनपटलैरैन्दवीं कलां हसतीवेत्युत्प्रेक्षितम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

सूत इति । सुरसरित्परिसरालंकारभूतम्—सुरसरित्=गङ्गा, तस्याः परिसरः=

राजा—(आनन्द के साथ, देख कर)

यह शिवपुरी वाराणसी, विद्या (आत्मज्ञान) के समान अज्ञान (तम) को विनष्ट कर, स्वप्रकाश आनन्द को प्रकाशित करती हुई, मोक्ष को प्रदान करने वाली, हृदय को आकृष्ट कर रही है । जहाँ गङ्गा की कुटिल धारा पृथिवी के कण्ठ की मुक्ता मालासी प्रतीत होती हुई, फेन से वक्र चन्द्रकला का उपहास सा कर रही है ॥ २९ ॥

सूत—(चल कर) आयुष्मन्; देखिए ! देखिए ! यही वह (प्रसिद्ध)

लंकारभूतं भगवतः पावनमनादेरादिकेशवस्य विष्णोरायतनम् ।

राजा—(सहर्षम्) अरे,

एष देवः पुराविद्भिः क्षेत्रस्यात्मेति गीयते ।
अत्र देहं समुत्सृज्य पुण्यभाजो विशन्ति यम् ॥ ३० ॥

सूतः—आयुष्मन्, पश्य, पश्य । एते तावत्कामक्रोधलोभादयोऽस्मद्दर्शनमात्रादितो देशाद् दूरमतिक्रामन्ति ।

तीरम्, तस्यालङ्कारभूतम् । आदिकेशवस्य = आदिकेशवनाम्ना प्रसिद्धस्य । आयतनम् = स्थानम् ।

एष देव इति । एष देवः = आदिकेशवः, पुराविद्भिः=पुरातनकथातत्त्वज्ञैः, व्यासादिभिः, क्षेत्रस्य = काशीधाम्नः, आत्मा = आत्मभूतः, गीयते = उच्यते । यम् = आदिकेशवम् विष्णुम्, अत्र = काश्याम्, देहं समुत्सृज्य=मृत्वा, पुण्यभाजः= पुण्यकर्माणो योगिनः, विशन्ति = तादात्म्यं प्रतिपद्यन्ते । उक्तं च काशीखण्डे—

'आदौ पादोदके तीर्थे विद्धि मामादिकेशवम् ।
अग्निबिन्दोर्महाप्राज्ञ भक्तानां मुक्तिदायकम् ॥
अविमुक्तेऽमृतक्षेत्रे येऽर्चयन्त्यादिकेशवम् ।
तेऽमृतत्वं भजन्त्येवं सर्वदुःखविवर्जिताः ॥" इति ॥ ३० ॥

सूत इति । अस्मद्दर्शनमात्रात् = केवलेनास्माकं दर्शनेन । दूरमतिक्रामन्ति= दूरं पलायन्ते ।

गङ्गा के तटप्रदेश को अलङ्कृत करने वाला, भगवान् अनादि आदि केशव विष्णु का पावन मन्दिर है ।

राजा—(हर्ष से) अरे,

पुरावेत्ता लोग इन्हीं देव को क्षेत्र (१—काशी, २—देह) को आत्मा (१—सारभूत, २—आत्मा) कहते हैं । यहाँ शरीर त्याग कर सुकृती जन जिसमें लीन हुआ करते हैं ॥ ३० ॥

सूत—आयुष्मन्, देखिए ! देखिए ! ये काम-क्रोध-लोभ आदि हमको केवल देखकर ही इस देश से दूर भागे जा रहे हैं ।

राजा—एवमेतत् । तद्भवतु । स्वाभीष्टसिद्धये भगवन्तं नमस्यामः। (रथादवतीर्य प्रविश्यावलोक्य च) जय जय भगवन्, अमरचयचक्रचूडामणिश्रेणिनीराजितोपान्तपादद्वयाम्भोज, राजन्नखद्योतखद्योतकिर्मीरितस्वर्णपीठस्फुरद्द्वैतविभ्रान्तिसंतानसंतप्तवन्दारुसंसारनिद्रापहारैकदक्ष, क्षमामण्डलोद्धारसंभारसंघट्टदंष्ट्राग्रकोटिस्फुरच्छैलचक्र, क्रमा-

राजेति । अमरचयचक्रचूडामणीत्यादिः—अमरचयचक्रम् = देवसमूहः, तस्य चूडामणिश्रेण्या = शिरोभूषणपङ्क्तया नीराजितः कृतारार्तिकः उपान्तः = समीपप्रदेशो यस्य तादृशं पादद्वयाम्भोजम् = चरणद्वयकमलम्, यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त, देवा यस्य पादद्वयाम्भोजं प्रणमन्ति, तदानीं तेषां चूडामणिप्रभया तच्चरणकमलोपान्तो नीराजित इव शोभत इति भावः । राजन्नखेत्यादिः—राजन्तः = दीप्यमाना ये नखास्तेषां द्योताः = प्रकाशा एव खद्योताः, तैः किर्मीरितम् = शवलितम्, = स्वर्णपीठम् = स्वर्णमयपादपीठं यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त । स्फुरद्द्वैतविभ्रान्तिसंतानेत्यादिः—स्फुरत् = प्रकाशमानं यद् द्वैतम् तस्य विभ्रान्तिस्तस्याः सन्तानेन = परम्परया संतप्ताः = पीडिता ये वन्दारवः = वन्दनशीला भक्तास्तेषां संसारनिद्रा = संसाररूपा निद्रा = अवोधः, तस्या अपहारे = विनाशे, एकः = मुख्यः, दक्षः = प्रवीणः, तत्सम्बुद्धौ तथोक्त, द्वैतभ्रान्तिग्रस्तजनानां भक्तानां संसारवासनानिवर्त्तक ! इति भावः । एतेन बुद्धस्तुतिः कृता । क्षमामण्डलोद्धारेत्यादिः—क्षमामण्डलस्य = भूवलयस्य, उद्धारसंभारे = उद्धरणप्रयासे यः सङ्घट्टः = सङ्घर्षः, तस्मिन् दंष्ट्राग्रकोटौ = दन्ताग्रभागे, स्फुरत् = प्रकाशमानम्, शैलचक्रम् = गिरिसमूहः, यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त । एतेन भगवतो वराहस्य

राजा—ऐसा ही है । अच्छी बात है । अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए भगवान् (आदि केशव) को प्रणाम करलें । (रथ से उतर कर प्रवेश कर तथा देखकर) जय जय भगवन् ! आप के चरणकमलों के प्रान्त की देवता लोग अपनी चूडामणियों से नीराजना (आरती) करते हैं (अर्थात् चरणों पर सिर रखकर प्रणाम करते हैं) । आप का स्वर्णनिर्मित पादपीठ, आप के दीप्यमान नखों के प्रकाशरूप खद्योतों से चित्रवर्ण शोभित होता है । प्रकाशमान द्वैत भ्रान्ति परम्परा में पड़कर सन्तप्त भक्तजनों की संसाररूप निद्रा (अज्ञान) को दूर करने में आप दक्ष हैं । भूमण्डल का (प्रलयकालिक जल से) उद्धार करने के

क्रान्तलोकत्रय, प्रबलभुजबलोद्धृतगोवर्धनच्छत्रनिवारिताखण्डलोद्योजिताकाण्डचण्डाम्बुवाहातिवर्षत्रसद्गोकुलत्राणविस्मापिताशेषविश्व, प्रभो, विबुधरिपुवधूवर्गसीमन्तसिन्दूरसन्ध्यामयूखच्छटोन्मार्जनोद्दामधामाधिप, त्रस्तदैत्येन्द्रवक्षस्तटीपाटनाकुण्ठभास्वन्नखश्रेणिपाणिद्वयत्रस्त-

स्तुतिः कृता। क्रमाक्रान्तलोकत्रय—क्रमेण = पादविक्षेपेण आक्रान्तं लोकत्रयं येन तत्सम्बुद्धौ तथोक्त। एतेन भगवतस्त्रिविक्रमस्य स्तुतिः कृता। प्रबलभुजेत्यादिः—प्रबलेन भुजबलेन उद्धृतः = ऊर्ध्वं धृतः, गोवर्धनः =तदाख्यो गिरिः, स एव छत्रं तेन निवारितः = निरुद्धः, आखण्डलेन = इन्द्रेण उद्योजितः = चेष्टितः, अकाण्डे = अकाले, चण्डाम्बुवाहानाम् = प्रचण्डमेघानाम्, अतिवर्षः = भीषणवृष्टिः, तस्मात् त्रसतः = भयाकुलस्य, गोकुलस्य त्राणेन = रक्षया, विस्मापितम् = विस्मयं प्रापितमशेषम् = समस्तं विश्वं येन तत्सम्बुद्धौ तथोक्त, एतेन कृष्णस्तुतिः कृता। विबुधरिपुवधूवर्गेत्यादिः—विबुधानाम् = देवानां रिपवः = शत्रवः, राक्षसा इत्यर्थः, तेषां यो वधूवर्गः = स्त्रीसमूहः, तस्य सीमन्तेषु = भालेषु यत् सिदूरम् सौभाग्यचिह्नभूतं तदेव सन्ध्यामयूखच्छटा = सान्ध्यकिरणप्रभा, तस्या उन्मार्जने = प्रोञ्छने, उद्दाम = दुर्निवारम्, अजेयमित्यर्थः, यद्धाम = तेजः, तस्य अधिपः = स्वामी, तत्सम्बुद्धौ तथोक्त,—एतेन रामावतारस्तुतिः कृता। त्रस्तदैत्येन्द्रेत्यादिः—त्रस्तः = भयाकुलो यो दैत्येन्द्रः = हिरण्यकशिपुरित्यर्थः, तस्य वक्षस्तट्याः उरोदेशस्य, पाटने = विदारणे, अकुण्ठा = अप्रतिहता, भास्वतो = दीप्तिमती, नखश्रेणिः = नखराजिर्यस्य तादृशं यत् पाणिद्वयम् तेन

प्रयास में आप की दंष्ट्रा के अग्रभाग पर शैलसमूह सुशोभित हुए। आप ने पादविन्यास से तीनों लोकों को आक्रान्त कर लिया। आप ने प्रबल भुजबल से गोवर्धन रूप छत्र उठाकर इन्द्र द्वारा आयोजित प्रचण्ड मेघों की वर्षा से त्रस्त गोकुल की रक्षा कर समस्त विश्व को चकित कर दिया। प्रभो, आप देवों के शत्रुओं (राक्षसों) की ललनाओं की माँग में सान्ध्यकिरण के समान लाल सिन्दूर को दूर करने वाले प्रचण्ड तेज के स्वामी हैं (अर्थात् आप ने अपने तेज से राक्षसों का संहार कर उनकी स्त्रियों को वैधव्य प्रदान किया)। आप ने त्रस्त हिरण्यकशिपु के वक्षः स्थल को अपने हाथों के तीक्ष्ण चमकते नखों से

विस्तारिरक्तार्णवामग्नलोकत्रय, त्रिभुवनरिपुकैटभोद्दण्डकण्ठास्थिकूट-स्फुटोन्मार्जितोद्दामचक्रस्फुरज्ज्योतिरुल्लासितोद्दामदोर्दण्डखण्डेन्दुचूड - प्रिय, प्रौढदोर्दण्डविभ्रान्तमन्थाचलक्षुब्धदुग्धाम्बुधिप्रोत्थितश्रीभुज-वल्लीसंश्लेषसंक्रान्तपीनस्तनाभोगपत्रावलीलाञ्छितोरःस्थल, स्थूल-मुक्ताफलोदारहारप्रभामण्डलस्फुरत्कण्ठ, वैकुण्ठ, भक्तस्य लोकस्य

स्रस्तम् = अधःपतितम्, यद् विसारि = प्रसरणशीलं रक्तम्, तस्य अर्णवे = सागरे आमग्नं लोकत्रयं येन तत्सम्बुद्धौ तथोक्त, एतेन नृसिंहस्तुतिः कृता। त्रिभुवनेत्यादिः—त्रिभुवनस्य = त्रैलोक्यस्य, रिपुः = शत्रुः, कैटभः=तन्नामाऽसुरः, तस्य उद्दण्डकण्ठास्थिकूटम् = स्थूलकण्ठास्थिसङ्घातः, तस्मिन् स्फुटम् = स्पष्टम्, उन्मार्जितम् = सङ्घट्टितम्, प्रहृतमिति यावत्, यत् उद्दामचक्रम् = अतितीक्ष्ण-चक्रास्त्रं तस्मात् स्फुरता = दीप्यमानेन, ज्योतिषा = तेजसा, उल्लासिताः = प्रकाशिताः, उद्दामाः = भीषणाः, दोर्दण्डाः = चत्वारो भुजदण्डा यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त, एतेन कैटभारिः स्तुतः। खण्डेन्दुचूडप्रिय–खण्डेन्दुचूडः = शिवः, प्रियो यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त। प्रौढदोर्दण्डेत्यादिः—प्रौढाभ्याम् अतिप्रबलाभ्याम्, दोर्दण्डाभ्याम् = भुजदण्डाभ्याम्, विभ्रान्तः = भ्रामितो यो मन्थाचलः = मन्दर-गिरिः, तेन क्षुब्धः = आलोडितः, दुग्धाम्बुधिः = क्षीरसागरः, तस्मात् प्रोत्थिता = आविर्भूता या श्रीः = लक्ष्मीः, तस्या या भुजवल्ली = बाहुलता तया संश्लेषः = आलिङ्गनम्, तेन संक्रान्ता या पीनस्तनयोः = पीवरकुचयोः आभोगे = विस्तारे पत्रावली = पत्रलेखा, तया लाञ्छितम् = विभूषितम्, उरःस्थलम् = वक्षोदेशो यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त। स्थूलमुक्ताफलेत्यादिः—स्थूलानि यानि मुक्ताफलानि = मौक्तिकानि, तेषामुदारः = दीर्घ इत्यर्थः, हारः तस्य प्रभामण्डलेन स्फुरन् =

विदीर्ण कर उसमें बहने वाले रक्तसिन्धु में त्रैलोक्य को आमग्न कर दिया। त्रिभुवन के शत्रु कैटभ के स्थूल कण्ठ के अस्थिसङ्घात पर स्पष्ट प्रहृत सुदर्शन चक्र की देदीप्यमान ज्योति से आप के भुजदण्ड प्रकाशित हो उठे। हे चन्द्रशेखर प्रिय! प्रौढ भुजदण्ड से घुमाये गये मन्दराचल से क्षुब्ध क्षीर सागर से आविर्भूत लक्ष्मी की भुजलता के द्वारा किये गये आलिङ्गन से संक्रान्त पीन कुचों की पत्रलेखा से आप का उरः स्थल विभूषित है। आप का कण्ठ बड़े-बड़े मोती के

संसारमोहच्छिदं देहि बोधोदयं देव तुभ्यं नमः।

(निर्गमनं नाटयित्वा विलोक्य च) साधुरयमेवास्माकं निवासोचितो देशः। तदत्रैव स्कन्धावारं निवेशयामः।

(इति निष्क्रान्तौ)

इति श्रीकृष्णमिश्रविरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाम्नि नाटके
विवेकोद्योगो नामा चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥

दीप्यमानः, कण्ठो यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त। वैकुण्ठ=विष्णो ! संसारमोहच्छिदम्= संसारवासनोच्छेदकम्। वोधोदयम् = ज्ञानप्रकाशम्। स्कन्धावारं निवेशयामः = कटकं स्थापयामः।

इति कल्याण्याख्यायां प्रवोधचन्द्रोदयव्याख्यायां चतुर्थोऽङ्कः।

दानों से वने हुए लम्बे हार से दीप्यमान है। हे वैकुण्ठ (विष्णो) ? देव, आप को नमस्कार है। आप, भक्तजनों के संसार मोह को दूर करने वाले बोधोदय को दें।

(निकलने का अभिनय कर और देख कर) हम लोगों के निवास योग्य यही उत्तम देश है। इसलिये यहीं सेना का पड़ाव डालते हैं।

(दोनों का प्रस्थान)

इस प्रकार 'प्रबोधचन्द्रोदय' की 'कल्याणी' हिन्दी-व्याख्या
में चतुर्थ अङ्क समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति श्रद्धा)

श्रद्धा—(विचिन्त्य) प्रसिद्धः खल्वयं पन्थाः । यतः—

निर्दहति कुलविशेषं ज्ञातीनां वैरसंभवः क्रोधः ।
वनमिव घनपवनाहततरुवरसंघट्टसंभवो दहनः ॥ १ ॥

(सास्रम्) अहो दुर्वारो दारुणः सोदरव्यसनजन्मा शोकानलः, यो विवेकजलधरशतैरपि न मन्दीक्रियते । तथाहि—

अथ पञ्चमेऽङ्के वैराग्यप्रादुर्भावं वर्णयितुं श्रद्धाप्रवेशं प्रस्तौति—ततः प्रविशति श्रद्धेति । श्रद्धा ज्ञातिवैरफलमाह—निर्दहतीति ।

ज्ञातीनाम् = सगोत्रबन्धूनाम्, वैरसम्भवः = परस्परसंघर्षजनितः, क्रोधः, कुलविशेषम्, घनपवनाहततरुवरसंघट्टसम्भवः—घनेन=प्रचण्डेन, पवनेन = वायुना, आहताः = आन्दोलिता ये तरुवराः =स्थूलवृक्षाः, तेषां संघट्टेन संघर्षेण, सम्भवः= उत्पत्तिर्यस्य तादृशः, दहनः = अग्निः, वनमिव, निर्दहति = निःशेषं विनाशयति । यथा प्रचण्डप्रभञ्जनान्दोलिततरुसंघर्षजनितवह्निः सकलं वनं दहति, तथैव ज्ञातीनां परस्परसंघर्षजनितः क्रोधोऽशेषं कुलमदग्ध्वा न शाम्यतीत्यर्थः । आर्या जातिः । तल्लक्षणं यथा—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या' ॥ इति ॥ १ ॥

सास्रमिति । दुर्वारः = दुःखेन वारयितुं शक्यः । दारुणः = भयङ्करः । सोदरव्यसनजन्मा—सोदराणाम् = भ्रातृणां, व्यसनम् = विनाशः, तेन जन्म = उत्पत्तिर्यस्य तादृशः, शोकानलः = दुःखवह्निः, विवेकजलधरशतैरपि—

(तदनन्तर श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—(सोच कर) यह मार्ग तो प्रसिद्ध ही है । क्योंकि—

जैसे तीव्र वायु के द्वारा आन्दोलित वृक्षों के संघर्षण से उत्पन्न अनल सकल वन को भस्म कर देता है, उसी प्रकार ज्ञातियों (सगोत्रबन्धुओं) का वैरजनित क्रोध समस्त कुल का विनाश कर देता है ॥ १ ॥

(रोकर) अहो ! सहोदरों के मरण से उत्पन्न दुर्वार शोकानल कैसा दारुण

ध्रुवं ध्वंसो भावी जलनिधिमहीशैलसरिता-
मतो मृत्योः शीर्यत्तृणलघुषु का जन्तुषु कथा।
तथाप्युच्चैर्बन्धुव्यसनजनितः कोऽपि विषमो
विवेकप्रोन्माथी दहति हृदयं शोकदहनः ॥ २ ॥

येन तथा कुलप्रकृतिष्वपि, भ्रातृषु कामक्रोधादिषु कथाशेषतां गतेषु।

विवेक एव जलधराः = मेघाः, तेषां शतैरपि, न मन्दीक्रियते = न शान्ति नीयते। बन्धुमरणजनितशोकाग्निम् तादृशो दुर्वारो दारुणश्च भवति यत् प्रचुरज्ञानमेघैरपि न शाम्यतीति भावः।

तदेव स्पष्टीकरोति—ध्रुवमित्यादिना। जलनिधिमहीशैलसरिताम्—जलनिधयः = सागराः, मही = पृथ्वी, शैलाः = पर्वताः, सरितः = नद्यः, तासाम् (अपि) ध्रुवम् = निश्चयेन, ध्वंसः = विनाशः, भावी = भविष्यति। अतः, शीर्यत्तृणलघुषु-शीर्यत् = जरत्, यत्तृणं तद्वल्लघुषु = तुच्छेषु, जन्तुषु = साधारणप्राणिषु, मृत्योः का कथा = मरणस्य का कथा, किं वक्तव्यमित्यर्थः। तथापि = एवं परिज्ञानेऽपि, विवेकप्रोन्माथी—विवेकं प्रोन्मथ्नाति = ज्ञानं प्रकर्षेण विनाशयति, तादृशः, उच्चैः = अतिशयेन प्रचण्डः, कोऽपि = अनिर्वाच्यः, विषमः= भयङ्करः, बन्धुव्यसनजनितः = ज्ञातिनिधनजन्मा, शोकदहनः = शोकरूपोऽनलः, हृदयम् = चेतः, दहति = नितरां पीडयतीत्यर्थः। संसारस्यानित्यत्वं भावयन्नपि जनो बन्धुविनाशशोकेन नितरां व्यथत इत्यहो बन्धुविनाशजनितशोकस्य दारुणत्वमिति भावः शिखरिणी वृत्तम् ॥ २ ॥

येन तथेति। कुलप्रकृतिषु = कुलमूलभूतेषु, वंशप्रवर्तकेष्विति यावत्। कथाशेषतां गतेषु – कथा = वार्ता, सैव शेषः = अवशिष्टो भागो यस्य तस्य भावस्तत्ता, तां गतेषु, मृतेष्वित्यर्थः।

होता है जो सैकड़ों विवेकरूप मेघों से भी शान्त नहीं होता। देखिए—

समुद्र, पृथिवी पर्वत और नदी का विनाश अवश्यंभावी है तो शीर्ण होने वाले तृणतुल्य तुच्छ जन्तुओं की क्या बात ? तथापि बन्धुओं की मृत्यु से उत्पन्न प्रचण्ड, विषम एवं विलक्षण शोकानल विवेक को विनष्ट कर हृदय को जलाता है ॥ २ ॥

जिससे वंशप्रवर्त्तक कामक्रोधादि भाइयों के मरने पर—

निकृन्ततीव मर्माणि देहं शोषयतीव मे।
दहतीवान्तरात्मानं क्रूरः शोकाग्निरुच्छिखः ॥ ३ ॥

(विचिन्त्य) आदिष्टास्मि देव्या विष्णुभक्त्या। वत्से श्रद्धे, अहमत्र हिंसाप्रायसमरदर्शनपराङ्मुखी। तेन वाराणसीमुत्सृज्य शालिग्रामाभिधाने भगवतः क्षेत्रे कंचित्कालमतिपालयामि। त्वं तु यथावृत्तमागत्य मे निवेदयिष्यसीति। तदहं देव्याः सकाशं गत्वा सर्वमेतत्समरवृत्तान्तमावेदयामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एतच्चक्रतीर्थम्। यत्रासौ संसारसागरोत्तारतरणिकर्णधारो भगवान् हरिः स्वयं प्रतिवसति। (प्रणम्य) इयं च

निकृन्ततीवेति। क्रूरः = निर्दयः, असह्य इत्यर्थः, उच्छिखः—उत्=ऊर्ध्वाः; शिखाः = ज्वालाः यस्य सः उच्छिखः = प्रज्वलन्, शोकाग्निः = शोकानलः; बन्धुवधजन्य इति भावः। मे = मम, मर्माणि = मर्मस्थलानि, निकृन्तति = छिनत्तीव, देहम्, शोषयतीव = कदर्थयतीव, अन्तरात्मानम् = हृदयम्, दहतीव = ज्वलयतीव। उत्प्रेक्षालङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३ ॥

विचिन्त्येति। हिंसाप्रायसमरदर्शनपराङ्मुखी—हिंसाप्रायः = वधबहुलः, यः समरः = सङ्ग्रामः, तस्य दर्शने पराङ्मुखी = उदासीना। अतिपालयामि = अतिक्रमामि। आवेदयामि = विज्ञापयामि। संसारसागरोत्तारतरणिकर्णधारः—

असह्य धधकता हुआ शोकानल मेरे मर्मस्थलों को विदीर्ण-सा कर रहा है, शरीर को शुष्क-सा कर रहा है और अन्तरात्मा को दग्ध-सा कर रहा है ॥ ३ ॥

(सोच कर) देवी विष्णुभक्ति ने मुझे आदेश दिया है—'वत्से ! श्रद्धे ! मैं हिंसाप्रधान युद्ध को यहाँ (रहकर देखना नहीं चाहती हूँ)। इसलिए वाराणसी को छोड़कर शालिग्राम नामक भगवत्-क्षेत्र में कुछ समय बिताऊँगी। और तुम, जैसा कुछ होगा, आकर मुझे बताती रहना।' इसलिए मैं देवी (विष्णु भक्ति) के पास जाकर सारा यह युद्ध-वृत्तान्त बताऊँगी। (चल कर और देख कर) यह चक्रतीर्थ है, जहाँ संसार-सागर को पार करने में नौका के कर्णधार (अर्थात् संसार सागर से पार उतारने वाले) वे भगवान् हरि स्वयं निवास करते हैं। (प्रणाम कर) और ये हैं महामुनियों से उपास्यमान भगवती विष्णु-

महामुनिभिरुपास्यमाना भगवती विष्णुभक्तिः शान्त्या सह किमपि मन्त्रयते । यावदुपसर्पामि । (इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति विष्णुभक्तिः शान्तिश्च)

शान्तिः—देवि, प्रबलचिन्ताकुलहृदयामिव भवतीमालोकयामि ।

विष्णुभक्तिः—वत्से, एतस्मिन् वीरवरक्षये महति संपराये जाते न जाने बलवता महामोहेनाभियुक्तस्य वत्सविवेकस्य कीदृशो वृत्तान्त इति दुःस्थितमिव मे हृदयम् ।

शान्तिः—किमत्र विचिन्त्यते । ननु भगवती चेत्कृतानुग्रहा तन्नियतमेव राज्ञो विवेकस्य विजय इति जानामि ।

संसार एव सागरः, तस्य उत्तारः = पारगमनम्, तस्मिन् या तरणिः = नौका, ('स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः) तस्याः कर्णधारः = नाविकः ।

शान्तिरिति । प्रबलचिन्ताकुलहृदयाम्--प्रबलया = महत्या, चिन्तया आकुलं हृदयं यस्यास्तादृशीम् । **विष्णुभक्तिरिति** वीरवरक्षये = प्रकृष्टवीराणां क्षयकारण इत्यर्थः । संपराये = संग्रामे । अभियुक्तस्य=आक्रान्तस्य । दुःस्थितम्= आकुलम् ।

शान्तिरिति । कृतानुग्रहा--कृतः अनुग्रहो यया सा ।

भक्ति, जो शान्ति से कुछ बात-चीत कर रही हैं । (तो) इसी समय समीप जाती हूँ । (जाती है)

(तदनन्तर विष्णु भक्ति और शान्ति का प्रवेश)

शान्ति—देवि, देख रही हूँ कि आप का हृदय महती चिन्ता से आकुल-सा है ।

विष्णुभक्ति—वत्से, बड़े-बड़े वीरों के विनाशक इस महान् युद्ध में बलशाली महामोह से आक्रान्त वत्स विवेक का न जाने क्या हाल हुआ होगा ! इसीसे मेरा हृदय व्यग्र है ।

शान्ति—इसमें चिन्ता की क्या बात ? अरे, यदि भगवती (आप) की कृपा है तो मैं समझती हूँ कि राजा विवेक की जीत निश्चित ही है ।

विष्णुभक्तिः—वत्से,

यदप्यभ्युदयः प्रायः प्रमाणादवधार्यते ।
कामं तथापि सुहृदामनिष्टाशङ्कि मानसम् ॥ ४ ॥

विशेषतश्च श्रद्धायाश्चिरमनागमनं मनसि संदेहमारोपयति ।

श्रद्धा—(उपसृत्य) भगवति, प्रणमामि ।

विष्णुभक्तिः—श्रद्धे, स्वागतम् ।

श्रद्धा—देव्याः प्रसादेन ।

शान्तिः—अम्ब, प्रणमामि ।

श्रद्धा—पुत्रि, मां परिष्वजस्व ।

यदपीति । यदपि = यद्यपि, प्रायः = बाहुल्येन, प्रमाणात्, अभ्युदयः = भाग्योत्कर्षः, अवधार्यते = अनुमीयते, तथापि सुहृदाम् = युध्यमानजनस्य शुभचिन्तकानाम्, हृदयम् = मनः, कामम् = नितराम्, अनिष्टाशङ्कि = अनर्थमाशङ्कते सातिशयस्नेहवत्त्वादिति भावः । कालिदासेनाप्युक्तमभिज्ञानशाकुन्तले 'अतिस्नेहः पापशङ्की' इति । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ४ ॥

विशेषतश्चेति । विशेषतः = प्राधान्येन । चिरमनागमनम्—चिरात् श्रद्धा न प्रत्यागता, तदहं विवेककुशले सन्देहवतीत्यर्थः ।

विष्णुभक्ति—वत्से,

यद्यपि प्रमाण से अभ्युदय निश्चितप्राय रहता है, फिर भी शुभचिन्तकों का हृदय अनिष्ट की अत्यन्त आशङ्का ही किया करता है ॥ ४ ॥

और श्रद्धा का बहुत दिनों से न आना मन में विशेषरूप से सन्देह उत्पन्न कर रहा है ।

श्रद्धा—(समीप जाकर) भगवति, प्रणाम करती हूँ ।

विष्णुभक्ति—श्रद्धे, स्वागत है ।

श्रद्धा—देवी के प्रसाद से ।

शान्ति—माँ, प्रणाम करती हूँ ।

श्रद्धा—पुत्रि, मेरा आलिङ्गन करो।

शान्तिः—(तथा करोति)

श्रद्धा— वत्से, देव्या विष्णुभवतेः प्रसादान्मुनिजनचेतःपदं प्राप्नुहि ।

विष्णुभक्तिः—अथ तत्र किं वृत्तम् ?

श्रद्धा—यद्देव्याः प्रतिकूलमाचरतामुचितम् ।

विष्णुभक्तिः—तद्विस्तरेणावेदय ।

श्रद्धा—आकर्णयतु भवती । देव्यामादिकेशवायतनादपक्रान्तायामेव किंचिदुत्सृष्टपाटलिम्नि भगवति भास्वति, विजयघोषणाहूयमानानेकवरवीरबहुलतरसिंहनादबधिरितदिगन्ते सततरथतुरङ्गखुरखण्डितभूमण्डलोच्छलद्विपुलरजःपटलान्तरितकिरणमालिनि प्रबलतरकर्णताला-

श्रद्धेति । मुनिजनचेतःपदम्—मुनिजनानां चेतसि = हृदये, पदम्=स्थानम् । देव्याम् = विष्णुभक्तौ । आदिकेशवायतनात् = आदिकेशवमन्दिरात् । अपक्रान्तायाम् = अपसृतायाम् । किञ्चिदुत्सृष्टपाटलिम्नि—किञ्चित् उत्सृष्टः = त्यक्तः, पाटलिमा = लौहित्यं येन तस्मिन् । भास्वति = सूर्ये । विजयघोषणेत्यादिः—विजयघोषणया = जयशब्देन आहूयमानाः = आकार्यमाणाः ये अनेके वराः = श्रेष्ठाः वीराः, तेषां बहुलतराः ये सिंहनादाः तैः बधिरिताः = बधिराः सम्पादिताः, दिगन्ताः येन तस्मिन् । सततरथेत्यादिः—सततम् = निरन्तरम्, रथैः, तुरङ्गखुरैश्च खण्डितम् = क्षुण्णम्, यन्भूमण्डलम्, तस्मात् उच्छलता = ऊर्ध्वं पतता

शान्ति—(वैसा करती है)

श्रद्धा—वत्से, देवी विष्णुभक्ति की कृपा से मुनिजनों के हृदय में स्थान प्राप्त करो ।

विष्णुभक्ति—अच्छा, वहाँ का क्या समाचार है ?

श्रद्धा—देवी के विरुद्ध आचरण करने वालों के लिए जो उचित है ।

विष्णुभक्ति—तो विस्तार से बताओ ।

श्रद्धा—आप सुनें—आदिकेशव के मन्दिर से आप के हटते ही, सूर्य के द्वारा लालिमा का थोड़ा-सा त्याग करते ही, विजय घोषणा द्वारा बुलाये गये अनेक वीरवरों के तुमुलसिंहनाद से दिशाओं के बधिर कर दिये जाने पर, निरन्तर रथों और घोड़ों के खुरों से खौंदे भूमण्डल से ऊपर को उड़े विपुल धूलि-पटल के

स्फालनोच्चलत्समदकरिकुम्भसिन्दूरसन्ध्यायमानदशदिशि प्रलयजलधरध्वानभीषणे तेषामस्माकं संनद्धे सैन्यसागरे महाराजमहामोहस्य महाराजेन नैयायिकदर्शनं दौत्येन प्रहितम्। गत्वा च तेनोक्तो महामोहः।

विष्णोरायतनान्यपास्य सरितां कूलान्यरण्यस्थलीः
पुण्याः पुण्यकृतां मनांसि च भवान्म्लेच्छान्व्रजेत्सानुगः।
नो चेत्सन्तु कृपाणदारितभवत्प्रत्यङ्गधाराक्षर-

विपुलेन रजःपटलेन = धूलिसमूहेन, अन्तरितः = आच्छादितः, किरणमाली = सूर्यः, येन तस्मिन्। प्रवलतरेत्यादिः—प्रवलतरेण कर्णतालास्फालेन = कर्णसञ्चालेन, उच्छलता = समुत्पतता समद करिकुम्भसिन्दूरेण = मत्तगजमस्तकवर्त्तिसिन्दूरेण, सन्ध्यायमानाः = सन्ध्यासदृशरक्ततामापद्यमानाः दश दिशो यस्मिन् तस्मिन्। प्रलयजलधरध्वानभीषणे—प्रलयजलधराणाम् = प्रलयकालीनमेघानामिव ध्वानेन = शब्देन भीषणे = भयङ्करे। सन्नद्धे = युद्धोद्यते। दौत्येन = दूतभावेन। प्रहितम् = प्रेषितम्।

दूतोक्तिमाह—विष्णोरिति। भवान्=मोहः, सानुगः–अनुगाः=अनुगामिनः, कामक्रोधादयः, तैः सह, विष्णोः आयतनानि = स्थानानि मन्दिरादीनि, सरिताम्= नदीनाम्, कूलानि = तटानि, पुण्याः = पवित्राः, अरण्यस्थलीः = तपोवनभूमीः, पुण्यकृताम् = सुकृतिनाम् मनांसि च अपास्य = परित्यज्य, म्लेच्छान् = म्लेच्छदेशान्, व्रजेत् = गच्छतु। नो चेत् = न गच्छति चेत् (तर्हि)

द्वारा सूर्य के आच्छादित होने पर, कानों की फटफटाहट से मतवाले हाथियों के मस्तकवर्ती सिन्दूर के उड़ने के कारण दसो दिशाओं के सन्ध्या-सदृश (लाल) हो जाने पर, जब (इस प्रकार) उन (महामोहादि) का और हमारा प्रलयकालीन मेघसदृश गर्जन से भीषण सैन्य सागर युद्ध के लिए उद्यत हो चुका तब महाराज (विवेक) ने नैयायिक दर्शन को दूत बना कर महाराज महामोह के पास भेजा और उसने जाकर महामोह से कहा—

(अपने) अनुगामियों समेत आप (महामोह) विष्णु के मन्दिरों, नदीतटों, पवित्र तपोवन-भूमियों और पुण्यकारीजनों के मनों को छोड़कर म्लेच्छदेशों को चले जाइए, नहीं तो खड्ग से छिन्न-भिन्न आप के प्रत्यङ्ग से धारा के

द्रक्तस्फीतविदीर्णवक्त्रविवराः फेत्कारिणः फेरवाः ॥ ५ ॥

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततो देवि, विकटललाटतटताण्डवितभ्रुकुटिना क्रुद्धेन महामोहेनाभिहितम् । अमुष्य भवतस्य दुर्नयपरिपाकस्य विवेकहतकः फलमित्यभिधाय स्वयं पाखण्डागमाः पाखण्डतर्कशस्त्रैः समं समराय प्रथमं समुद्योजिताः । अत्रान्तरेऽस्माकमपि सैन्यशिरसि—

फेत्कारिणः=फेत्कारशब्दकृतः, फेरवाः = शृगालाः, कृपाणदारितभवत्प्रत्यङ्गधाराक्षरद्रक्तस्फीतविदीर्णवक्त्रविवराः—कृपाणेन = खड्गेन विवेकादेरिति भावः, दारितम्=छिन्नम्, भवतः = मोहस्य, यत्प्रत्यङ्गम्, तस्माद् धारया = धाराकारेण क्षरत्=निर्गच्छत्, रक्तम्=रुधिरम्, तेन = तत्पानलोभेनेत्यर्थः, स्फीताः=विस्तृताः, विदीर्णाः = विवृताः, वक्त्रविवराः = मुखदेशा येषां तादृशाः सन्तु । यद्येवं न करोति तदा भवतः प्रत्यङ्गं खड्गेन छेत्स्यते, ततः प्रवहद्रुधिरं शृगालाः यथेच्छं पास्यन्तीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

श्रद्धेति । विकटललाटतटताण्डवितभ्रुकुटिना—विकटे = भयङ्करे ललाटतटे = भालफलके ताण्डविता = नर्तिता, भ्रुकुटिः = भ्रूः येन तादृशेन । दुर्नयपरिपाकस्य = औद्धत्यस्य । पाखण्डागमाः = नास्तिकशास्त्राणि । पाखण्डतर्कशास्त्रैः समम्—पाखण्डतर्कप्रतिपादकशास्त्रैः सह । समुद्योजिताः = प्रस्थापिताः । अत्रान्तरे = एतस्मिन् समये । सैन्यशिरसि = सेनाया अग्रभागे ।

रूप में बहते हुए रक्त के लिए विशाल मुँह बाकर फेंकरते हुए शृगाल दौड़ेंगे (अर्थात् आप का विनाश निश्चित है) ॥ ५ ॥

विष्णुभक्ति— उसके बाद, उसके बाद (क्या हुआ) ?

श्रद्धा – देवि, उसके बाद विकट भालतट में भौंहें नचाकर क्रुद्ध महामोह ने कहा —'(अपनी) इस धृष्टता का फल अधम विवेक भोगे ।' ऐसा कह कर उसने स्वयं पाखण्डागमों को पाखण्डतर्कों के सहित, पहिले युद्ध के लिये तैयार किया । इसी बीच में हमारी भी सेना के आगे—

वेदोपवेदाङ्गपुराणधर्मशास्त्रेतिहासादिभिरुच्छ्रितश्रीः ।
सरस्वती पद्मधराशशाङ्कसंकाशकान्तिः सहसाविरासीत् ॥ ६ ॥

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततो देवि, वैष्णवशैवसौरादयो देव्याः सकाशमागताः ।

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—तदनन्तरं च—

साङ्ख्यन्यायकणादभाषितमहाभाष्यादिशास्त्रैर्वृता

वेदोपवेदाङ्गेति । वेदाः = ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः, उपवेदाः = आयुर्वेदधनुर्वेदगान्धर्वार्थशास्त्रनामानश्चत्वार उपवेदाः, अङ्गानि = शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तज्यौतिषच्छन्दांसि षड्वेदाङ्गानि, पुराणानि = मात्स्यादीन्यष्टादशपुराणानि, धर्मशास्त्राणि = मन्वादिस्मृतयोऽष्टादश, इतिहासाः = महाभारतादयः, तदादिभिः = तत्प्रभृतिभिः, उच्छ्रितश्रीः—उच्छ्रिता = समेधिता श्रीः = शोभा यस्यास्तादृशी । पद्मधरा=कमलशोभितपाणिः, शशाङ्कसंकाशकान्तिः—शशाङ्केन= चन्द्रेण, संकाशा = तुल्या, कान्तिः = प्रभा यस्यास्तादृशी, सरस्वती = वाग्देवी, सहसा = अकस्मात्, आविरासीत् = प्रादुरभवत् । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ६ ॥

श्रद्धेति । वैष्णवशैवसौरादयः—वैष्णवशैवसौरादीनि शास्त्राणि । देव्याः सकाशम् = सरस्वत्याः समीपम् ।

साङ्ख्यन्यायेति । साङ्ख्यम् = कापिलदर्शनम्, न्यायः = गौतमप्रणीतं शास्त्रम्, कणादभाषितम् = कणादप्रोक्तम्, वैशेषिकं दर्शनम्, महाभाष्यम् = पातञ्जलम्, व्याकरणशास्त्रमित्यर्थः, तदादिशास्त्रैः वृता = युक्ता, स्फूर्जन्न्याय-

---

वेद, उपवेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र और इतिहास आदि से सुशोभित पद्मधारिणी चन्द्रकान्ति सरस्वती सहसा प्रकट हुई ॥ ६ ॥

विष्णुभक्ति—उसके बाद ?

श्रद्धा—देवि, उसके बाद वैष्णव, शैव, सौर आदि शास्त्र देवी (सरस्वती) के पास आये ।

विष्णुभक्ति—उसके बाद ?

श्रद्धा—उसके बाद—

सरस्वती के सामने सांख्य, न्याय, वैशेषिक और महाभाष्यादि शास्त्रों से

स्फूर्जन्न्यायसहस्रबाहुनिकरैरुद्द्योतयन्ती दिशः ।
मीमांसा समरोत्सुकाविरभवद्धर्मेन्दुकान्तानना
वाग्देव्याः पुरतस्त्रयीत्रिनयना कात्यायनीवापरा ॥ ७ ॥

शान्तिः—अये, कथं पुनः स्वभावप्रतिद्वन्द्विनामागमानां तर्काणां च समवायः संपन्नः ।

श्रद्धा—पुत्रि,

सहस्रबाहुनिकरैः—स्फूर्जन्तः = दीप्यमानाः, ये न्यायाः = अधिकरणान्येव सहस्रबाहुनिकरैः = सहस्रसंख्यकैर्भुजैः, पक्षे स्फूर्जद्भिर्न्यायैरिव सहस्रबाहुनिकरैः, दिशः उद्द्योतयन्ती = प्रकाशयन्ती, समरोत्सुका = विचाररूपयुद्धोत्सुका, पक्षे विविधास्त्रशस्त्रैर्युद्धोत्सुका, धर्मेन्दुकान्तानना—धर्म एवेन्दुः, तद्वत्कान्तमाननं यस्यास्तादृशी, पक्षे धर्म इवेन्दुः, तद्वत्कान्तमाननं यस्यास्तादृशी, त्रयीत्रिनयना—त्रयी = ऋग्यजुःसामवेदाः, सैव त्रीणि नयनानि यस्यास्तादृशी, वेदत्रयरूपनेत्रत्रययुक्ता, पक्षे—त्रयोव त्रीणि नयनानि यस्यास्तादृशी, मीमांसा = विचारशास्त्रम्, सरस्वत्याः पुरतः = अग्रे, अपरा = द्वितीया, कात्यायनीव = दुर्गेव, आविरभवत् = प्रादुरासीत् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

शान्तिरिति । स्वभावप्रतिद्वन्द्विनाम् = स्वारसिकविरोधिनाम् । समवायः = एकत्र समावेशः ।

युक्त, दीप्यमान न्यायरूप सहस्रभुजाओं से दिशाओं को प्रकाशित करती, समर के लिए उत्सुक, धर्मरूप चन्द्र के समान आननवाली ऋक्, यजुः और सामवेदरूप तीन नयनों वाली मीमांसा, दूसरी दुर्गा-सी प्रकट हुई ॥ ७ ॥

शान्ति—अरे ! आगमों में स्वभावतः परस्पर विरोध है और (इसी प्रकार) तर्क भी स्वभावतः एक दूसरे के विरोधी हैं तो फिर उनमें सहभाव कैसे हो गया ?

श्रद्धा—पुत्रि,

समानान्वयजातानां परस्परविरोधिनाम् ।
परैः प्रत्यभिभूतानां प्रसूते संगतिः श्रियम् ॥ ८ ॥

येन वेदप्रसूतानां तेषामवान्तरविरोधेऽपि वेदसंरक्षणाय नास्तिकपक्षप्रतिक्षेपणाय शास्त्राणां साहित्यमेव । आगमानां च तत्त्वविचारयतामविरोध एव । तथाहि—

ज्योतिः शान्तमनन्तमद्वयमजं तत्तद्गुणोन्मीलनाद्
ब्रह्मेत्यच्युत इत्युमापतिरिति प्रस्तूयतेऽनेकधा ।

समानेति । समानान्वयजातानाम्=अभिन्नकुलोत्पन्नानाम्, परस्परविरोधिनाम्, परैः = शत्रुभिः, प्रत्यभिभूतानाम् = पराभूतानाम्, संगतिः=एकत्र समावेशः, श्रियम् = सम्पदम्, प्रसूते = जनयति । परस्परविरोधिनोऽपि समानकुलोत्पन्नाः परैर्यदाऽभिभूयन्ते तदा यदि परस्परं तेषां संहतिर्भवति ते खल्वभ्युदयं प्राप्नुवन्तीति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ८ ॥

येनेति । वेदप्रसूतानाम्=वेदमूलकानाम् । अवान्तरविरोधे=आभ्यन्तरिकविरोधे । नास्तिकपक्षप्रतिक्षेपणाय = चार्वाकादिमतपरासनाय । साहित्यम् = अविरोधः ।

ज्योतिरिति । शान्तम् = रागद्वेषाभिनिवेशशून्यम्, अनन्तम्=अपरिच्छिन्नम्, अद्वयम् = एकम्, अजम् = जन्मरहितम्, अनादीत्यर्थः, ज्योतिः = तेजोरूपं ब्रह्म, तत्तद्गुणोन्मीलनात् = ते ते ये गुणा रजःसत्त्वतमोरूपाः, तेषाम् उन्मीलनात् = आधिक्यात्, ब्रह्मा इति, अच्युतः = विष्णुः इति, उमापतिः = शिव इति च अनेकधा = नानाप्रकारेण प्रस्तूयते = उच्यते, उपास्यत इत्यर्थः । तदेव शान्तम-

समान वंश में उत्पन्न किन्तु परस्पर विरोधी जन, जब दूसरों से अभिभूत होते हैं तब उनका यदि सहभाव होता है तो उसका फल अभ्युदय-प्राप्ति होता है ॥ ८ ॥

जिससे वेदोत्पन्न उन शास्त्रों में अवान्तरविरोध होने पर भी वेद के संरक्षण तथा नास्तिकपक्ष के खण्डन के लिए उन सबका सहभाव ही है । आगमों में तो तत्त्वविचार करने पर विरोध है ही नहीं । क्योंकि—

शान्त, अनन्त, अजन्मा एक (ही) तेजोरूप ब्रह्म तत्तद्गुणों के आधिक्य से (अर्थात् क्रमशः रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण के आधिक्य से) ब्रह्मा, विष्णु और शिव इस प्रकार अनेकधा कहा जाता है (इसलिए उनमें वास्तविक भेद

15480

तैस्तैरेव सदागमैः श्रुतिमुखैर्नानापथप्रस्थितै-
र्गम्योऽसौ जगदीश्वरो जलनिधिर्वारां प्रवाहैरिव ॥ ६ ॥

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततो देवि, परस्परं करितुरगपदातीनां निरन्तरशरनिकरधारासंपातोपदर्शितदुर्दिनानां तेषामस्माकं च योधानां सङ्ग्रामस्तुमुलसंप्रहारः प्रावर्तत । तथाहि—

नन्तमजं तेजोरूपमेकमेव ब्रह्मरजोगुणस्याधिक्याद् ब्रह्मेति, सत्त्वाधिक्याद् विष्णुरिति, तमस आधिक्यात् शिव इत्युच्यते, अतो नास्ति तेषां वास्तवो भेद इति भावः । नानापथप्रस्थितैः = नानामार्गप्रवृत्तैः; श्रुतिमुखैः=उपनिषत्प्रधानैः, तैस्तैः=प्रसिद्धैः, सदागमैः = आस्तिकशास्त्रैः, नानापथप्रस्थितैः, वारां प्रवाहैः = जलधाराभिः, जलनिधिरिव = सागर इव, असौ जगदीश्वरः = परमात्मा एव गम्यः = प्राप्यः । यथा नानापथप्रस्थिता अपि नद्योऽन्ते समुद्रमेव प्रविशन्ति तथैव तत्तन्मतानामपि तस्मिन् परमात्मन्येव पर्यवसानमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

श्रद्धेति । निरन्तरशरनिकरधारासंपातोपदर्शितदुर्दिनानाम्—निरन्तरम्, शरनिकराणाम् = बाणसमूहानाम्, धारासंपातेन = अनवरतवर्षणेन, उपदर्शितं दुर्दिनं यैस्तेषाम् । करितुरगपदातीनाम् = गजाश्वपादचारिणाम्, तेषाम्=मोहपक्षीयाणाम्, अस्माकम् = विवेकपक्षीयाणां च । सङ्ग्रामः = युद्धम् । तुमुलसंप्रहारः—तुमुलः= भीषणः, संप्रहारः = शस्त्रनिपातो यस्मिंस्तादृशः ।

नहीं है) । उपनिषदादि नानामार्गप्रवृत्त भिन्न-भिन्न आस्तिक शास्त्रों का प्राप्य एक वही परमात्मा ही है जैसे भिन्न-भिन्न नाना मार्ग से वहने वाले जल प्रवाहों का प्राप्य एक मात्र समुद्र है ॥ ६ ॥

विष्णु भक्ति—उसके बाद ?

श्रद्धा—देवि, उसके वाद उनके और हमारे गजसैनिकों, अश्वसैनिकों और पैदलसैनिकों में भीषण शस्त्रनिपात वाला युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसमें योधाओं ने अनवरतवाणवृष्टि से दुर्दिन का-सा दृश्य उपस्थित कर दिया । इस प्रकार—

बहुलरुधिरतोयास्तत्र सस्रुः स्रवन्त्यो
निबिडपिशितपङ्काः कङ्करङ्कावकीर्णाः ।
शरदलितविदीर्णोत्तुङ्गमातङ्गशैल-
स्खलितरयविशीर्णच्छत्रहंसावतंसाः ॥ १० ॥

तस्मिन्नेवातिमहति महादारुणे सङ्ग्रामे परापरपक्षविरोधितया पाषण्डागमैरग्रेसरीकृतं लोकायतं तन्त्रमन्योन्यसैन्यविमर्दनैर्नष्टम् । अन्ये तु पाषण्डागमा मूलनिर्मूलतया सदागमार्णवप्रवाहेण पर्यस्ताः । सौग-

बहुलरुधिरतोया इति । बहुलरुधिरतोयाः—बहुलम् = सातिशयं, रुधिरम्= शोणितम्, तदेव तोयम् = जलं यासु ताः, निबिडपिशितपङ्काः— निबिडम्=घनम्, पिशितम् = मांसमेव पङ्कः = कर्दमः, यासु ताः, कङ्करङ्कावकीर्णाः—कङ्काः = पक्षिविशेषा एव रङ्काः=दीनाः प्राणिनः, तैरवकीर्णाः=व्याप्ताः, शरदलितेत्यादिः = शरैः=वाणैः, दलिताः=जर्जरीकृताः, विदीर्णा ये उत्तुङ्गाः=उच्चाः, मातङ्गाः=गजा एव शैलाः=पर्वताः, तेभ्यः स्खलितेन=बाधितेन, रयेण = वेगेन, विशीर्णच्छत्राणि= छिन्नभिन्नानि श्वेतातपत्राण्येव हंसाः अवतंसाः = भूषणानि यासां ताः, स्रवन्त्यः नद्यः सस्रुः = प्रवहन्ति स्म । रूपकमलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ १० ॥

तस्मिन्नेवेति । महादारुणे = अतिभीषणे । परापरपक्षविरोधितया=स्वपक्ष-विरोधितया, विवेकपक्षविरोधितया च । पाषण्डागमैः अग्रेसरीकृतम्=अयं भावः—लोकायताः शरीरमेवात्मानं स्वीकुर्वन्ति, तच्चास्तिकानां सर्वेषां नास्तिकानां चानभिमतम्, तस्मात् पाषण्डागमैश्चिन्तितं यत् लोकायतागमः पुरतो यातु, अयं म्रियतां जीवतु वा उभयथाऽस्माकं लाभोऽत एव गूढाभिसन्धिना तैर्लोकायतमग्रेकृतम् इति । अन्योऽन्यसैन्यविमर्दनैः—परस्परसैनिकसङ्घर्षैः, लोकायतस्य युक्ति-शून्यत्वादेवमनायासेनैव विनाशोऽभवदिति भावः । पाषण्डागमाः = जैनबौद्धादयः ।

मांस रूप पङ्क से युक्त, कङ्क (पक्षिविशेष) रूप दीनप्राणियों से सम्पन्न, वाणों से जर्जर एवं विदीर्ण उँचे गजरूप पर्वतों से बाधित वेग के द्वारा बिखरे हुए श्वेत छत्ररूप हंसों से विभूषित रुधिर जलमयी नदियाँ बह चलीं ॥ १० ॥

उस महान् दारुण सङ्ग्राम में पाखण्डागमों ने स्वपक्ष और परपक्ष दोनों का विरोधी होने से लोकायत मत को आगे कर दिया जो परस्पर सैनिकों के सङ्घर्ष से नष्ट हो गया । अन्य (जैन बौद्धादि) पाखण्डागम, मूल के शिथिल होने से

तास्तावत्सिन्धुगान्धारपारसीकमागधान्ध्रहूणवङ्गकलिङ्गादीन्म्लेच्छ प्रायान्प्रविष्टाः । पाषण्डदिगम्बरकापालिकादयस्तु पामरबहुलेषु पाञ्चालमालवाभीरावर्तसागरानूपेषु सागरोपान्ते निगूढं संचरन्ति । न्यायाद्यनुगतमीमांसयावगाढप्रहारजर्जरीकृता नास्तिकतर्कास्तेषामेवा-गमानामनुपथं प्रयाताः ।

विष्णुभक्तिः—ततस्ततः ।

मूलनिर्मूलतया = मूलशैथिल्येन । सदागमार्णवप्रवाहेण—सदागमाः = वेदमूलाः समीचीना आगमा एव अर्णवाः = सागराः, तेषामतिविस्तृत्वादिति भावः, तेषां प्रवाहेण = धारया, प्रमाणपरम्परयेति भावः । पर्यस्ताः=ध्वस्ताः, जलप्रवलप्रवाहेण निर्मूला मार्गपतितवृक्षा इव सदागमप्रवाहेण पाषण्डागमा दूरं क्षिप्ता इति भावः । तदेवाह—सौगता इति । सौगताः—सुगतः = वुद्धः, तेन प्रणीताः सौगताः = वौद्धागमाः । म्लेच्छप्रायान् = म्लेच्छजनवहुलान् । पामरवहुलेषु = यत्र देशेषु प्रायेण नीचा वसन्ति तत्र । सागरानूपेषु = सागरतटवर्तिषु देशेषु । निगूढम् = अप्रकटभावेन । न्यायाद्यनुगतमीमांसया—न्यायाद्यनुसृतमीमांसाभिधशास्त्रेण । अवगाढप्रहारजर्जरीकृताः—दृढतरप्रहारैर्विदीर्णाः, नास्तिकतर्काः = नास्तिकानां = वेदवाह्यानां, तर्काः = तर्कशास्त्राणि । तेषामेवागमानाम् = पाषण्डागमानाम् । अनुपथम = पश्चात् । प्रयाताः = पलायिताः ।

सदागमरूप सागर की धारा (अर्थात् प्रमाणपरम्परा) से ध्वस्त हो गये । वौद्धमत वाले सिन्धु, गान्धार, पारसीक, मागध, आन्ध्र, हूण, वङ्ग, कलिङ्ग आदि म्लेच्छ प्राय देशों में प्रविष्ट हो गये । पाखण्ड, दिगम्वर और कापालिक आदि पामर प्रधान पाञ्चाल, मालव, आभीर, आवर्त्त, सागर तटवर्ती देशों में सागर के किनारे छिपे-छिपे संचरण कर रहे हैं । न्यायादि से अनुगत मीमांसा ने कठोर प्रहारों से नास्तिकतर्कों को जर्जर कर दिया और वे उन्हीं आगमों के मार्ग पर भाग गये ।

विष्णुभक्ति—उसके वाद, उसके वाद ?

श्रद्धा-ततो वस्तुविचारेण कामो हतः, क्षमया क्रोधपारुष्यहिंसादयो निपातिताः, सन्तोषेण लोभतृष्णादैन्यानृतपैशुन्यवाक्स्तेयासत्प्रतिग्रहादयो निगृहीताः, अनसूयया मात्सर्यं जितम्, परोत्कर्षसंभावनया मदो निषूदितः, परगुणाधिक्येन मानः खण्डितः।

विष्णुभक्तिः—(सहर्षम्) साधु साधु संपन्नम्। अथ महामोहस्य को वृत्तान्तः।

श्रद्धा—देवि, महामोहोऽपि योगोपसर्गैः सह न ज्ञायते क्वापि निलीनस्तिष्ठतीति।

विष्णुभक्तिः—अस्ति तर्हि महाननर्थशेषः। प्रहरणीयश्चासौ। यतः—

श्रद्धेति। लोभतृष्णादैन्यानृतपैशुन्यवाक्स्तेयासत्प्रतिग्रहादयः—अनृतम् = असत्यभाषणम्, पैशुन्यम् = गुणनिन्दा, वाक्स्तेयम्=वचनचौर्यम्, असत्परिग्रहः= अनुचितदानग्रहणम्। निगृहीताः = पराजिताः। परोत्कर्षसंभावनया = परोत्कर्षकामनयेत्यर्थः। निषूदितः = हतः। योगोपसर्गैः—योगः = चित्तवृत्तिनिरोधः; तस्य उपसर्गैः = विघ्नैः।

श्रद्धा—उसके बाद वस्तुविचार ने काम को मारा, क्षमा ने क्रोध, पारुष्य; हिंसा आदि को मार गिराया, सन्तोष ने लोभ, तृष्णा, दैन्य, असत्यभाषण, पैशुन्य, वचनचौर्य, असत्प्रतिग्रह (अनुचित दानग्रहण) आदि को पराजित किया, अनसूया ने मात्सर्य को जीता, परोत्कर्षसंभावना ने मद को मारा और परगुणाधिक्य ने मान को खण्डित किया।

विष्णुभक्ति—(हर्ष के साथ) बहुत अच्छा हुआ। अब महामोह का क्या वृत्तान्त है ?

श्रद्धा—देवि, महामोह भी योगोपसर्गों (योगविषयकविघ्नों) के साथ, मालूम नहीं, कहीं छिपा हुआ है।

विष्णुभक्ति—तब तो महान् अनर्थ शेष ही है। उसे मारना होगा। क्योंकि—

अनादरपरो विद्वानीहमानः स्थिरां श्रियम् ।
अग्नेः शेषमृणाच्छेषं शत्रोः शेषं न शेषयेत् ॥ ११ ॥

अथ मनसः को वृत्तान्तः ।

श्रद्धा—देवि, तेनापि पुत्रपौत्रादिव्यसनजनितशोकावेशेन जीवोत्सर्गाय व्यवसितम् ।

विष्णुभक्तिः—(स्मितं कृत्वा) यद्येवं स्यात्सर्व एव वयं कृतकृत्या भवामः । पुरुषश्च परां निर्वृतिमापत्स्यते । किंतु कुतस्तस्य दुरात्मनो जीवत्यागः ?

अनादरपर इति । अनादरपरः = (शत्रूणाम्) अनादरे प्रवृत्तः, विद्वान्, स्थिराम् श्रियम् = समृद्धिम्, ईहमानः = कामयमानः, अग्नेः शेषम्, ऋणात् शेषम्, शत्रोः शेषं न शेषयेत् । विद्वान् पुरुषः शत्रुविनाशप्रवर्त्तमानः स्थिरां समृद्धिं कामयमानः सन् अग्नेः, ऋणस्य शत्रोश्च शिष्टं भागं न त्यजेत्, यत एते स्वल्पेनैव कालेन पुनर्वर्धन्ते, ततस्तु महाप्रयत्नेनैव विनाशं यान्ति । अतस्तदवस्यस्य महामोहस्योपेक्षा न युक्ता, कथमप्यन्विष्य स मारणीय एवेति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥११॥

श्रद्धेति—पुत्रपौत्रादिव्यसनजनितशोकावेशेन – पुत्रपौत्रादिविपत्तिजनितदुःखावेगेन । जीवोत्सर्गाय = प्राणत्यागाय । व्यवसितम् = चेष्टितम् ।

विष्णुभक्तिरिति । यद्येवं स्यात् = मनः प्राणत्यागं कुर्यात्, वयं सर्वे = विष्णुभक्त्यादयः । कृतकृत्या भवामः = सफलमनोरथा भवाम इत्यर्थः, मनस एव बन्धमोक्षकारणत्वादिति भावः । परां निवृत्तिम्=शाश्वतिकीं शान्तिम् । आपत्स्यते= प्राप्स्यति ।

(शत्रुओं के) अनादर में प्रवृत्त, स्थिर समृद्धि चाहने वाला विद्वान् अग्नि, ऋण और शत्रु के शेष को न छोड़े ॥ ११ ॥

अच्छा, मन का क्या वृत्तान्त है ?

श्रद्धा—देवि, उसने भी पुत्रपौत्रादि के निधन से उत्पन्न शोकावेग के कारण प्राण छोड़ देने का प्रयत्न किया ।

विष्णुभक्ति—(मुस्करा कर) यदि ऐसा हो जाय तो हम सभी कृतकृत्य हो जायें और पुरुष को भी शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जायगी किन्तु उस दुरात्मा का जीवत्याग क्यों कर होगा ?

श्रद्धा—एवं देव्यां प्रबोधोदयाय गृहीतसंकल्पायामचिरं शरीरेण सह नैव भविष्यति।

विष्णुभक्तिः—तद्भवतु। अस्य वैराग्योत्पत्तये वैयासिकीं सरस्वतीं प्रेषयामः।

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रवेशकः।

(ततः प्रविशति मनः संकल्पश्च)

मनः—(सास्रम्) हा पुत्रकाः, क्व गताः स्थ। दत्तं मे प्रियदर्शनम्। भो भोः कुमारकाः रागद्वेषमदमात्सर्यादयः, परिष्वजध्वं माम्। सीदन्ति ममाङ्गानि। हा। न कश्चिन्मां वृद्धमनाथं संभावयति। क्व गता असूयादयः कन्यकाः आशातृष्णाहिंसादयो वा स्नुषाः। कथं ता अपि मन्दभाग्यस्य मे समकालमेव दैवहतकेनापहृताः।

श्रद्धेति। देव्याम् = विष्णुभक्तौ। शरीरेण सह नैव भविष्यति = मृतं भविष्यतीत्यर्थः। विष्णुभक्तिरिति। अस्य = मनसः। वैयासिकीम्=व्यासप्रोक्ताम्।

मन इति। संभावयति = आश्वासयति। स्नुषाः = पुत्रवध्वः।

श्रद्धा—देवी जब इस प्रकार प्रबोधोदय के लिए संकल्प ले चुकी हैं तब यह शीघ्र नष्ट होकर रहेगा।

विष्णुभक्ति—तो ठीक है। इस (मन) को वैराग्य उत्पन्न करने के लिए वैयासिकी सरस्वती को भेजती हूँ।

(दोनों का प्रस्थान)

इति प्रवेशक

(तदनन्तर मन और संकल्प का प्रवेश)

मन—(रोकर) हाय प्यारे पुत्रो! तुम सब कहां गये? मुझे प्रियदर्शन दो। हे राग, द्वेष, मद, मात्सर्य आदि प्रिय कुमारो! मुझे आलिङ्गन करो। मेरे अङ्ग क्लान्त हो रहे हैं। मुझ वृद्ध अनाथ को कोई आश्वासन देने वाला नहीं है। असूयादिक कन्याएँ कहाँ गयीं? आशा, तृष्णा, हिंसा आदि बहुएँ कहाँ हैं? मुझ अभागे की वे सभी निगोड़े भाग्य के द्वारा एक साथ ही कैसे हर ली गयीं?

विसर्पति विषाग्निवद्दहति शर्म मर्माविध-
स्तनोति भृशवेदनाः कषति सर्वकार्श्यं वपुः ।
विलुम्पति विवेकितां हृदि च मोहमुन्मीलय-
त्यहो ग्रसति जीवितं प्रसभमेव शोकज्वरः ॥ १२ ॥

(इति मूर्च्छितः पतति)

संकल्पः—(सास्रम्) राजन् समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

मनः—(समाश्वस्य) कथं देवी प्रवृत्तिरपि नमामेवमवस्थं समाश्वासयति ।

संकल्पः—(सास्रम्) देव, कुतोऽद्यापि प्रवृत्तिः । यतः श्रुतकुटुम्बव्यसनसंजातशोकानलदग्धहृदया हृदयास्फोटं विनष्टा ।

विसर्पतीति । शोकज्वरः = शोकसन्तापः, विषाग्निवत् = विषज्वालावत्, विसर्पति = सकलदेहं व्याप्नोति, शर्म = सुखम्, दहति = नाशयति । मर्माविधः—मर्माणि आविध्यन्तीति मर्माविधः = मर्मच्छिदः, भृशवेदनाः भृशम् = अतिशयेन वेदनाः = पीडाः, तनोति = विस्तारयति' सर्वकार्श्यम्=सर्वैरुपायैः कर्शित्वा, वपुः शरीरम्, कषति = हिनस्ति, नाशयतीत्यर्थः, विवेकिताम्=धैर्यवत्ताम्, विलुम्पति= विनाशयति, हृदि च मोहम् = बुद्धिभ्रंशम्, उन्मीलयति = प्रकटीकरोति । 'अहो' इति खेदे । प्रसभम्=हठात्, जीवितमेव ग्रसति = निगिलति । पृथ्वीवृत्तम् ॥ १२ ॥

मन इति । एवमवस्थम्=ईदृशं दुःखमापन्नम् । समाश्वासयति=धैर्यं बन्धयति ।

संकल्प इति । कुतोऽद्यापि प्रवृत्तिः=नास्ति प्रवृत्तिरिदानीमित्यर्थः। श्रुतकुटुम्बव्यसनसंजातशोकानलदग्धहृदया—श्रुतेन कुटुम्बानाम्=कामादीनामित्यर्थः, व्यसनेन=

शोक सन्ताप विषज्वाला के समान (समस्त शरीर में) फैल रहा है, सुख को नष्ट कर रहा है, मर्मभेदी व्यथा उत्पन्न कर रहा है, शरीर को सब प्रकार से कृश कर नष्ट कर रहा है, विवेक को गायब कर रहा है और हृदय में मोह को उत्पन्न करता हुआ, खेद है कि हठात् जीवन को ही ग्रस्त कर रहा है ॥ १२ ॥

(मूर्च्छित होकर गिरता है)

संकल्प—(रोकर) राजन् । धैर्य धरिए, धैर्य धरिए ।

मन—(समाश्वस्त होकर) क्यों देवी प्रवृत्ति भी, इस अवस्था में पड़े हुए मुझे आश्वासन नहीं दे रही है ?

संकल्प—(रोकर) देव, अब प्रवृत्ति कहाँ क्योंकि कुटुम्ब का निधन

मनः—हा प्रिये, क्वासि देहि मे प्रतिवचनम्। ननु देवि,

स्वप्नेऽपि देवि रमसे न विना मया त्वं
स्वापे त्वया विरहितो मृतवद्भवामि ।
दूरीकृतासि विधिदुर्ललितैस्तथापि
जीवत्यवेहि मन इत्यसवो दुरन्ताः ॥ १३ ॥

(पुनर्मूर्च्छति)

संकल्पः—राजन्, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

निधनेन, संजातः = उत्पन्नो यः शोकानलः, तेन दग्धं हृदयं यस्याः तादृशी सती, हृदयास्फोटम् = हृदयमास्फोट्य = विदार्य । विनष्टा = मृता ।

मन इति । प्रतिवचनम् = उत्तरम् ।

स्वप्नेऽपीति । देवि = प्रवृत्ते ! स्वप्नेऽपि = सर्वदाऽपीत्यर्थः । त्वम्=प्रवृत्तिः, मया विना = मया मनसा वियुक्ता, न रमसे = निर्वृतिं न लभसे, त्वया विरहितः (अहं मनः) स्वापे = स्वप्नेऽपि, मृतवद् भवामि = निष्क्रियो भवामि । तथापि= एवं सत्यपि, विधिदुर्ललितैः = दैवदुर्विलासैः, दूरीकृताऽसि = वियोजिताऽसि । (एवं सत्यपि) मनः जीवति, (ततः) प्राणाः दुरन्ताः = दुरवसानाः, सहसा न नश्यन्तीत्यर्थः इति अवेहि = जानीहि । अहं तु जीवितुं नेच्छामि, किंतु किं करोमि, प्राणा न निर्गच्छन्तीति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १३ ॥

-सुनने से उत्पन्न शोकानल से उनका हृदय दग्ध हो गया और वे छाती फाड़कर मर गयीं ।

मन—हाय प्रिये ! कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो । अरे देवि !

स्वप्न में भी मेरे विना तुम्हें चैन नहीं पड़ता और मैं (भी) स्वप्न में तुम्हारे विना मुर्दा-सा हो जाता हूँ । विधि के दुर्विलासों ने (मुझसे) तुम्हें दूर कर दिया, तथापि मन (मैं) जी रहा है, तो यह समझो कि प्राण दुरन्त होते हैं । अर्थात् सहसा नष्ट नहीं होते ॥ १३ ॥

(पुनः मूर्च्छित हो जाता है)

संकल्प—राजन् ! धैर्य धरिए, धैर्य धरिए ।

मनः—(समाश्वस्य) अलमस्माकमतः परं जीवितेन। संकल्प, चितामारचय। यावदनलप्रवेशेन शोकानलं निर्वापयामि।

(ततः प्रविशति वैयासिकी सरस्वती)

सरस्वती—प्रेषितास्मि भगवत्या विष्णुभक्त्या। यथा 'सखि सरस्वति, गच्छापत्यव्यसनखिन्नस्य मनसः प्रबोधनाय। यथा च तस्य वैराग्योत्पत्तिर्भवति तथा यतस्वे'ति। तद्भवतु। तत्संनिधिमेवोपसर्पामि। (उपसृत्य) वत्स, किमेवमतिविक्लवोऽसि, ननु विदितपूर्वैव भवतो भावानामनित्यता, अधीतानि च त्वयैतिहासिकान्युपाख्यानानि। तथाहि—

भूत्वा कल्पशतायुषोऽम्बुजभवः सेन्द्राश्च देवासुरा

मन इति। अतः परम् = सकलकुटुम्बमरणात् परतः। चितामारचय = सज्जीकुरुष्व चिताम्। अनलप्रवेशेन=अग्नौ प्रवेशं कृत्वा। निर्वापयामि=शमयामि।

सरस्वतीति। अपत्यव्यसनखिन्नस्य=सन्ततिविनाशदुःखितस्य। तत्संनिधिम्= मनःसकाशम्। अतिविक्लवः = अतिक्लिष्टः। विदितपूर्वा = पूर्वं विदिता = विदितपूर्वा। भावानाम् = सांसारिकसकलपदार्थानाम्। अनित्यता=क्षणभङ्गुरता। अधीतानि = पठितानि। उपाख्यानानि = कथाः ऐतिहासिकोपाख्यानैर्भावानां नश्वरतां ज्ञातवानपि त्वमेवमतिविक्लव इत्याश्चर्यकरमिति भावः।

भूत्वेति। अम्बुजभवः = ब्रह्मा, सेन्द्राः = इन्द्रेण सहिताः, देवासुराः=देवाः,

---

मन—(समाश्वस्त होकर) इसके बाद मेरा जीना व्यर्थ है। हे सङ्कल्प! चिता तैयार करो, जिससे अग्नि में प्रविष्ट होकर शोकानल को शान्त करूँ।

(तदनन्तर वैयासिकी सरस्वती का प्रवेश)

सरस्वती—भगवती विष्णुभक्ति ने मुझे भेजा है कि सखि सरस्वति! सन्ततिनिधन से दुःखित मन को प्रबोधित करने के लिए जाओ और ऐसा प्रयत्न करो कि उसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय। (इस लिए) मैं उसके पास जा रही हूँ। (समीप जाकर) वत्स, इस तरह अत्यन्त दुःखी क्यों हो? अरे तुम तो पहिले से ही पदार्थों की अनित्यता जानते ही हो और ऐतिहासिक उपाख्यान (भी) तुमने पढ़े हैं। देखो—

सौ कल्पों की आयु प्राप्त करने पर भी करोड़ों ब्रह्मा, इन्द्र, सुर, असुर,

मन्वाद्या मुनयो मही जलधयो नष्टाः परं कोटयः ।
मोहः कोऽयमहो महानुदयते लोकस्य शोकावहः
सिन्धोः फेनसमे गते वपुषि यत्पञ्चात्मके पञ्चताम् ॥ १४ ॥

तद्भावय भावानामनित्यताम् । नित्यमनित्यवस्तुदर्शनो न पश्यति शोकावेगम् । यतः—

एकमेव सदा ब्रह्म सत्यमन्यद्धि कल्पितम् ।
को मोहस्तत्र कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ १५ ॥

असुराश्च, मन्वाद्याः = मनुप्रभृतयः, मुनयः = ऋषयः, मही = पृथ्वी, कोटयः = तावत्सङ्ख्यकाः, जलधयः = समुद्राः, एते सर्वे कल्पशतायुषः = अपरिमितकल्पायुषः, भूत्वाऽपि परम् = अत्यर्थं, नष्टाः (तदा) सिन्धोः = समुद्रस्य, फेनसमे = फेनतुल्ये क्षणभङ्गुरे, पञ्चात्मके = पञ्चतत्त्वनिर्मिते, वपुषि = शरीरे, पञ्चताम् = मृत्युम्, गते, अहो = आश्चर्यम्, लोकस्य = जगतः, शोकावहः = शोकप्रदः, कोऽयं महान् मोहः=व्यामोहः, यत् उदयते=प्रादुर्भवति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४॥

तद्भावयेति । तत् = संसारस्य नश्वरत्वात्, भावानाम् =सकलपदार्थानाम्, अनित्यताम् = अनित्यभावम्, भावय = चिन्तय । नित्यम् = निरन्तरम्, अनित्यवस्तुदर्शनः—जातानां पदार्थानां विनाशं वीक्षमाणः, संसारस्यानित्यताप्रतीत्या, शोकावेगं न पश्यति = दुःखातिशयम्, स्वबन्धो मृतेऽपीति भावः, नानुभवति ।

एकमेवेति । सदा एकमेव ब्रह्म सत्यम् = त्रैकाल्यसिद्धम्, अन्यत् = ब्रह्मणः अन्यत् कल्पितम् = आरोपितम्, असत्यमित्यर्थः । हि=यतः, एकत्वम् अनुपश्यतः= जगतो ब्रह्माभेद भावयतः, तत्र = तस्यां स्थितौ, कः मोहः, कः शोकः, न कोऽपि

मनु आदि ऋषि, पृथिवी, समुद्र नष्ट हो गये, (तब) समुद्र के फेनतुल्य (क्षणभङ्गुर) पञ्चतत्त्वनिर्मित शरीर के विनष्ट होने पर संसार को यह कैसा मोह होता है ? ॥ १४ ॥

तो पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन किया करो । निरन्तर अनित्य वस्तुओं को जो देखता रहता है वह (अपने बन्धु के मरने पर भो) शोकावेग का अनुभव नहीं करता ।

क्योंकि —सदा एक ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कल्पित अत

मनः—भगवति, शोकावेगदूषिते मनसि विवेक एवमनवकाशं लभते ।

सरस्वती—वत्स, स्नेहदोषः एषः । प्रसिद्ध एवायमर्थः स्नेहः सर्वानर्थप्रभव इति । तथाहि—

उप्यन्ते विषवल्लिबीजविषमाः क्लेशाः प्रियाख्या नरै-
स्तेभ्यः स्नेहमया भवन्ति न चिराद् वज्राग्निगर्भाङ्कुराः ।

मोहः, न कोऽपि शोक इत्यर्थः । तत् संसारस्य विनाशशीलत्वं भावयन् त्यज स्ववैक्लव्यमिति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १५ ॥

मन इति । भगवति = सरस्वति ! शोकावेगदूषिते = सातिशयशोकभरिते, मनसि ममेति शेषः, विवेकः = विचारः, अनवकाशं लभत एव अयं भावः सातिशयशोकभरिते मम मनसि नित्यानित्यविचार एव नोदेति, तत्कथं वैकल्यं त्यक्त्वा धैर्यं धारयामीति ।

सरस्वतीति । स्नेहदोष एषः—आत्मजनेषु त्वं भृशं स्निह्यसि तस्मादिदं वैक्लव्यमिति भावः । स्नेहः सर्वानर्थप्रभवः = सर्वेषामनर्थानां कारणमित्यर्थः ।

उप्यन्त इति । विषवल्लिबीजविषमाः—विषलताबीजवत् भयङ्कराः मारकत्वादिति भावः । प्रियाख्याः = पुत्रकलत्रादिव्यपदेश्याः, क्लेशाः = दुःखानि नरैः= जनैः, उप्यन्ते = आरोप्यन्ते । पुत्रादिप्रियजनानां प्रियत्वं नाम्नैव न तु स्वरूपतः । त एव वस्तुतः क्लेशा इति भावः । तेभ्यः = उप्तेभ्यो बीजेभ्यः, न चिरात् = तत्कालमेवेत्यर्थः, स्नेहमयाः = ममत्वस्वरूपाः, वज्राग्निगर्भाङ्कुराः—वैद्युताग्निज्वालातुल्यसन्तापप्रदप्ररोहाः, भवन्ति = जायन्ते । यथा बीजानि तथा प्ररोहा

एव असत्य है । (इस प्रकार) जो जगत् और ब्रह्म में अभेद का ज्ञान रखता है उसे प्राणियों के मरने पर कैसा मोह ? कैसा शोक ? ॥ १५ ॥

मन—भगवति, अत्यन्त शोक से भरे मन में विवेक को स्थान ही नहीं मिलता है ।

सरस्वती—वत्स, यह स्नेह का दोष है । यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि स्नेह सभी अनर्थों का मूल है । क्योंकि—

मनुष्य विषवल्ली की तरह प्रिय (अर्थात् पुत्र कलत्रादि) नामक क्लेशों के भयङ्कर बीज बोते हैं (अर्थात् पुत्रादिप्रियजन नाम से ही प्रिय हैं, स्वरूप से नहीं, वस्तुतः वे क्लेश हैं) । उन (बोये हुए बीजों) से शीघ्र (तत्काल) ही स्नेहमय (अर्थात् ममत्वरूप) वैद्युत अग्निज्वालातुल्य सन्तापप्रद अङ्कुर

येभ्योऽमी शतशः कुकूलहुतभुग्दाहं दहन्तः शनै-
र्देहं दीप्तशिखासहस्रशिखरा रोहन्ति शोकद्रुमाः ॥ १६ ॥

मनः—देवि, यद्यप्येवं तथापि न शक्नोमि शोकानलदग्धः प्राणान्धारयितुम्। संम्पन्नं यदन्तकाले त्वं तावद् दृष्टासि।

सरस्वती—इदं च परमकृत्यं यदात्महत्याव्यवसाय इति। अपि च, अमीषामपकारिणामर्थे कोऽयमत्यावेशो भवतः। पश्य यावत् –

इति न्यायादिति भावः। येभ्यः = प्ररोहेभ्यः, अमी = त्वयि दृश्यमानाः, शनैः, कुकूलहुतभुग्दाहम् = तुषाग्निवत्, ('कुकूलं शङ्कुभिः पूर्णेश्वभ्रे ना तु तुषानले' इति कुमुदाकरः) 'उपमाने कर्मणि च' इति णमुल्। देहम् = शरीरम्, दहन्तः= सन्तापयन्तः, दीप्तशिखासहस्रशिखराः—दीप्तानि = प्रज्वलितानि, शिखानां सहस्रशिखराणि येषां ते, प्रज्वलितापरिमितशिखाग्रा इत्यर्थः, शोकद्रुमाः = शोकरूपवृक्षाः, रोहन्ति = प्रादुर्भवन्ति शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

मन इति। यद्यप्येवम् = यद्यपि त्वयोक्तं सत्यं सयुक्तिकं च। शोकानलदग्धः = शोकाग्निसन्तप्तः। सम्पन्नम् = कृतकृत्यम्। अन्तकाले = मरणसमये। इदं मम कृतकृत्यत्वं यन्मरणकाले तव दर्शनं जातमिति भावः।

सरस्वतीति। परम् = महत्। अकृत्यम् = पापम्। आत्महत्याव्यवसायः = आत्महत्याचेष्टा। अमीषाम् = कामादीनाम्। अपकारिणामर्थे = अपकारिणां कृते। अत्यावेशः = अत्यावेगः।

उत्पन्न होते हैं, जिनसे धीरे-धीरे भूसी की आग की तरह शरीर को जलाने वाले अपरिमित प्रज्वलितलपटों से युक्त शोकवृक्ष पैदा होते हैं ॥ १६ ॥

मन—देवि, यद्यपि बात ऐसी ही है तथापि शोकानल से दग्ध मैं प्राणधारण नहीं कर सकता। मैं कृतकृत्य हूँ जो अन्त समय में तुम्हारा दर्शन हो गया।

सरस्वती—यह जो आत्महत्या का प्रयत्न है, बड़ा भारी पाप है। और इन अपकारियों के विषय में तुम्हें यह कैसा आवेश हो रहा है? देखो तो—

क्वचिदुपकृतिः कर्तामीभिः कृता क्रियतेऽथवा
तव न च भवन्त्येते पुंसां सुखाय परिग्रहाः।
दधति विरहे मर्मच्छेदं तदर्थमपार्थकं
तदपि विपुलायासाः सीदन्त्यहो बत जन्तवः ॥ १७ ॥

क्वचिदुपकृतिरिति। अमीभिः = पुत्रकलत्रादिभिः, क्वचित् = कुत्रापि, पुंसाम् = जनानाम्, उपकृतिः = उपकारः, कर्ता = करिष्यते (कर्मणि लुट्) कृता अथवा क्रियते ? इमे न कदापि पुमांसमुपकरिष्यन्ति, नोपकृतवन्तः, नोपकुर्वन्तीति भावः। (अतः) एते परिग्रहाः = पुत्रकलत्रादयः, तव = मनसश्च, सुखाय न भवन्ति। अमीभिः सुखं त्वं न कामयेथा इति भावः। (अमी पुत्रकलत्रादयः) विरहे = वियोगे, मर्मच्छेदम् = हृदयस्यातिव्यथाम्, दधति = कुर्वन्तीत्यर्थः, तदपि = एवं सत्यपि, तदर्थम् = परिग्रहाणां कृते, अपार्थकम् = निष्प्रयोजनम्, विपुलायासाः = बहुलश्रमाः, सीदन्ति = क्लिश्यन्ति। अहो = आश्चर्यम्, बत इति खेदे। एते पुत्रकलत्रादयः पुंसां कमप्युपकारं कदापि न करिष्यन्ति, न कृतवन्तः, न कुर्वन्ति च। अत एते तवापि सुखाय न भविष्यन्ति। न ह्येतावदेव, अपि तु विरहे मर्मान्तिकपीडामेवैते समुत्पादयन्ति तथाप्येतेषां कृते जना व्यर्थमेवायासं कुर्वन्तः क्लिश्यन्तीत्याश्चर्यजनकं खेदकरं चेति भावः। हरिणी वृत्तम् ॥ १७ ॥

ये (पुत्रकलत्रादि) कभी लोगों का उपकार करेंगे ? या इन्होंने कभी लोगों का उपकार किया है ? या ये लोगों का उपकार कर रहे हैं ? (अतः) ये पुत्रकलत्रादि तुम्हारे सुख के लिए नहीं हैं (इनसे सुख की कामना मत करो) अलबत्ता (इसके विपरीत) वियोग में ये हृदय को अत्यन्त व्यथा ही पहुँचाते हैं। आश्चर्य और साथ ही साथ खेद का विषय है कि तिस पर भी उनके लिए व्यर्थ लोग अत्यन्त परिश्रम उठा कर क्लेश भोगते हैं ॥ १७ ॥

अपि च—

तीर्णाः पूर्णाः कति न सरितो लङ्घिताः के न शैला
नाक्रान्ता वा कति वनभुवः क्रूरसंचारघोराः।
पापैरेतैः किमिव दुरितं कारितो नास्मि कष्टं
यद् दृष्टास्ते घनमदमषीम्लानवक्त्रा दुरीशाः ॥ १८ ॥

मनः—देवि, एवमेतत्। तथापि—

तीर्णा इति। पूर्णाः = जलपूर्णा इत्यर्थः, कति = कियत्संख्याकाः, सरितः= नद्यः, न तीर्णाः = नोल्लङ्घिताः, बह्व्यो नद्यस्तीर्णा इत्यर्थः। के, शैलाः=पर्वताः, न लङ्घिताः सर्वेऽपि लङ्घिता इत्यर्थः। क्रूरसंचारघोराः—क्रूराणाम् = व्याघ्रादि-श्वापदानां संचारेण घोराः=भयङ्कराः, कति वनभुवः=वनस्थल्यः, न वाऽऽक्रान्ताः= न लङ्घिताः, सर्वा एव वनभूमयो लङ्घिता इत्यर्थः। पापैः = दुष्टैः, एतैः=परिग्रहैः, किमिव दुरितम् = पापम्, न कारितः अस्मि = सर्वं दुरितं कारितोऽस्मीत्यर्थः। यत् = यस्मात्, घनमदमषीम्लानवक्त्राः—घनमदः = ऐश्वर्याभिमानः, स एव मषी = श्यामिका, तया म्लानम् = मलिनम्, वक्त्रम् = मुखं येषां तादृशाः, ते दुरीशाः = दुष्टप्रभवः, कष्टं यथा स्यात्तथा, दृष्टाः। अत्र दुष्टप्रभूणां घनमदमषी-म्लानाननदर्शनं जलसम्भृतनदीतरणमिव, पर्वतलङ्घनमिव, हिंस्रजन्तुपूर्णारण्य-लङ्घनमिवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावे पर्यवस्यति। अतो निदर्शनाऽलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित्। यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १८ ॥

मन इति। एवमेतत् = त्वया यदुक्तं तत्सत्यमेवेत्यर्थः। तथापि=एवं सत्यपि।

और—

(इन प्रियजनों के लिए) दुष्ट धनिकों का, धनमद की कालिमा से मलिन मुख जो कष्टपूर्वक देखना पड़ा (समझिए) इन पुत्रकलत्रादिकों ने कौन-सा पाप नहीं कराया ? जल से पूर्ण कितनी नदियाँ नहीं पार करनी पड़ीं ? कौन पर्वत नहीं लाँघने पड़े ? हिंसक जन्तुओं के सञ्चार से भयावह कितनी वनभूमियों को नहीं लाघना पड़ा ? ॥ १८ ॥

मन—देवि, आप का कहना ठीक है। तथापि—

लालितानां स्वजातानां हृदि संचरतां चिरम् ।
प्राणानामिव विच्छेदो मर्मच्छेदादरुन्तुदः ॥ १९ ॥

सरस्वती—वत्स, ममतावासनानिबन्धनोऽयं व्यामोहः ।

उक्तं च—

मार्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कुटे ।
न तादृङ्ममताशून्ये कलविङ्केऽथ मूषके ॥ २० ॥

लालितानामिति । स्वजातानाम् = अपत्यानाम्, पक्षे स्वस्मिन्शरीरे ह्याविर्भूतानाम्, हृदि = हृदयदेशे चिरं संचरताम् = अवस्थितानामित्यर्थः, पक्षे वसतामित्यर्थः, लालितानाम् = स्नेहभाजनानाम्, (एषां कामादीनाम्) विच्छेदः = वियोगः, प्राणानां विच्छेद इव, मर्मच्छेदात् = मर्मणाम् = शरीरस्य सजीवप्राण-मूलकभागानाम्, छेदात्=खण्डनात् (अपि) अरुन्तुदः=मर्मपीडकः, अतिपीडाकर इत्यर्थः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १९ ॥

सरस्वतीति । ममतावासनानिबन्धनः—ममता = मदीयत्वाभिमानः, तस्या वासना, सैव निबन्धनं=कारणं यस्य सः, ममतासम्बन्धजन्य इत्यर्थः, व्यामोहः = व्याकुलता ।

मार्जारभक्षित इति । गृहकुक्कुटे = स्वगृहपालितकुक्कुटे, मार्जारभक्षिते—मार्जारेण = बिडालेन भक्षिते = खादिते, यादृशम्, दुःखम्, (भवति) अथ ममताशून्ये कलविङ्के = चटके, मूषके वा मार्जारभक्षिते तादृक् दुःखम् न (भवति) । अतो ममतैव दुःखकारणमिति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २० ॥

पैदा किये गये, दुलारे गये और चिरकालतक हृदय में स्थान पाये हुए पुत्रों का वियोग प्राणों के वियोग के समान मर्मच्छेद से भी अधिक पीड़ा पहुँचाता है ॥ १९ ॥

सरस्वती—वत्स, इस व्यामोह का कारण ममता की वासना ही है ।

कहा गया है—

बिडाल द्वारा घर का (अर्थात् पालतू) मुर्गा जब खा लिया जाता है, उस समय जैसा दुःख होता है, वैसा दुःख बिडालभक्षित चटक या मूषक के विषय में नहीं होता क्योंकि उसके प्रति ममता जो नहीं रहती है ॥ २० ॥

तत्सर्वानर्थबीजस्य ममत्वस्योच्छेदे यत्नः कर्त्तव्यः । पश्य—

प्रादुर्भवन्ति वपुषः कति वा न कीटा
यान्यत्नतः खलु तनोरपसारयन्ति ।
मोहः स एष जगतो यदपत्यसंज्ञां
तेषां विधाय परिशोषयति स्वदेहम् ॥ २१ ॥

मनः—देवि, भवत्वेवम् । तथापि दुरुच्छेद्यस्तु ममत्वग्रन्थिः । (विचिन्त्य । सोच्छ्वासम्) सर्वथा त्रातोऽस्मि भवत्या । (इति पादयोः पतति)

सर्वानर्थबीजस्य = सर्वेषामनर्थानां बीजस्य=कारणस्य । उच्छेदे = विनाशे ।

प्रादुर्भवन्तीति । वपुषः = शरीरात्, कति वा = कियत्संख्याकाः, कीटाः = यूकलिक्षादय इति भावः । न प्रादुर्भवन्ति = नोत्पद्यन्ते, उत्पद्यन्त एवेत्यर्थः । यान् = कीटान्, तनोः = शरीरात्, खलु = निश्चयेन, यत्नतः = प्रयत्नेन, तनोः = शरीरात्, (लोकाः) अपसारयन्ति = निष्कासयन्ति । स एषः, जगतः=संसारस्य, मोहः = अज्ञानम्, यत् तेषाम् = तनुजानाम्, अपत्यसंज्ञाम्, विधाय = कृत्वा, स्वदेहम् = स्वशरीरम्, परिशोषयति = परिपीडयतीत्यर्थः । मोहस्यैव विलसितमेतद्यत् स्वदेहोत्पन्नेऽपि यूकादौ ममत्वाभावात्तन्निःसारणे ग्लानिमकुर्वन्तो जनाः पुत्रादीनां विषये ममत्वाभिमानादात्मानं परिपीडयन्तीति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २१ ॥

मन इति । ममत्वग्रन्थिः = ममताबन्धनम् । दुरुच्छेद्यः = दुरपास्यः । सर्वथा = सर्वप्रकारेण, भवत्या = सरस्वत्या । त्रातः = रक्षितः ।

इसलिए ममता के उच्छेद का यत्न करना चाहिए, जो सभी अनर्थों का कारण है । देखो—

शरीर से कितने (यूकलिक्षादि) कीट नहीं उत्पन्न होते जिन्हें लोग यत्न करके शरीर से दूर कर देते हैं । संसार का यह वह मोह है कि उन (शरीर से उत्पन्न हुए) को अपत्य संज्ञा देकर (उनके लिए) अपने शरीर को सुखाया करता है ॥ २१ ॥

मन—देवि, ऐसा ठीक हो, तथापि ममता की गाँठ छूटने वाली नहीं । (सोच कर । उच्छ्वास लेकर) आप ने मुझे सर्वथा बचा लिया । (चरणों पर गिरता है)

सरस्वती—वत्स, उपदेशसहिष्णु ते हृदयं जातम्। अत एतदपरमुच्यते—

वशं प्राप्ते मृत्योः पितरि तनये वा सुहृदि वा
शुचा संतप्यन्ते भृशमुदरताडं जडधियः।
असारे संसारे विरसपरिणामे तु विदुषां
वियोगो वैराग्यं द्रढयति वितन्वञ्शमसुखम् ॥ २२ ॥

(ततः प्रविशति वैराग्यम्)

वैराग्यम्—(विचिन्त्य)

सरस्वतीति। वत्स = वात्सल्यभाजन, उपदेशसहिष्णु = उपदेशग्रहणसमर्थम्।

वशं प्राप्त इति। पितरि = जनके, तनये = पुत्रे वा, सुहृदि = मित्रे वा, मृत्योः वशं प्राप्ते = मृते सतीत्यर्थः, जडधियः = मूर्खाः, उदरताडम् = उरः संताड्य ('परिक्लिश्यमाने च' इति णमुल्) शुचा = शोकेन, तद्वियोगजन्येनेति भावः। भृशम् = अत्यन्तम्, संतप्यन्ते = संतप्ता भवन्ति। तु = किन्तु, विदुषाम् = तत्त्वविदाम्, असारे = निःसारे, विरसपरिणामे = कटुफले, संसारे = जगति, शमसुखम् = शान्तिजन्यानन्दम्, वितन्वन् = उत्पादयन्नित्यर्थः, वियोगः = पुत्रादिभिर्विच्छेदः, वैराग्यम्, द्रढयति = दृढं करोति। शिखरिणी वृत्तम् ॥ २२ ॥

सरस्वती—वत्स, (अब) तुम्हारा हृदय उपदेश ग्रहण करने योग्य हो गया। अतः यह और कहती हूँ—

पिता वा पुत्र वा मित्र के मरने पर मूर्ख लोग छाती पीट कर शोक से अत्यन्त सन्तप्त हुआ करते हैं किन्तु तत्त्ववेत्ताओं को (इस) कटुफल वाले असार संसार में (इष्टजनों का) वियोग समसुख उत्पन्न करता हुआ वैराग्य का पोषक हुआ करता है ॥ २२ ॥

(तदनन्तर वैराग्य का प्रवेश)

वैराग्य—(सोचकर)

अस्राक्षीन्नवनीलनीरजदलोपान्तातिसूक्ष्मायत-
त्वङ्मात्रान्तरितामिषं यदि वपुर्नैतत्प्रजानां पतिः ।
प्रत्यग्रक्षरदस्रविस्रपिशितग्रासग्रहं गृध्नतो
गृध्रध्वाङ्क्षवृकांस्तनौ निपततः को वा कथं वारयेत् ॥२३॥

अपि च—

श्रियो दोलालोला विषयजरसाः प्रान्तविरसा

अस्राक्षीदिति । यदि, प्रजानां पतिः = ब्रह्मा, एतद् वपुः = शरीरम्, नवनीलनीरजदलोपान्तातिसूक्ष्मायतत्वङ्मात्रान्तरितामिषम्—नवस्य = नूतनस्य नीलनीरजस्य = इन्दीवरस्य दलम् = पत्रम्, तस्य उपान्तः = अग्रभागः, स इव सूक्ष्मा आयता = दीर्घा च या त्वक् = चर्म, तन्मात्रेण अन्तरितम् = आच्छादितम्, आमिषम् = मांसं यस्य तत्, न अस्राक्षीत् = न निर्मितवान् (तदा) प्रत्यग्रक्षरदस्रविस्रपिशितग्रासग्रहम्—प्रत्यग्रम् = नवम्, क्षरत् = स्रवत्, अस्रम् = रक्तम्, तेन विस्रम् = दुर्गन्धपूर्णं यत् पिशितम् = मांसम्, तस्य ग्रासः = कवलम्, तस्य ग्रहः= ग्रहणम्, तं गृध्नतः = लोभात् काङ्क्षतः, तनौ = शरीरे, निपततः = आपतन्तः, गृध्रध्वाङ्क्षवृकान्—गृध्रान्, ध्वाङ्क्षान् = काकान्, वृकांश्च कः कथं वा वारयेत् = कोऽपि न कथमपि वारयितुं समर्थ इत्यर्थः । चर्मावृततयैव शरीरे मांसलुब्धा गृध्रादयो न निपतन्ति, नो चेत् ते वारयितुमशक्या इति भावः । एतेनास्थिमांस-मज्जाऽसृक्संघाते त्वचावृतेऽस्मिन् देहे वृथा राग इति ध्वनितम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २३ ॥

श्रिय इति । श्रियः = सम्पत्तयः, दोलालोलाः—दोला = आन्दोलः, तद्वत् लोलाः = चपलाः, विषयजरसाः = विषयेभ्यो जातानि सुखानि, प्रान्तविरसाः—

ब्रह्मा, नूतन नील कमल पत्र के अग्रभाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म आयत त्वचा से मांस को आवृत कर शरीर की रचना यदि न करते तो ताजा बहते हुए रक्त से दुर्गन्ध पूर्ण मांस खाने के लिए ललचाये हुए गिद्धों, कौओं और वृकों को शरीर पर झपटने से कौन और कैसे रोक पाता ? ॥ २३ ॥

और—

सम्पत्तियाँ दोला की तरह चञ्चल हैं, विषय-सुख अन्त में दुःखद हैं,

विपदगेहं देहं महदपि धनं भूरि निधनम्।
बृहच्छोको लोकः सततमबलानर्थबहुला
तथाप्यस्मिन्घोरे पथि बत रता नात्मनि रताः ॥ २४ ॥

सरस्वती—वत्स, एतद्वैराग्यं त्वामुपस्थितम्। तदेतत्संभावय।

मनः—क्वासि पुत्रक?

वैराग्यम्—(उपसृत्य) अहं भो अभिवादये।

मनः—वत्स जातमात्रेण त्वया त्यक्तोऽस्मि। परिष्वजस्व माम्।

अन्ते = अवसाने, विरसाः = दुःखदाः। देहम् = शरीरम्, विपद्गेहम् = विपत्तिस्थानम्। महदपि धनम्, भूरि = अधिकम्, निधनम् = मरणकारणमित्यर्थः। लोकः = संसारः, बृहच्छोकः = सातिशयशोकपूर्णः, अबला = स्त्री, सततम् = अनवरतम्, अनर्थबहुला = सर्वानर्थकारणमित्यर्थः। तथापि = एवं सत्यपि, बतेति खेदे, अस्मिन् घोरे = भयङ्करे, पथि=सांसारिकमार्गे, (जनाः) रताः = संसक्ताः (परन्तु) आत्मनि = परमे ब्रह्मणि, न रताः = न संलग्ना भवन्ति। शिखरिणी वृत्तम् ॥ २४ ॥

सरस्वतीति। त्वामुपस्थितम् = तव समीपे समागतम्। सम्भावय=मानय।

मन इति। जातमात्रेण त्वया त्यक्तोऽस्मि—उत्पन्न एव त्वं मां परित्यक्तवान्। परिष्वजस्व = आलिङ्ग।

शरीर विपत्ति का घर है, अधिक भी धन अधिक मौत है, संसार अत्यन्त शोकपूर्ण है, स्त्री सतत अनर्थ का कारण है। खेद का विषय है कि ऐसा होते हुए भी इसी घोर मार्ग में (लोग) रत हैं, परम ब्रह्म में नहीं रत होते हैं ॥ २४ ॥

सरस्वती—वत्स, यह वैराग्य तुम्हारे समीप उपस्थित है, इस लिए इसका सम्मान करो।

सरस्वती—वत्स, यह वैराग्य तुम्हारे समीप उपस्थित है, इसलिए इसका सम्मान करो।

मन—कहाँ हो प्रिय पुत्र!?

वैराग्य—(समीप जाकर) यह मैं अभिवादन करता हूँ।

मन—वत्स, जन्म लेते ही तुमने मुझे छोड़ दिया, मेरे गले लग जाओ।

वैराग्यम्—(तथा करोति)

मनः—वत्स, त्वद्दर्शनात्प्रशान्तो मे शोकावेशः ।

वैराग्यम्—तात, कोऽत्र शोकावेशः । यतः—

पान्थानामिव वर्त्मनि क्षितिरुहां नद्यामिव भ्रश्यतां
मेघानामिव पुष्करे जलनिधौ सांयात्रिकाणामिव ।
संयोगः पितृमातृबन्धुतनयभ्रातृप्रियाणां यदा
सिद्धो दूरवियोग एव विदुषां शोकोदयः कस्तदा ॥ २५ ॥

पान्थानामिति । वर्त्मनि = मार्गे, पान्थानामिव = पथिकानामिव, नद्यां भ्रश्यताम् = पतताम्, क्षितिरुहामिव = वृक्षाणामिव, पुष्करे=आकाशे, मेघानामिव जलनिधौ = सागरे, सांयात्रिकाणामिव = पोतवणिजामिव, पितृमातृबन्धुतनय-भ्रातृप्रियाणाम्—पिता च माता च बन्धुश्च तनयश्च भ्राता च प्रियाश्च तेषां सर्वेषामात्मीयजनानां संयोगः = मिलनम्, यदा विदुषाम्=तत्त्वविदाम्, दूरवियोगः= अत्यन्तवियोग एव सिद्धः, तदा कः = कीदृशः, शोकोदयः = नास्ति शोकोदय इत्यर्थः । 'व्योम पुष्करमम्बरम्' इत्यमरः । मार्गे पथिका मिलन्ति तदनन्तरं वियुज्यन्ते, नद्यां पतिता वृक्षाः पयः पूरेणोह्यमानाः परस्परं मिलन्ति स्वल्पेनैव कालेन पुनर्वियुज्यन्ते, व्योम्नि मेघा मिलन्ति ततः वियुज्यन्ते, तथैव संसारेऽस्मिन् पितृमातृबन्धुतनयादिप्रियजनानां संयोगो वियोग एव पर्यवस्यति, तस्मादुपस्थिते वियोगे तत्त्वविदो न शोकं कुर्वन्तीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५ ॥

वैराग्य—(वैसा करता है)

मन—वत्स, तुम्हें देखने से मेरा शोकावेश प्रशान्त हो गया ।

वैराग्य—तात, इसमें शोकावेश कैसा ? क्योंकि—

मार्ग में पथिकों के समान, नदी में गिरने वाले वृक्षों के समान, आकाश में मेघों के समान, समुद्र में पोतवणिजों के समान जब (संसार में) पिता, माता, बन्धु, पुत्र, भाई और प्रियजनों का संयोग होता है, तब उनका अत्यन्तवियोग सिद्ध ही है, विद्वानों को इसमें शोक उत्पन्न होने को कौन सी बात है ? ॥ २५ ॥

मनः—(सानन्दम्) देवि, एवमेतत् यदाह वत्सः । तथाहि तावदवधारयतु भवती ।

निरन्तराभ्यासदृढीकृतस्य
सस्नेहसूत्रग्रथितस्य जन्तोः ।
जानासि किंचिद्भगवत्युपायं
ममत्वपाशस्य यतो विमोक्षः ॥ २६ ॥

सरस्वती—वत्स, भावानामनित्यताभावनमेव तावन्ममतोच्छेदस्य प्रथमोऽभ्युपायः । तथाहि –

मन इति । वत्सः = वैराग्यम् । अवधारयतु = निश्चिनोतु । भवती = सरस्वती ।

निरन्तरेति । निरन्तराभ्यासदृढीकृतस्य–निरन्तरम्=अनवरतम्, अभ्यासेन= परिशीलनेन दृढीकृतस्य, सस्नेहसूत्रग्रथितस्य स्नेहेन सह वर्त्तन्त इति सस्नेहाः = अन्तःकरणवृत्तयः, तद्रूपसूत्रैः ग्रथितस्य = गुम्फितस्य, जन्तोः = प्राणिनः, ममत्वपाशस्य = ममताबन्धनस्य, यतः = येनोपायेन, विमोक्षः=त्यागः, अयि भगवति, तादृशं कञ्चिदुपायं जानासि । अयि भगवति, जन्तोरयं ममत्वबन्धोऽनवरतपरिशीलनेन दृढीकृतः, स्नेहसूत्रगुम्फितश्चास्ति । किं जानासि कमप्युपायं येनास्योच्छेदो भवेदिति भावः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ २६ ॥

सरस्वतीति । भावानाम् = पदार्थानाम् । अनित्यताभावनम् = क्षणभङ्गुरत्वचिन्तनम् । ममतोच्छेदस्य = ममत्वविनाशस्य । प्रथमः = मुख्यः । अभ्युपायः= साधनम् ।

मन—(आनन्द से) देवि, बात ऐसी ही है, जो वत्स कह रहा है । तो आप सावधान होकर ऐसा मन में धारण करें (भूलें नहीं) ।

प्राणियों का ममत्वपाश निरन्तर अभ्यास से दृढ हो चुका है, स्नेहपूर्ण अन्तःकरणवृत्तिरूप सूत्रों से गुम्फित हुआ है, भगवति ! क्या आप कुछ उपाय जानती हैं जिसके द्वारा उससे छुटकारा मिल सके ? ॥ २६ ॥

सरस्वती—पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन ही ममता के उच्छेद का मुख्य उपाय है । जैसे कि—

न कति पितरो दाराः पुत्राः पितृव्यपितामहा
महति वितते संसारेऽस्मिन् गतास्तव कोटयः ।
तदिह सुहृदां विद्युत्पातोज्ज्वलान् क्षणसंगमान्
सपदि हृदये भूयो भूयो निवेश्य सुखी भव ॥ २७ ॥

मनः—भगवति, तव प्रसादादपास्त एव व्यामोहः । किन्तु—

भगवति तव मुखशशधरगलितैर्विमलोपदेशपीयूषैः ।
क्षालितमपि मे हृदयं मलिनं शोकोर्मिभिः क्रियते ॥ २८ ॥

न कतीति । अस्मिन् महति वितते = विस्तीर्णे, संसारे कोटयः कति तव पितरः = जनकाः, दाराः=पत्न्यः, पुत्राः, पितृव्यपितामहा पितृव्याः=पितुर्भ्रातरः, पितामहाः = पितुर्जनकाश्च न गताः = गता एवेत्यर्थः । तत् = तस्मात्, इह = संसारे, विद्युत्पातोज्ज्वलान् = विद्युदुदयसदृशान्, सुहृदाम् = शोभनं हृत् = हृदयं येषां तेषाम्, पुत्रमित्रकलत्रादीनामित्यर्थः, क्षणसंगमान् = क्षणिकमिलनानि, भूयो भूयः = पुनः पुनः, हृदये निवेश्य = अवधार्य, सपदि = तत् क्षणमेव, सुखी भव । हरिणी वृत्तम् ॥ २७ ॥

मन इति । प्रसादात् = अनुग्रहात् । अपास्तः = दूरं गतः । व्यामोहः = शोकावेग इत्यर्थः ।

भगवतीति । तव मुखशशधरगलितैः—मुखमेव शशधरः = चन्द्रः, तस्मात् गलितैः = निःसृतैः, विमलोपदेशपीयूषैः—विमलाः = निर्मलाः, उपदेशा एव पीयूषाणि = अमृतानि तैः, क्षालितमपि = धौतमपि, मे = मम; हृदयम्, शोकोर्मिभिः = पुत्रादिवियोगजन्यशोकलहरीभिः, मलिनं क्रियते = आव्रियते रूपकमलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ २८ ॥

इस महान् विस्तृत संसार में कितने करोड़ तुम्हारे पिता, स्त्री, पुत्र, चाचा, पितामह न गुजरे होंगे (अर्थात् अवश्य गुजरे हैं) । इसलिए संसार में सुहृदों (अर्थात् पुत्रमित्रकलत्रादि प्रियजनों) का मिलन बिजली की चमक के समान क्षणिक है—इसे बार-बार हृदय में बैठा कर तत् क्षण ही सुखी हो जाओ ॥ २७ ॥

मन—भगवति, आप के अनुग्रह से व्यामोह तो दूर हो गया, किन्तु—

भगवति, आप के मुखचन्द्र से निःसृत निर्मल उपदेशामृत से धुल जाने पर भी मेरा हृदय (पुत्रादिवियोगजन्य) शोक की लहरों से मलिन कर दिया जाता है ।२८।

तदस्यार्द्रस्य शोकप्रहारस्य भेषजमाज्ञापयतु भगवती ।

सरस्वती—वत्स, नूनमुपदिष्टमेवात्र मुनिभिः ।

अकाण्डपातजातानामार्द्राणां मर्मभेदिनाम् ।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम् ॥ २९ ॥

मनः—एवमेव भगवत्येतद दुर्वारं नु चेतः । यतः—

अप्येतद्वारितं चिन्तासन्तानैरभिभूयते ।
मुहुर्वाताहतैर्बिम्बमभ्रच्छेदैरिवैन्दवम् ॥ ३० ॥

तदस्येति । आर्द्रस्य=प्रत्यग्रस्य । भेषजम्=ओषधम् । आज्ञापयतु=आदिशतु ।

अकाण्डेति । अकाण्डपातजातानाम्—न काण्डपातेन = शरप्रहारेण, शरप्रहारं विनैव जातानाम् = उत्पन्नानाम्, अथवा अकाण्डे = अनवसरे पातः = प्राप्तिर्येषां तेषां जातानाम्, अनवसरोत्पन्नानाम्, मर्मभेदिनाम् = व्यथाकारिणाम्, आर्द्राणाम् = अभिनवानाम्, गाढशोकप्रहाराणाम् = सातिशयशोकावेगानाम्, अचिन्तैव = अननुध्यानमेव,महौषधम् = महान् प्रतीकारः (अस्ति) । हृदयं विध्यतः परिग्रहवियोगजन्यशोकस्याचिन्तयैव त्वं निर्वृतिमाप्स्यसि नान्यथेति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २९ ॥

अप्येतदिति । एतत् = मनः, वारितम् = चिन्तापथान्निरुद्धमपि, चिन्तासन्तानैः = चिन्तापरम्पराभिः, अभिभूयते । ऐन्दवम्—इन्दोरिदमैन्दवम् = चन्द्रसम्बन्धि, (इन्दुशब्दात् 'तस्येदम्' इत्यण्) बिम्बम्, मुहुः=पुनः पुनः, वाताहतैः= वायुचालितैः, अभ्रच्छेदैरिव=मेघखण्डैरिव । यथा मुहुर्मुहुर्वायुचालितैर्मेघखण्डैश्चन्द्रबिम्बमभिभूयते तथैव निरुद्धमपि मनश्चिन्तापरम्परयाऽभिभूयत इति भावः । उपमाऽलङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३० ॥

इसलिए इस ताजे शोक प्रहार की ओषधि आप बताएँ ।

सरस्वती—वत्स, मुनियों ने इस विषय में उपदेश दिया ही है—

शरप्रहार के विना ही अनवसर में उत्पन्न मर्मभेदी नूतन गाढ शोक प्रहारों का अनुचिन्तन न करना ही महौषध है ॥ २९ ॥

मन—भगवति, यह तो ठीक है, किन्तु यह चित्त दुर्निवार्य है । क्योंकि—

(चिन्तापथ से) रोकने पर भी यह चिन्ताओं से अभिभूत हो जाता है, जैसे चन्द्रबिम्ब बार-बार वायुप्रेरित मेघखण्डों से आच्छादित हो जाता है ॥३०॥

सरस्वती—वत्स, श्रूयताम्। चित्तस्यायं विकारः। ततः कस्मिंश्चिच्छान्ते विषये चित्तं निवेश्यताम्।

मनः—तत्प्रसीदतु भगवती। कोऽसौ शान्तो विषयः।

सरस्वती—वत्स, गुह्यमेतत् तथाप्यार्तानामुपदेशे न दोषः।

नित्यं स्मरञ्जलदनीलमुदारहार-
केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
ग्रीष्मे सुशीतमिव वा ह्रदमस्तशोकं
ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥ ३१ ॥

सरस्वतीति। वत्स=वात्सल्यभाजन! शान्ते विषये=शोकमोहादिरहिते विषये।

मन इति। तत् = तस्मात्। प्रसीदतु = अनुग्रहं करोतु।

सरस्वतीति। गुह्यम् = गोपनीयम्। आर्तानाम् = दुःखिनाम्, मोहशोकपीडितानामित्यर्थः।

नित्यमिति। नित्यम्=सदा, जलदनीलम् = मेघश्यामलम्, उदारहारकेयूरकुण्डलकिरीटधरम्—उदारः = सुन्दरं यो हारः, केयूरम् =बाहुभूषणम्, कुण्डले=कर्णभूषणे, किरीटम = मुकुटम्, एतेषां धरः तम्, हारकेयूरकुण्डलकिरीटधारिणमित्यर्थः, हरिम्=विष्णुं वा, स्मरन् = ध्यायन्, अस्तशोकम्=अस्तः शोको यस्मिन् तत्, सर्वथा शान्तमित्यर्थः, ब्रह्म वा, ग्रीष्मे सुशीतम्=सुशीतलम्, ह्रदम् = जलाशयमिव, प्रविश्य आत्मनीनाम्—आत्मने हिता आत्मनीना ताम्, निर्वृतिम्=परमसुखम्, भज = प्राप्नुहि। साकारोपासनया चित्तशुद्धिं कृत्वा पश्चान्निराकारे मनः सुखं प्रवेश्य स्वरूपावाप्तिलक्षणां शान्तिं स्वीकुरु, यथा कश्चित् सूर्यांशुतप्तः सुशीतं

सरस्वती—वत्स, सुनो। यह चित्त का विकार है। अतः किसी शान्त विषय में चित्त को लगाओ।

मन—तो आप अनुग्रह करें (अर्थात् बताएँ) वह कौन सा शान्त विषय है।

सरस्वती—वत्स, (यद्यपि) यह गोपनीय है तथापि आर्तों को बताने में दोष नहीं है।

सदा घनश्याम हारकेयूर कुण्डलकिरीटधारी हरि का स्मरण करते हुए अथवा ग्रीष्म में सुशीतल जलाशय के समान बीतशोक (शान्त) ब्रह्म में प्रवेश

मनः—एवमेतत् । संप्रति हि—

नार्यस्ता नवयौवना मधुकरव्याहारिणस्ते द्रुमाः
प्रोन्मीलन्नवमल्लिकासुरभयो मन्दास्त एवानिलाः ।
अद्योदात्तविवेकमार्जिततमःस्तोमव्यलीकान्पुन-
स्तानेतान्मृगतृष्णिकार्णवपयःप्रायान्मनः पश्यति ॥ ३२ ॥

ह्रदं प्रविश्य सुखमनुभवतेति भावः । उपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

नार्यस्ता इति । ताः = पूर्वपरिचिता एव, नवयौवनाः = तरुण्यः, नार्यः = स्त्रियः (सन्ति), ते = पूर्वपरिचिता एव, मधुकरव्याहारिणः = भृङ्गमुखरिताः, द्रुमाः = वृक्षाः, (सन्ति), त एव = पूर्वानुभूता एव, प्रोन्मीलन्नवमल्लिकासुरभयः-प्रोन्मीलन्त्यः = प्रकर्षेण विकसन्त्यो या नवमल्लिकाः, ताभिः सुरभयः = सुगन्धयुक्ताः, मन्दाः = मन्दसंचारिणः, अनिलाः = वायवः (सन्ति) । पुनः = परन्तु, अद्य = इदानीम्, उदात्तविवेकमार्जिततमःस्तोमम्-उदात्तेन = निर्मलेन; विवेकेन = वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन, मार्जितः = प्रक्षालितः, तमःस्तोमः = अन्धकारसमूहः, अज्ञानसंघात इत्यर्थः, यस्य तादृशं मनः, तान्=पूर्वानुभूतान्, व्यलीकान् = मिथ्याभूतान्, एतान् = विषयान्, तरुणीमधुकरव्याहारद्रुमानिलादीन्, मृगतृष्णिकार्णवपयःप्रायान् = मृगतृष्णिकाजलवन्मिथ्याभूतान्, पश्यति । ये वनितादयः = पूर्वं मनोज्ञाः प्रतीयन्ते स्म, त एवेदानीं ज्ञानोदये वैराग्यं जनयन्ति मिथ्यात्वेनेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

कर आत्मशान्ति प्राप्त करो ॥ ३१ ॥

मन—यह ठीक है । इस समय—

वही नव यौवना नारियाँ हैं, वही भौंरों की गुञ्जार से गुञ्जित द्रुम हैं, वही विकसितनवमल्लिका की सुगन्ध से युक्त मन्द वायु है, परन्तु अब निर्मल विवेक से अज्ञानान्धकार के मिट जाने पर उन विषयों को मृगतृष्णाजलसदृश मिथ्या समझ रहा है ॥ ३२ ॥

सरस्वती—वत्स, यद्यप्येवं तथापि गृहिणा मुहूर्तमप्यनाश्रमधर्मिणा न भवितव्यम्। तदद्यप्रभृति निवृत्तिरेव ते सधर्मचारिणी।

मनः—(सलज्जम्) यदादिशति देवी।

सरस्वती—शमदमसंतोषादयश्च पुत्रास्त्वामनुचरन्तु। यमनियमादयश्चामात्याः। विवेकोऽपि त्वदनुग्रहादुपनिषद्देव्या सह यौवराज्यमनुभवतु। एताश्च मैत्र्यादयश्चतस्रो भगिन्यो भगवत्या विष्णुभक्त्या तव प्रसादनाय प्रहितास्ताः सप्रमादमनुमानय।

मनः—यदादिशति देवी। मूर्ध्नि निवेशिताः सर्वा एवाज्ञाः। (इति सहर्षं पादयोः पतति)

सरस्वतीति। यद्यप्येवम् = यद्यपि यत्त्वयोक्तं तत् सत्यमेव। गृहिणा = गृहस्थेन। मुहूर्तमपि = क्षणमपि। अनाश्रमधर्मिणा = अस्त्रीकेण। अद्यप्रभृति = अद्यारभ्य। सधर्मचारिणी = धर्मपत्नी।

अनुचरन्तु = सेवन्ताम्। अमात्याः = मन्त्रिणः। मैत्र्यादयः = मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा च। प्रहिताः = प्रेषिताः। ताः सप्रसादमनुमानय = तथाकर्त्तुं ताः प्रसन्नभावेनानुजानीहि।

मन इति। मूर्ध्नि = शिरसि। निवेशिताः = स्थापिताः।

सरस्वती—वत्स, यद्यपि तुम्हारा कहना ठीक है तथापि गृहस्थ को क्षण भर भी अनाश्रमधर्मी नहीं होना चाहिए (अर्थात् विवेक उत्पन्न होने पर भी गृहस्थ को आश्रमधर्म का पालन करना अनिवार्य है)। अतः आज से निवृत्ति ही तुम्हारी धर्मपत्नी रहेगी।

मन—(लज्जा पूर्वक) देवी की जो आज्ञा।

सरस्वती—शम, दम, सन्तोष आदि पुत्र तुम्हारे अनुचर हों। यम, नियम आदि अमात्य हों। विवेक भी तुम्हारे अनुग्रह से उपनिषद् देवी के साथ यौवराज्य का अनुभव करे। मैत्री आदि ये चारो बहिनें भगवती विष्णुभक्ति के द्वारा तुम्हें प्रसन्न करने के लिए भेजी गयी हैं। प्रसन्नभाव से उनको (वैसा करने की) अनुमति दो।

मन—जो देवी की आज्ञा। सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं। (सहर्ष चरणों पर गिरता है).

सरस्वती—साम्राज्यमनुतिष्ठस्व। एते च यमनियमादयः सादरमायुष्मता द्रष्टव्याः। एतैरेव सहायुष्मान यौवराज्यमधितिष्ठतु। त्वयि च स्वास्थ्यमापन्ने क्षेत्रज्ञोऽपि स्वां प्रकृतिमापत्स्यते। यतः—

त्वत्सङ्गाच्छाश्वतोऽपि प्रभवलयजरोपप्लुतो बुद्धिवृत्ति-
ष्वेको नानेव देवो रविरिव जलधेर्वीचिषु व्यस्तमूर्तिः।
तूष्णीमालम्बसे चेत्कथमपि वितता वत्स संहृत्य वृत्ती-

सरस्वतीति। साम्राज्यमनुतिष्ठस्व=साम्राज्यमुपभुङ्क्ष्व। आयुष्मता=भवता। यौवराज्यमधितिष्ठतु=यौवराज्यमुपभुङ्क्ष्व। स्वास्थ्यम् = विषयसम्बन्धराहित्यम्। क्षेत्रज्ञः = आत्मा। स्वां प्रकृतिम् = परमात्मभावम्। आपत्स्यते = प्राप्स्यते।

त्वत्सङ्गादिति। शाश्वतोऽपि = नित्यनिर्विकारोऽपि, देवः = आत्मा, त्वत्सङ्गात् = त्वदुपकल्पमविषययोगात्, प्रभवलयजरोपप्लुतः—प्रभवः = जन्म, लयः = मरणम्, जरा = वार्धक्यम्, ताभिः उपप्लुतः = सम्बद्ध इत्यर्थः, एकः (अपि), जलधेः = समुद्रस्य, वीचिषु = लहरीषु, रविरिव = सूर्य इव, बुद्धिवृत्तिषु = अन्तःकरणवृत्तिषु, नानेव = बहुधेव, व्यस्तमूर्तिः—व्यस्ता = भिन्ना, मूर्तिर्यस्य तादृशः, (भवति) यथा रविरेक एव सिन्धुतरङ्गेषु पृथक्-पृथक् अवभासमानो नानेव प्रतीयते तथैव विभिन्नास्वन्तःकरणवृत्तिषु एक एवात्मा नानात्वेनावभासत इति भावः।

वत्स = वात्सल्यभाजन! कथमपि = केनापि प्रकारेण, वितताः = विस्तृताः, विभिन्नविषयेषु वर्तमानाः, वृत्तीः = अन्तःकरणवृत्तीः, संहृत्य = प्रतिनिवर्त्य (त्वं) तूष्णीम् आलम्बसे = विषयसम्पर्कं परित्यज्य निवृत्तिं स्वीकरोषि, चेत् =

सरस्वती—साम्राज्य का उपभोग करो। यमनियम आदि को सादर देखा करना। इन्हीं के साथ तुम यौवराज्य का उपभोग करो। तुम्हारे स्वस्थ हो जाने पर आत्मा भी अपनी प्रकृति (अर्थात् परमात्मभाव) को प्राप्त कर लेगा। क्योंकि—

शाश्वत तथा एक होते हुए आत्मा तुम्हारे संसर्ग से जन्म मरण-जरा द्वारा आक्रान्त हो अन्तःकरण वृत्तियों में पृथक्-पृथक् भासित होता हुआ अनेक-सा प्रतीत होता है, जैसे सूर्य एक होकर भी समुद्र की तरङ्गों में प्रतितरङ्ग पृथक् सा भासित होता हुआ अनेक सा दिखायी देता है। वत्स, यदि तुम किसी प्रकार विभिन्न विषयों में वर्तमान अपनी वृत्तियों को समेट कर शान्त हो जाते हो तो

र्भात्यादर्शे प्रसन्ने रविरिव सहजानन्दसान्द्रस्तदात्मा ॥३३॥

तद्भवतु । ज्ञातीनामुदकदानाय नदीमवतरामः ।

मनः—यदाज्ञापयति देवी ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रबोधचन्द्रोदये वैराग्यप्रादुर्भावो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

यदि, तदा प्रसन्ने = निर्मले; आदर्शे रविरिव आत्मा सहजानन्दसान्द्रः—सहजेन = स्वाभाविकेन, आनन्देन सान्द्रः = घनः, भाति = प्रकाशते । यथा निर्मल आदर्शे रविर्भाति तथैव निर्मलान्तःकरण एवात्मा प्रतिभाति । मनसि विषयविनिवृत्ते सत्यात्माऽपि विषयसम्बन्धराहित्येन बन्धमुक्तः, स्वस्वरूपेण प्रकाशते, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इत्युक्तेरिति भावः । स्रग्धरा वृत्तम् । उपमाऽलङ्कारः ॥ ३३ ॥

ज्ञातीनाम् = कामादीनामित्यर्थः । उदकदानाय = जलाञ्जलिदानाय । अवतरामः = प्रविशामः ।

इति कल्याण्याख्यायां प्रबोधचन्द्रोदयव्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

आत्मा सहजानन्दरूप में प्रकाशित होने लगेगा, जैसे निर्मल दर्पण में सूर्य प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

अच्छा, (मृत) ज्ञातियों (सगोत्र बान्धवों) को तिलाञ्जलि देने के लिए हम नदी में उतरें ।

मन—देवी की जो आज्ञा ।

(सब का प्रस्थान)

इस प्रकार 'प्रबोधचन्द्रोदय' की 'कल्याणी' हिन्दी व्याख्या में पञ्चम अङ्क समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शान्तिः)

शान्तिः—आदिष्टास्मि महाराजविवेकेन । यथा वत्से, विदितमेव भवत्या किल ।

अस्तं गतेषु तनयेषु विलीनमोहे
वैराग्यभाजि मनसि प्रशमं प्रपन्ने ।
क्लेशेषु पञ्चसु गतेषु समं समीहां
तत्त्वावबोधमभितः पुरुषस्तनोति ॥ १ ॥

शान्तिरिति । आदिष्टास्मि = आज्ञप्तास्मि । भवत्या = शान्त्या ।

अस्त गतेष्विति । तनयेषु = पुत्रेषु, कामादिष्वित्यर्थः, अस्तं गतेषु = विनष्टेषु, विलीनमोहे—विशेषेण लीनः = नष्टः, = मोहो यस्य तादृशे, मोहरहित इत्यर्थः, वैराग्यभाजि—वैराग्यं भजते = आश्रयत इति वैराग्यभाक्, तस्मिन्, विरागयुत इत्यर्थः, मनसि = चित्ते, प्रशमम् = शान्तिम्, प्रपन्ने = प्राप्ते सति, पञ्चसु क्लेशेषु = अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशसञ्ज्ञकेषु पञ्चसु क्लेशेषु, समम् = युगपत्, गतेषु = अपसृतेषु, पुरुषः = क्षेत्रज्ञोऽयमात्मा, तत्त्वावबोधमभितः = तत्त्वावबोधं स्वरूपज्ञानं प्रतीत्यर्थः; समीहाम् = प्रबलेच्छाम्, तनोति = विस्तारयति, करोतीत्यर्थः ।

कामादयो नष्टाः, मोहश्च निवृत्तः, मनसि वैराग्योदयश्च संजातः, शान्तिश्चोत्पन्ना, तदयमेवावसर आत्मप्रबोधोदयस्येति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १ ॥

(तदनन्तर शान्ति का प्रवेश)

शान्ति—महाराज विवेक ने मुझे आदेश दिया है कि वत्से तुम जानती ही हो कि पुत्रों (अर्थात् कामादिक) के विनष्ट हो जाने तथा मोह के विलीन हो जाने पर मन वैराग्य से युक्त हो पूर्ण रूपेण प्रशान्त हो चुका है (अतः) पञ्च क्लेशों के एक साथ मिट जाने के कारण पुरुष तत्त्वावबोध की इच्छा कर रहा है ॥ १ ॥

तद्भवती त्वरिततरं देवीमनुनीय मत्सकाशमानयत्विति ।

शान्तिः – (विलोक्य) ममाम्बा सहर्षं किमपि मन्त्रयन्ती इत एवागच्छति । (ततः प्रविशति श्रद्धा)

श्रद्धा—अये, अद्य खलु राजकुलमारोग्ययुक्तमालोक्य चिरेण मे पीयूषेणेव लोचने पूर्णे ।

श्रसतां निग्रहो यत्र सन्तः पूज्या यमादयः ।
श्राराध्यते जगत्स्वामी वश्यैर्देवानुजीविभिः ॥ २ ॥

तद्भवतीति । तत् = तस्मात्, भवती = शान्तिः । त्वरिततरम् = अतिशीघ्रम् । देवीम् = उपनिषद्देवीमित्यर्थः, अनुनीय = सादरं मानयित्वा, मत्सकाशम् = विवेकपार्श्वम् ।

शान्तिरिति । अम्बा = माता श्रद्धा । मन्त्रयन्ती = अभिदधाना ।

श्रद्धेति—राजकुलम् = विवेककुलमित्यर्थः । आरोग्ययुक्तम् = स्वस्थम् । पीयूषेण =अमृतेन । मदीये नेत्रे राजकुलं दृष्ट्वाऽमृतसेकजन्यामिव प्रसन्नतामगमतामिति भावः ।

असतामिति । यत्र = यस्मिन् राजकुले, असताम् = दुष्टानाम्, मोहादीनामित्यर्थः, निग्रहः=दण्डः, यमादयः सन्तः पूज्याः संमान्याः, जगत्स्वामी=परमात्मा, वश्यैः = शमादिभिः करणैः, देवानुजीविभिः = देवस्य = परमात्मनः, अनुजीविभिः = जीवैः कर्तृभिरित्यर्थः, आराध्यते = पूज्यते । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २ ॥

इस लिए तुम बहुत शीघ्र देवी (उपनिषद्) को मनाकर मेरे पास ले आओ ।

शान्ति—(देख कर) मेरी माँ (श्रद्धा) सहर्ष कुछ कहती हुई इधर ही आ रही है ।

(तदनन्तर श्रद्धा का प्रवेश)

श्रद्धा—अरे, आज राजकुल को स्वस्थ देख कर बहुत दिनों के बाद मेरे नेत्र अमृत-सिक्त से हो रहे हैं ।

जहाँ (मोहादि) दुष्टों का निग्रह, यमादि सज्जनों का सम्मान और परमात्मा के अनुजीवी (जीव) लोग, (शमादि) सेवकों के द्वारा जगत्स्वामी की आराधना कर रहे हैं ॥ २ ॥

शान्तिः—(उपसृत्य) अम्ब, किं मन्त्रयन्ती प्रस्थिता।

श्रद्धा—(अये, अद्येत्यादि पठति)

शान्तिः—अथ मनसि कीदृशी स्वामिनः पुरुषस्य प्रवृत्तिः।

श्रद्धा—यादृशी वध्यस्य ग्राह्यस्य भवति।

शान्तिः—तत्किं स्वाम्येव साम्राज्यमलंकरिष्यति।

श्रद्धा—एवमेतत् यथात्मानमनुसंधत्ते ततो देव एव स्वाराट् सम्राट् च भवति।

शान्तिः—अथ देवस्य मायायां कीदृशोऽनुग्रहः।

शान्तिरिति। मनसि = मनोविषये मनसा सह स्वामिनः पुरुषस्य कीदृशो व्यवहार इति भावः।

श्रद्धेति। वध्यस्य = वधार्हस्य। ग्राह्यस्य = गृहीतस्य। यथा कस्यचित् वध्ये गृहीते वा व्यवहारस्तथैव पुरुषस्य मनसि व्यवहार इति भावः।

शान्तिरिति। स्वाम्येव = आत्मैव। साम्राज्यमलङ्करिष्यति=आत्मारामत्वलक्षणं साम्राज्यमधिकरिष्यति, मनोनिगृह्येति भावः।

श्रद्धेति। यथा = यतः। आत्मानम्, अनुसंधत्ते=प्रपञ्चप्रातिकूल्येन परमात्मत्वेन भावयति। स्वाराट् = स्वस्मिन्, आ = समन्तात्, राजत इति स्वाराट् = आत्मारामः। सम्राट् सम्यक् = चिदानन्दाभेदेनेत्यर्थः, राजत इति सम्राट् = ज्ञानाभिन्न इत्यर्थः।

शान्तिरिति। मायायाम् = मूलाविद्याविषये। अनुग्रहः = कृपा।

शान्ति—(समीप जाकर) माँ, तुम क्या कहती जा रही थी ?

श्रद्धा—(अये, अद्य इत्यादि दुहराती है)।

शान्ति—अब, मन के विषय में स्वामी पुरुष की प्रवृत्ति कैसी है ?

श्रद्धा—जैसी एक वधार्ह गृहीत के लिए होती है।

शान्ति—तो क्या स्वामी ही साम्राज्य को अलङ्कृत करेंगे ?

श्रद्धा—ऐसी ही बात है, क्यों कि वे जैसा अपना अनुसन्धान कर रहे हैं उससे तो विदित होता है कि स्वामी ही स्वाराट् और सम्राट् होंगे।

शान्ति—और देव का माया पर कैसा अनुग्रह है ?

श्रद्धा—ननु निग्रह इति वक्तव्ये कथमनुग्रहः शक्यते वक्तुम्। देवोऽपि हि सर्वानर्थबीजमियं माया सर्वथा निग्राह्येति मन्यते।

शान्तिः—यद्येवं का तर्हीदानीं राजकुलस्य स्थितिः।

श्रद्धा—शृणु,

नित्यानित्यविचारणाप्रणयिनी वैराग्यमेकं सुहृत्
सन्मित्राणि यमादयः शमदमप्रायाः सहाया मताः।
मैत्र्याद्याः परिचारिकाः सहचरी नित्यं मुमुक्षा बला-
दुच्छेद्या रिपवश्च मोहममतासङ्कल्पसङ्गादयः॥ ३॥

श्रद्धेति। निग्रहः = वधबन्धादिदण्डः। मायायां कीदृशो निग्रह इति प्रष्टव्यम्, कीदृशोऽनुग्रह इति कथं त्वया पृच्छयते इत्यर्थः। सर्वानर्थबीजम्—सर्वेषामनर्थानां बीजम् = कारणम्। निग्राह्या = दण्डपात्रम्।

शान्तिरिति—का स्थितिः = कीदृशी व्यवस्था ?।

नित्यानित्येति। नित्यानित्यविचारणाप्रणयिनी—किं नित्यं किमनित्यमिति प्रसङ्गे ब्रह्मस्वरूपमेव नित्यं ततोऽन्यदनित्यमिति विचारणा सैव प्रणयिनी = स्निग्धा प्राणप्रिया, वैराग्यम्, एकम् = मुख्यम्, सुहृत् = मित्रम्, यमादयः, सन्मित्राणि = सत्सखायः, मन्त्रिण इत्यर्थः। शमदमप्रायाः = शमदमतितिक्षादयः, सहायाः = सहकारिणः, मताः, मैत्र्याद्याः = मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः, परिचारिकाः = दास्यः, मुमुक्षा = मोक्षेच्छा नित्यं सहचरी = पार्श्ववर्त्तिनी। मोहममतासङ्कल्पसङ्गादयः, रिपवः = शत्रवश्च बलात् = आत्मजिज्ञासाबलादित्यर्थः। उच्छेद्याः विनाशनीयाः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ३॥

श्रद्धा—अरे निग्रह कहना चाहिए, उसके स्थान पर अनुग्रह कैसे कहा जा सकता है ? स्वामी भी ऐसा ही मानते हैं कि सब अनर्थों का मूल कारण यही माया है। इसे सर्वथा निगृहीत किया जाना चाहिए।

शान्ति—यदि ऐसी बात है, तो इस समय राजकुल की क्या स्थिति है ?

श्रद्धा—सुनो, नित्यानित्यवस्तुविचारणा ही प्राणप्रिया है, वैराग्य मुख्य मित्र है, यमनियमादि साथी है, शमदम आदि सहायक हैं, मैत्री आदि परिचारिकाएँ हैं, मुमुक्षा नित्य सहचरी है और मोह, ममता, संकल्प, सङ्ग आदि शत्रु हैं जिनका बलात् विनाश करना है॥ ३॥

शान्तिः—अथ धर्मे स्वामिनः कीदृशः प्रणयः।

श्रद्धा—पुत्रि, वैराग्यसंनिकर्षात्प्रभृति नितान्तमिहामुत्रफलभोगविरस एव स्वामी। तेन,

स नरकादिव पापफलाद्भयं भजति पुण्यफलादपि नाशिनः।
इति समुज्झितकामसमन्वयं सुकृतकर्म कथंचन मन्यते॥ ४॥

किन्त्वसौ प्रत्यक्प्रवणतां स्वामिनो विचिन्त्य कृतकर्तव्यमिवात्मानं मत्वा स्वयमेव धर्मः शून्यव्यापारोऽभूत्।

शान्तिरिति। धर्मे = धर्मविषये। प्रणयः = प्रीतिः।

श्रद्धेति। वैराग्यसंनिकर्षात् प्रभृति = वैराग्यसम्बन्धादारभ्य। नितान्तम् = अतिशयेन। इह = अस्मिल्लोके। अमुत्र=परलोके, फलभोगविरसः—फलभोगः = इह लोके सांसारिकविषयसुखभोगः, परलोके स्वर्गादिसुखानुभवः, तत्र विरसः = विरक्तः।

स नरकादिव। सः = विरक्तः पुरुषः, पापफलात् नरकादिव, नाशिनः = नश्वरात्, पुण्यफलादपि = स्वर्गादेरपि, भयं भजति = बिभेति। समुज्झितकामसमन्वयम्—समुज्झितः = त्यक्तः, कामसमन्वयः = फलसम्बन्धो यस्मिन्नेतादृशम्, सुकृतं कर्म = नित्यनैमित्तिकं कर्म, कथचन = केनापि प्रकारेण, मन्यते = कर्तव्यत्वेनाङ्गीकरोति। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्॥ ४॥

किन्त्विति। प्रत्यक्प्रवणताम्=आत्मैकनिष्ठताम्। विचिन्त्य=दृष्ट्वा। कृतकर्तव्यमिव—कृतम्=सम्पादितम्, कर्तव्यम्=अन्तःकरणशुद्धिर्येनैतादृशम्, आत्मानं मत्वा, व्यापारशून्यः अभवत् = ततः परं कृत्यांशाभावात् स्वतो विरतोऽभूदिति भावः।

शान्ति—और धर्म के विषय में स्वामी का कैसा अनुराग है?

श्रद्धा—पुत्रि, जब से वैराग्य से सम्बन्ध हुआ है, तभी से स्वामी ऐहिक और आमुष्मिक फल भोग से विरक्त ही रहा करते हैं। इसलिए—

वे जितना पापफल नरक से भय करते हैं, नश्वर होने से पुण्यफल (स्वर्गादि) से भी उतना ही भय करते हैं। (बस) सकलफलसम्बन्ध का त्याग कर किसी तरह नित्यनैमित्तिककर्म किया करते हैं॥ ४॥

किन्तु स्वामी को आत्मनिष्ठ समझ कर अपने को कृतकृत्य जान कर धर्म स्वयं ही व्यापार से विरत हो गया।

शान्तिः—अथ तानुपसर्गान् गृहीत्वा, महामोहो निलीय स्थितस्तेषां को वृत्तान्तः।

श्रद्धा—पुत्रि, तथा दुरवस्थागतेनापि महामोहहतकेन स्वामिनः प्ररोचनाय मधुमत्या विद्यया सहोपसर्गाः प्रेषिताः। अयमभिप्रायः। यद्येतेष्वासक्तः स्वामी विवेक उपनिषच्चिन्तामपि न करिष्यतीति।

शान्तिः—ततस्ततः।

श्रद्धा—ततस्तैर्गत्वा कापिस्वामिन्यैन्द्रजालिकी विद्योपदर्शिता तथाहि,

शब्दानेष शृणोति योजनशतादाविर्भवन्ति स्वत-
स्तास्ता वेदपुराणभारतकथास्तर्कादयो वाङ्मयाः।

शान्तिरिति। तान् = कामादीन्। उपसर्गान्=योगनिरोधकान् सहचरान्। निलीय = प्रच्छन्नो भूत्वा।

श्रद्धेति। स्वामिनः=पुरुषस्य, प्ररोचनाय=प्रतारणाय। मधुमत्या विद्यया = तन्नाम्न्या विद्यया। उपसर्गाः = कामादयो विघ्नहेतवः।

शब्दानेष इति। एषः=मधुमत्या विद्ययोपपन्नः पुरुषः, योजनशतात् शब्दान् शृणोति, स्वतः=प्रयत्नं विनैव, तास्ताः=अत्यन्तं प्रसिद्धाः, वेदपुराणभारतकथाः—वेदाः = ऋग्वेदादयः, पुराणानि, भारतकथा=महाभारतीयेतिवृत्तम, तथा तर्कादयः,

---

शान्ति—और उन उपसर्गों को साथ लेकर महामोह छिप गया था, उनका क्या समाचार है?

श्रद्धा—पुत्रि, वैसी दुर्दशा को प्राप्त होकर भी अधम महामोह ने स्वामी को फुसलाने के लिए मधुमती विद्या के साथ उपसर्गों को भेजा। (इसका) यह अभिप्राय (था) कि यदि इनमें स्वामी आसक्त हो जायँगे तो विवेक उपनिषद् की चिन्ता भी नहीं करेगा।

शान्ति—उसके बाद?

श्रद्धा—तब उन लोगों ने जाकर स्वामी के सामने इन्द्रजालविद्या दिखायी—

यह सौ योजन दूर का शब्द सुन लेता है, इसको स्वतः वेद, पुराण, भारत की कथाएँ और तर्कादि वाङ्मय स्फुरित होते हैं। यह इच्छामात्र से स्वयं

ग्रथ्नाति स्वयमिच्छया शुचिपदैः शास्त्राणि काव्यानि वा
लोकान्भ्राम्यति पश्यति स्फुटरुचो रत्नस्थलीर्मैरवीः ॥ ५ ॥

मधुमतीं च भूमिमापन्नः स्थानाभिमानिनीभिर्देवताभिरुपच्छन्द्यते भो इहोपविश्यताम्। नात्र जन्ममृत्यू। अनुपाधिरमणीयो देशः। एष त्वामुपस्थितो विविधविलासलावण्यपुण्यमयो मङ्गलार्थव्यग्रपाणिः प्रणयपेशलो विद्याधरीजनः।

वाङ्मयाः = वाग्विकाराः, आविर्भवन्ति = स्फुरन्ति, शुचिपदैः—शुचिभिः = व्याकरणशुद्धैः, पदैः, शास्त्राणि काव्यानि वा इच्छया स्वयं ग्रथ्नाति = निबध्नाति, लोकान् = चतुर्दश भुवनानि, भ्राम्यति = गच्छति, मैरवीः = मेरुसम्बन्धिनीः ('तस्येदम्' इत्यण्, 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीप्) स्फुटरुचः = देदीप्यमानाः, रत्नस्थलीः = रत्नखचितभूभागान् पश्यति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

मधुमतीं चेति। मधुमतीं च भूमिमापन्नः = मधुमतीं भूमिकामारूढः; स्थानाभिमानिनीभिः = तत्तत्स्थानाधिष्ठात्रीभिः, देवताभिः, उपच्छन्द्यते=प्रसाद्यते, तेन प्रकारेण प्रलोभ्यते च। प्रलोभनप्रकारं वदति—इहेत्यादि। अनुपाधिरमणीयः= सहजसुन्दरः। विविधविलासलावण्यपुण्यमयः—विविधैः=नानाप्रकारकैः, विलासैः= विभ्रमैः, लावण्येन = गात्रसौन्दर्येण, पुण्येन = सुगन्धेन च युक्तः। मङ्गलार्थ-व्यग्रपाणिः—मङ्गलार्थैः = दध्यादर्शादिमङ्गलपदार्थैः व्यग्राः पाणयः = कराः यस्य सः, प्रणयपेशलः—प्रणये = अनुरागे, पेशलः = कुशलः, विद्याधरीजनः = विद्याधरीणां समूहः, त्वाम् उपस्थितः = प्राप्तः।

व्याकरणादि से शुद्ध पदों द्वारा शास्त्रों या काव्यों की रचना करता है। यह समस्त लोकों में पहुँच जाता है। यह मेरु की चमचमाती रत्नस्थलियों को देखता है ॥ ५ ॥

मधुमती भूमिका को प्राप्त व्यक्ति तत्तत्स्थानाधिष्ठात्री देवताओं से आदर पाता है—यहाँ बैठिये, यहाँ जन्म-मरण नहीं है, यह देश निरुपाधि सुन्दर है, ये विविध विलासों लावण्य तथा सुगन्ध से युक्त, प्रणयकुशल तथा हाथों में मङ्गल-पदार्थ लिये विद्याधरियाँ तुम्हारे आगे उपस्थित हैं।

तदेहि, यतोऽत्र —

कनकसिकतिलस्थलाः स्रवन्तीः
पृथुजघनाः कमलानना वरोरूः।
मरकतदलकोमला वनाली
र्भजनिजपुण्यचितांश्च सर्वभोगान् ॥ ६ ॥

शान्तिः—ततस्ततः।

श्रद्धा—पुत्रि, तदाकर्ण्य मायया श्लाघ्यमेतदित्युक्तम। मनसा चानुमोदितम्। सङ्कल्पेन प्रोत्साहितम्। स्वामी संप्रति सम्मतिपथमिवापन्नः।

कनकसिकतिलेति। कनकसि तिलस्थलाः—कनकसिकतिलानि=स्वर्णमयवालुकायुतानि स्थलानि = पुलिनप्रदेशा यासां ताः, स्रवन्तीः=नदीः, पृथुजघनाः = स्थूलनितम्बाः, कमलाननाः = पद्ममुखीः, वरोरूः=ललनाः, मरकतदलकोमलाः—मरकतदलैः = मरकतमणिवद्यानि श्यामानि, सातिशयहरितत्वादिति भावः, दलानि = पत्राणि तैः कोमलाः, वनालीः = काननपङ्क्तीः, निजपुण्यचितान् च = स्वसुकृतार्जितान् च, सर्वभोगान् = सर्वभोग्यवस्तूनि, भज = सेवस्व। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ६ ॥

श्रद्धेति। श्लाघ्यम् = प्रशस्यम्। अनुमोदितम् = समर्थितम्। सम्मतिपथम्= सम्मतिपथम् = स्वीकृतिमार्गम्, आपन्नः। स्वीकर्तुमिव प्रवृत्त इति भावः।

तो आओ, यहाँ—

स्वर्णवालुकामय पुलिनप्रदेशवाली नदियों, स्थूलनितम्बा कमलमुखी ललनाओं, मरकतमणि के समान पत्तों से कोमल वनपङ्क्तियों, अपने सुकृत से अर्जित सकलभोग्यवस्तुओं का उपभोग करो ॥ ६ ॥

शान्ति—उसके बाद ?

श्रद्धा—पुत्रि, यह सुन कर 'यह तो बहुत अच्छा'—माया ने ऐसा कहा। और मन ने समर्थन किया। सङ्कल्प ने प्रोत्साहन दिया। स्वामी ने भी इस समय स्वीकृति सी दे दी।

शान्तिः—(सखेदम्) हा धिक् हा धिक् पुनरपि तामेव संसारवागुरामभिपतितः स्वामी ।

श्रद्धा—न खलु न खलु ।

शान्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततः परिपार्श्ववर्तिनातर्केण तान्सर्वान्क्रोधावेशकषायितनयनमालोक्याभिहितः । स्वामिन्, किमेवमेभिर्विषयामिषग्रासगृध्नुभिरास्थानिकैः पुनरपि तेष्वेव तथैव विषमविषयाङ्गारेषु निपात्यमानमात्मानं नावबुध्यसे । ननु भोः,

---

शान्तिरिति । संसारवागुराम् = भवजालम् । अभिपतितः = प्रविष्टः ।

श्रद्धेति । परिपार्श्ववर्तिना = समीपवर्तिना, तर्केण = बुद्धिवृत्तिविशेषेण, क्रोधावेशकषायितनयनम्—क्रोधावेशेन = क्रोधाधिक्येन कषायिते = रक्तीकृते, नयने = नेत्रे यस्मिंस्तद्यथा स्यात्तथा, तान् सर्वान् = मायामनःसंकल्पादीन्, आलोक्य = दृष्ट्वा, अभिहितः = उक्तः, स्वामीति शेषः । विषयामिषग्रासगृध्नुभिः—विषयाः = सांसारिकसुखान्येव आमिषम् = मांसम्, तस्य ग्रासे गृध्नवः = लुब्धाः तैः । एतैः=मायामनःसंकल्पादिभिः, आस्थानिकैः=सभापण्डितैः, वञ्चकैरित्यर्थः । पुनरपि = विमोक्षानन्तरमपि, तथैव = तेनैव प्रकारेण, पूर्ववदित्यर्थः । विषमविषयाङ्गारेषु—विषमाः = भयावहाः, विषया एव अङ्गाराः, तेषु अङ्गारवद् दाहकेषु भयङ्करविषयेषु । निपात्यमानम् = आकृष्य प्रवेश्यमानम् । नावबुध्यसे = न जानासि ।

शान्ति—(खेद पूर्वक) हाय ! हाय ! उसी संसारजाल में स्वामी पुनः भी पड़ गये ।

श्रद्धा—नहीं, नहीं ।

शान्ति—तब ?

श्रद्धा—तब पार्श्ववर्त्ती तर्क ने उन सभी को क्रोध से लाल नेत्रों से देखकर स्वामी से कहा—स्वामिन् ! क्यों, इस तरह इन विषयामिषलोभी सभाधूर्तों के द्वारा पुनः उन्हीं विषम विषयों के अङ्गारों में ठेले जाते हुए अपने को नहीं देख रहे हो ? अरे,

भवसागरतारणाय या नचिराद्योगतरिस्त्वयाश्रिता ।
अधुना परिमुच्यतां मदात्कथमङ्गारनदीं विगाहसे ॥ ७ ॥

शान्तिः—ततस्ततः ।

श्रद्धा—ततस्तद्वचनमाकर्ण्य स्वस्ति विषयेभ्य इत्यभिधायावधीरिता मधुमती ।

शान्तिः—साधु साधु । अथ क्व प्रस्थितास्ति भवती ।

भवसागरतारणायेति । भवसागतारणाय = संसारसिन्धुपारगमनाय, या योगतरिः = योग एव तरिः = नौका, न चिरात् अधुनैव, त्वया आश्रिता = अवलम्बिता, अधुना = सम्प्रत्येव, ताम्, परिमुच्य = त्यक्त्वा, मदात् = अज्ञानात् कथम् = केन प्रकारेण, अङ्गारनदीम् = विषमविषयनदीमित्यर्थः, विगाहसे = आत्मानं विनाशयितुमवतरसि । वैराग्यं विहाय विषयानुरागालम्बनेन माऽऽत्मानं विनाशयेति भावः । वियोगिनी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'विषमे ससजा गुरुः समे सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी' । इति ॥ ७ ॥

श्रद्धेति तद्वचनम् = तस्य तर्कस्य वचनम् । आकर्ण्य = श्रुत्वा, स्वामिनेति शेषः । स्वस्तिविषयेभ्यः = सोल्लुण्ठवचनमिदम्, विषयैर्नास्ति मम किमपि प्रयोजनमिति भावः । अवधीरिता = तिरस्कृता ।

शान्तिरिति । प्रस्थिता = चलिता ।

अभी-अभी भवसागर को पार करने के लिये तुमने जिस योगनौका का आश्रय लिया, अब अज्ञानवश उसको छोड़कर कैसे अङ्गार नदी में डूबने जा रहे हो ? ॥ ७ ॥

शान्ति—उसके बाद ?

श्रद्धा—तब उसकी बात सुनकर (स्वामी ने) 'विषयों का भला हो' ऐसा कह कर (अर्थात् विषयों से पराङ्मुख हो) मधुमती को तिरस्कृत कर दिया ।

शान्ति—बहुत ठीक, बहुत ठीक । अब तुम कहाँ चली हो ?

श्रद्धा—आदिष्टाहं स्वामिना यथा विवेकं द्रष्टुमिच्छामि।

शान्तिः–त्वरतां भगवतीति।

श्रद्धा—तदहं राजसन्निधिं प्रस्थिता।

शान्तिः—अहमपि महाराजेनोपनिषदमानेतुमादिष्टा। तद्भवतु स्वनियोगं संपादयावः।

(इति निष्क्रान्ते)

प्रवेशकः।

(ततः प्रविशति पुरुषः)

पुरुषः—(विचिन्त्य। सहर्षम्) अहो माहात्म्यं देव्या विष्णुभक्तेः। यत्प्रसादान्मया

श्रद्धेति। स्वामिना = पुरुषेण।

शान्तिरिति। त्वरताम् = शीघ्रतां करोतु।

श्रद्धेति। राजसन्निधिम् राज्ञः = विवेकस्य सन्निधिम् = सकाशम्।

शान्तिरिति। स्वनियोगम् = आत्मनः कर्त्तव्यम्।

(इति) प्रवेशकः।

पुरुष इति। माहात्म्यम् = प्रभावातिशयः। यत्प्रसादात् = यदनुग्रहात्।

श्रद्धा—स्वामी से आदेश पाकर मैं विवेक से मिलना चाहती हूँ।

शान्ति—तो तुम शीघ्रता करो।

श्रद्धा—तो अब मैं राजा के पास चलती हूँ।

शान्ति–मुझे भी महाराज (विवेक) ने उपनिषद् को ले आने का आदेश दिया है। अच्छा, हम दोनों अपने-अपने कर्त्तव्य को सम्पादित करें।

(दोनों चली जाती हैं)

(इति) प्रवेशक

(तदनन्तर पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—(सोच कर, सहर्ष) देवी विष्णुभक्ति का माहात्म्य आश्चर्यजनक है। जिसकी कृपा से मैंने—

तीर्णाः क्लेशमहोर्मयः परिहृता भीमा ममत्वभ्रमाः
शान्ता मित्रकलत्रबन्धमकरग्राहग्रहग्रन्थयः ।
क्रोधौर्वाग्निरपाकृतो विघटितास्तृष्णालताविस्तरा
पारेतीरमवाप्तकल्पमधुना संसारवारांनिधेः ॥ ८ ॥

(ततः प्रविशत्युपनिषच्छान्तिश्च)

उपनिषत्—सखि, कथं तथा निरनुक्रोशस्य स्वामिनो मुखमालोकयिष्यामि । येनाहमितरजनयोषेव सुचिरमेकाकिनी परित्यक्ता ।

तीर्णा इति । क्लेशमहोर्मयः— क्लेशाः = अविद्यास्मितादय एव महोर्मयः = महातरङ्गयः, तीर्णाः = उत्तीर्णाः । भीमाः = भयंकराः, ममत्वभ्रमाः = ममतारूपावर्ताः, परिहृताः = लङ्घिताः । मित्रकलत्रबन्धुमकरग्राहग्रहग्रन्थयः–मित्रम् = सखा, कलत्रम् = भार्या, बन्धवः = भ्रातृपितृव्यादयः, त एव मकराः = मत्स्याः, ग्राहाः, तैर्ग्रहः = ग्रहणम्, तद्रूपा ग्रन्थयः = बन्धनानि, शान्ताः = प्रशमिताः । क्रोधौर्वाग्निः = क्रोध एव और्वाग्निः = वडवानलः, अपाकृतः = उल्लङ्घितः । तृष्णालताविस्तराः = तृष्णारूपसमुद्रीयलताविस्ताराः, विघटिताः = उन्मोचिताः । अधुना = सम्प्रति, संसारवारांनिधेः = संसारसागरस्य, पारेतीरम् = परतटम्; अवाप्तकल्पम् = ईषदवाप्तम्, प्राप्तमिवेत्यर्थः । साङ्गं परम्परितं रूपकमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

उपनिषदिति । तथा = तेन रूपेण । निरनुक्रोशस्य–निर्गतः, अनुक्रोशः = दया यस्मात् स निरनुक्रोशः = निर्दयः, तस्य ('कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोश' इत्यमरः) । स्वामिनः = विवेकस्य । इतरजनयोषेव = परकीया नारीव । एकाकिनी = स्वसङ्गतिविवर्जिता ।

क्लेशों की बड़ी-बड़ी लहरों को पार किया, ममता की भयानक भौंरो को दूर छोड़ा, मित्र-कलत्र-बन्धु रूप मकरों के ग्रहण-बन्धन से मुक्ति पायी, क्रोध रूप वडवानल को दूर छोड़ा, तृष्णारूप समुद्रीयलताओं को विघटित किया । अब तो मैं करीब-करीब संसार सागर के पार वाले तट तक पहुँच चुका हूँ ॥ ८ ॥

(तदनन्तर उपनिषत् और शान्ति का प्रवेश)

उपनिषत—सखि, कैसे निर्दय स्वामी का मुख कैसे देखूँगी, जिसने मुझे परायी स्त्री की तरह अकेली छोड़ दिया ?

शान्तिः— देवि, कथं तथाविधविपत्पतितो देव उपालभ्यते ।

उपनिषत् सखि, न दृष्टा त्वया मे तादृशी दशा । येनैवं ब्रवीषि ।

शृणु—बाह्वोर्भग्ना दलितमणयः श्रेणयः कङ्कणानां
चूडारत्नग्रहनिकृतिभिर्दूषितः केशपाशः ।
कैः कैर्नाहं हतविधिबलादीहिता दुर्विदग्धै-
र्दासीकर्तुं सपदि दुरितैर्दूरसंस्थे विवेके ॥ ९ ॥

शान्तिरिति । तथाविधविपत्पतितः = तादृशसङ्कटापन्नः । देवेन परिस्थिति-वशादेव त्वं त्यक्ता, न तु भावदोषात्, तस्मात्त्वेदृश उपालम्भो न युक्त इति भावः।

बाह्वोरिति । बाह्वोः = हस्तयोः, दलितमणयः–दलिताः=चूर्णिताः, मणयो यासां ताः, कङ्कणानाम् = करभूषणानाम्, श्रेणयः = पङ्क्तयो भग्नाः=नाशिताः। चूडारत्नग्रहनिकृतिभिः–चूडारत्नस्य = शिरोभूषणस्य ग्रहः = ग्रहणम्, अपहरण-मित्यर्थः, स एव निकृतयः = तिरस्काराः, ताभिः केशपाशः, दूषितः = शोभा-रहितः कृतः । सपदि = तत्क्षणम्, हतविधिबलात् = दुर्दैवदोषात्, विवेके = तन्नाम्नि मम स्वामिनि, दूरसंस्थे = दूरवर्त्तिनि, कैः कैः दुर्विदग्धैः = दुष्टबुद्धिभि-र्नीचैः, अहम्, दासीकर्तुं नेहिता = नेष्टा, अपि तु सर्वेऽपि दुर्विदग्धा मां दासी-कर्तुं प्रायतन्त इति भावः ।

अत्रेदमवधेयम्—'विवेकाभावे दुर्विदग्धा उपक्रमोपसंहारात्मकं तात्पर्यलिङ्ग-मुत्सृज्य अन्यथाविचारं कृत्वा उपनिषत्कङ्कणभङ्गं कुर्वन्ति, आत्मस्वरूपस्या-न्यथावर्णनेन तच्चूडारत्नमपहृत्य वेदान्तभागं केशपाशं दूषितं कुर्वन्ति । तदेवं तां सर्वथा दासीकर्तुं प्रयतन्ते' इति । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ९ ॥

शान्ति—देवि, उस प्रकार की विपत्ति में पड़े हुए देव की क्यों शिकायत कर रही हो ?

उपनिषत्—सखि, तुमने (तो) मेरी वह दशा देखी नहीं थी, इसलिए ऐसा कह रही हो।

सुनो—मेरे हाथों के कङ्कणों की मणियाँ टूट-फूट गयीं, चूडामणि का अपहरण रूप तिरस्कार कर केशपाश दूषित (अर्थात् शोभारहित) किया गया। उस समय दुर्दैववश विवेक के दूरवर्त्ती होने पर किन किन दुष्टों ने मुझे दासी बनाना नहीं चाहा ? ॥ ९ ॥

शान्ति:—सर्वमेतन्महामोहस्य दुर्विलसितम् । नात्र देवस्यापराधः । तेन मोहेन मनः कामादिद्वारेण प्रबोधयता त्वत्तो दूरीकृतो विवेकः । एतदेव कुलस्त्रीणां नैसर्गिकं शीलं यद्विपन्नस्य स्वामिनः समयप्रतीक्षणमिति । तदेहि दर्शनप्रियालापेन संभावय देवम । संप्रत्यपहता विद्विषः । संपूर्णास्ते मनोरथाः ।

उपनिषत्—सखि, संप्रत्यागच्छन्ती वत्सया गीतयाऽहं रहस्युक्ता यथा भर्ता स्वामी च पुरुषस्त्वया यथाप्रश्नमुत्तरेण संभावयितव्यः । तथा प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यतीति तत्कथं गुरूणामध्यक्षं धार्ष्ट्यमवलम्बिष्ये ।

शान्तिरिति । दुर्विलसितम् = दुश्चेष्टितम् । देवस्य = विवेकस्य । नैसर्गिकं शीलम् = स्वाभाविकचरित्रम् । विपन्नस्य = सङ्कटपतितस्य । समयप्रतीक्षा । दर्शनप्रियालापेन = दर्शनपूर्वकप्रियसंभाषणेन । देवम् = स्वामिनं विवेकम् । संभावय = संमानय । अपहताः = विनष्टाः, विद्विषः = शत्रवः, कामादयः ।

उपनिषदिति । वत्सया = पुत्रिकया, गीतया = भगवद्गीतया । गीताया उपनिषत्पुत्रिकात्वं तत्सकाशादुत्पत्तेः । रहसि = एकान्ते । यथाप्रश्नम् = प्रश्नमनतिक्रम्य । संभावयितव्यः = समाननीयः । तथा = यथाप्रश्नमुत्तरेण । प्रबोधोत्पत्तिः = ज्ञानोदयः । गुरूणाम्=विवेकप्रवर्तकानां श्वशुरस्थानीयानाम्, अध्यक्षम् = पुरतः । परोक्षार्थबोधजनकस्वभावतयाऽहं पुरुषविषयेऽपरोक्षबोधनधृष्टतां कथं करिष्यामीति तदुक्तेराशयः ।

शान्ति—यह सब महामोह की दुष्टता है । इसमें देव (विवेक) का (कुछ भी) अपराध नहीं है । उस मोह ने कामादि के द्वारा मन को (अन्यथा) समझा-बुझा कर विवेक को तुमसे दूर कर दिया । कुलाङ्गनाओं का (यही) स्वाभाविक चरित्र है कि विपत्ति में पड़े स्वामी के सुसमय की प्रतीक्षा करें । तो आओ, दर्शन और प्रिय संभाषण से महाराज का सम्मान करो । अब शत्रु नष्ट हो चुके हैं । तुम्हारे मनोरथ संपूर्ण हुए ।

उपनिषत् सखि, इस समय आती हुई मुझे वत्सा गीता ने एकान्त में बताया कि भर्ता और स्वामी पुरुष को यथाप्रश्न उत्तर देकर सम्मानित करना । वैसा करने से प्रबोध की उत्पत्ति होगी । तो गुरु जन के सामने मैं धृष्टता कैसे करूँगी ?

शान्तिः—देवि, अविचारणीयमेतद्वाक्यं भगवत्या गीतायाः, अयमेव चार्थो भगवत्या विष्णुभक्त्या विवेकस्वामिनो निरुक्तः। तदेहि। संभावय दर्शनेन भर्तारमादिपुरुषं च।

उपनिषत्—यथा वदति प्रियसखी। (इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति राजा श्रद्धा च)

राजा—अयि वत्से, द्रक्ष्यति शान्तिः प्रियामुपनिषदम् ?।

श्रद्धा—देव, गृहीतोद्देशैव शान्तिर्गता कथं तां न द्रक्ष्यति।

राजा—कथमिव।

श्रद्धा—देव प्रागेव कथितमेतद् देव्या विष्णुभक्त्याऽऽसीत्; यथा मन्दाराभिधाने शैले विष्णोरायतने देव्यां गीतायां तर्कविद्याभयाऽनुप्रविष्टेति।

शान्तिरिति। अविचारणीयम् = उपेक्षणीयम्। विवेकस्वामिनः, स्वामिनं विवेकं प्रति, (कर्मणि षष्ठी)। निरुक्तः = अभिहितः।

राजेति। वत्से = श्रद्धे। द्रक्ष्यति = द्रष्टुं शक्ष्यतीत्यर्थः।

श्रद्धेति। गृहीतोद्देशा गृहीतः = ज्ञातः, उद्देशः = वासस्थानं यया सा। शान्तिस्तद्वासस्थानं जानात्येव, तदवश्यमेवोपनिषदं द्रक्ष्यतीति भावः।

राजेति। कथमिव—शान्त्या तद्वासस्थानं कथं ज्ञातमिति प्रश्नस्याशयः।

श्रद्धेति। मन्दाराभिधाने शैले-मन्दारनामके पर्वते। विहारप्रान्ते मन्दारो विद्यते, तत्र प्रसिद्धं मधुसूदनमन्दिरम्। विष्णोरायतने = विष्णुमन्दिरे। तर्कविद्या-

---

शान्ति—देवि, भगवती गीता की यह बात विचारणीय नहीं है, यही बात भगवती विष्णुभक्ति ने (भी) स्वामी विवेक से कही है। तो आओ, दर्शन से भर्ता और आदिपुरुष का समान करो।

उपनिषत्—प्रिय सखी की जो आज्ञा। (चलती है)

(तदनन्तर राजा और श्रद्धा का प्रवेश)

राजा—अयि वत्से, क्या शान्ति, प्रिया उपनिषद से मिल पायेगी ?

श्रद्धा—पता ठिकाना जान कर ही शान्ति गयी है तो मिल क्यों न पायेगी ?

राजा—कैसे (शान्ति उसका पता ठिकाना पा गयी) ?

श्रद्धा—देव, देवी विष्णुभक्ति ने पहिले ही कह दिया था कि मन्दार नामक

राजा— कथं पुनस्तर्कविद्याया भयम् ।

श्रद्धा—देव, इयमर्थं सैव प्रस्तोष्यति । तदागच्छतु देवः । एष स्वामो त्वदागमनमेव ध्यायन्विविक्ते वर्तते ।

राजा—(उपसृत्य) स्वामिन् अभिवादये ।

पुरुषः—वत्स, प्रक्रमविरुद्धोऽयं समुदाचारः । यतो ज्ञानवृद्धतया भवानेवास्माकमुपदेशदानेन पितृभावमापन्नः । कुतः—

भयात् = तर्कशास्त्रभयात्, तर्कस्य विरुद्धमतस्थापकत्वादिति भावः । अनुप्रविष्टा = अन्तर्गता ।

राजेति । तर्कविद्यायाः = तर्कशास्त्रतः ('भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति पञ्चमी) ।

श्रद्धेति । इममर्थम्—तस्यास्तर्कात् कथं भयमिति । सैव प्रस्तोष्यति=वक्ष्यति । भीतैव जानाति भयहेतुमिति भावः । ध्यायन् = प्रतीक्षमाणः ।

पुरुष इति । समुदाचारः = शिष्टाचारः । प्रक्रमविरुद्धः = नियमविरुद्धः । ज्ञानवृद्धतया = समधिकज्ञानवत्तया । उपदेशदानेन = स्वरूपज्ञानप्रदानेनेत्यर्थः । ज्ञानोपदेष्टुरपि पितृत्वात् त्वं पितृभावम् = पितृत्वम्, आपन्नः = प्राप्तः । अतो मया त्वदीयमभिवादनं कर्त्तव्यम्, त्वया यन्मदीयमभिवादनं कृतं तन्न युक्तमिति भावः ।

पर्वत पर विष्णु के मन्दिर में तर्कविद्या के भय से (उपनिषत्), देवी गीता में अनुप्रविष्ट हो गयी है ।

राजा- कैसे (उसे) तर्कविद्या से भय है ?

श्रद्धा—देव, इस बात को तो वही कहेगी । तो देव आयें । ये स्वामी आप के आने की ही प्रतीक्षा करते हुए एकान्त में वर्तमान हैं ।

राजा—(समीप जाकर) स्वामिन्, अभिवादन करता हूँ ।

पुरुष—वत्स, यह शिष्टाचार नियमविरुद्ध है । क्योंकि ज्ञानवृद्ध होने से उपदेश देने के कारण आप ही हमारे पिता-तुल्य हैं । क्योंकि—

पुरा हि धर्माध्वनि नष्टसंज्ञा
देवास्तमर्थं तनयानपृच्छन्।
ज्ञानेन सम्यक्परिगृह्य चैतान्
हे पुत्रकाः संशृणुतेत्यवोचन ॥ १० ॥

तद्भवान्पितृत्वेनास्मासु वर्ततामित्येव एव धर्मः।

शान्तिः—एष देवि, देवेन सह स्वामी विविक्ते वर्तते। तदुपसर्पतु देवी

पुरेति। पुरा = प्राचीनकाले, हि = निश्चितम्, धर्माध्वनि = धर्ममार्गे, नष्टसंज्ञाः—नष्टा संज्ञा = बोधः येषां ते नष्टसंज्ञाः = लुप्तबोधाः, देवाः = सुराः, तम् अर्थम् = धर्मम् = धर्मरूपम्, तनयान्=पुत्रान्, अपृच्छन्। (ते च तनयाः) एतान = जिज्ञासितवता देवान्, ज्ञानेन हेतुना सम्यक् परिगृह्य = स्वीकृत्य, हे पुत्रकाः, संशृणुत = सम्यक् आकर्णयत इति, अवोचन् = अवदन्। 'पुरा प्रजापतिर्देवान् सृष्ट्वा केनचित्कारणेनाज्ञानिनो भूयासुरिति ताञ्शशाप, तदनन्तरंताननुगृह्णन् मन्योन्यं पितृत्वं पुत्रत्वं च ददौ' इति कथाऽत्रानुसन्धेया। ईदृशमेवार्थमन्यत्राप्युक्तवन्तो नीतिविदः—'अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्।' इति। उपजातिर्वृत्तम् ॥ १० ॥

तद्भवानिति। तत् = तस्मात्। भवान् = विवेकः। पितृत्वेन = पितृरूपेण पितृचितेनाचरणेन इत्यर्थः, वर्तताम् = व्यवहरतु।

शान्तिरिति। देवेन सह = विवेकेन सह। स्वामी = पुरुषः। विविक्ते = निर्जने प्रदेशे।

प्राचीन काल में धर्ममार्ग में (अर्थात् धर्म के विषय में) ज्ञान नष्ट हो जाने पर देवों ने पुत्रों से उसके विषय में पूछा और उन पुत्रों ने ज्ञान के निमित्त उन्हें स्वीकार कर 'हे पुत्रो! सुनो' (इस प्रकार पुत्र शब्द से व्यवहृत कर) कहा १० ॥

इसलिए आप पितृभाव से हमारे साथ वर्ताव करें, यही धर्म है।

शान्ति—देवि, यह स्वामी, देव (विवेक) के साथ एकान्त में हैं, देवो समीप जाँय।

उपनिषत्—(उपसर्पति)

शान्तिः—स्वामिन्, एषोपनिषद्देवी पादवन्दनायागता ।

पुरुषः—न खलु न खलु । यतो मातेयमस्माकं तत्त्वावबोधोदयेन । तदेषैवास्माकं नमस्या । अथवा

अनुग्रहविधौ देव्या मातुश्च महदन्तरम् ।
माता गाढं निबध्नाति बन्धं देवी निकृन्तति ॥ ११ ॥

उपनिषत्—(विवेकमालोक्य नमस्कृत्य दूरे समुपविशति)

पुरुषः—अम्ब, कथ्यताम् । क्व भवत्या नीता एते दिवसाः ।

पुरुष इति । तत्त्वावबोधोदयेन = तत्त्वावबोधोदयकारणेन । एषा = उपनिषद् । नमस्या = प्रणम्या । इयमुपनिषद् अस्माकं मातृतुल्या, तत्त्वावबोधोदयकारणात् । तद्वयमेवेमां प्रणमेमेति भावः ।

अनुग्रहविधाविति । अनुग्रहविधौ = अनुग्रहे = कर्त्तव्ये देव्याः=उपनिषदः, मातुश्च महदन्तरम् = महान् भेदः । तदेवान्तरमाह—मातेति । माता, गाढम् = अत्यर्थम्, निबध्नाति = संसारे क्षिपति, देवी = उपनिषद्, बन्धम्=संसारपाशम्, निकृन्तति = छिनत्ति । माता उपनिषच्च द्वेऽप्यादरणीये, तथापि मात्रापेक्षयोपनिषत् प्रकृष्टतरा, अतो माता संसारपाशेन दृढं निबध्नाति, किन्तूपनिषत्संसारपाशं छिनत्तीति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ११ ॥

उपनिषत्—(समीप जाती हैं)

शान्ति—स्वामिन्, ये उपनिषद् देवी पादवन्दन के लिए आयी हैं ।

पुरुष—नहीं, नहीं । प्रबोध को जन्म देने के कारण यह हमारी माता है अतः यही हमारे लिए प्रणम्य है । अथवा

अनुग्रह करने में देवी (उपनिषत्) और माता में बहुत बड़ा अन्तर है । माता संसार के बन्धन में दृढता से बांधती है, (किन्तु) देवी (उपनिषत् उस) बन्धन को काटती है ॥ ११ ॥

उपनिषत (विवेक को देखकर; नमस्कार कर, दूर बैठती है)

पुरुष—माँ कहिए, तुमने ये दिन कहाँ कहाँ विताएँ ?

उपनिषत् स्वामिन्,

नीतान्यमूनि मठचत्वरशून्यदेवा-
गारेषु मूर्खमुखरैः सह वासराणि।

पुरुषः—अथ ते जानन्ति किमपि भवत्यास्तत्त्वम्।

उपनिषत्—न खलु। किन्तु

ते स्वेच्छया मम गिरं द्रविडाङ्गनोक्त-
वाचामिवार्थं विचार्य विकल्पयन्ति ॥ १२ ॥

नीतानीति। अमूनि = एतानि, वासराणि = दिनानि मठचत्वरशून्यदेवागारेषु—मठाः = संन्यासिनिवासस्थानानि, चत्वराः = सामान्यजनोपवेशस्थानानि, तैः शून्यानि = रिक्तानि, देवागाराणि = देवालयानि, तेषु, मूर्खमुखरैः सह मे मूर्खवाचालैः सह नीतानि = यापितानि।

पुरुष इति। तत्त्वम् = रहस्यम्।

ते स्वेच्छयेति। ते = मूर्खमुखराः, स्वेच्छया, मम गिराम् = मदुक्तीनाम्, द्रविडाङ्गनोक्तवाचामिव, अर्थम् अविचार्य, विकल्पयन्ति=नानाविधायुक्ततात्पर्याणि कल्पयन्ति। यथा द्राविडभाषामजानाना द्रविडललनावचनानि श्रुत्वा, तदर्थानभिज्ञतया तद्विविधतात्पर्याणि मन्यन्ते तथैवमे मूर्खमुखरा मद्वाचि नानाविकल्पान्कुर्वन्तीति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १२ ॥

उपनिषत स्वामिन्,

ये दिन (हमने) मठ और चत्वर से शून्य देवालयों में मूर्खमुखरों के साथ विताये।

पुरुष—क्या वे आप का कुछ तत्त्व जानते हैं ?

उपनिषत्—नहीं, किन्तु—

वे स्वेच्छा से, मेरी उक्तियों का अर्थ न समझकर उनके अनेक अयुक्त तात्पर्य की कल्पना करते हैं, जैसे (द्रविडभाषा के न जानने वाले) लोग द्रविडस्त्रियों की उक्ति का अर्थ न समझ कर उसके विविध तात्पर्य की कल्पना कर लेते हैं ॥ १२ ॥

तेन केवलं तेषां परार्थग्रहणप्रयोजनमेव मद्विचारणम् ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततः कदाचित् ।

कृष्णाजिनाग्निसमिदाज्यजुहूस्रुवादि-
पात्रैस्तथेष्टिपशुसोममुखैर्मखैश्च ।
दृष्टा मया परिवृताखिलकर्मकाण्ड-
व्यादिष्टपद्धतिरथाध्वनि यज्ञविद्या ॥ १३ ॥

तेन केवलमिति । तेषाम् = मूर्खमुखराणाम्, मद्विचारणम्=मदर्थविचारणम्, परार्थग्रहणप्रयोजनम्—परेषाम् = अन्येषाम्, अर्थः = धनम्, तस्य ग्रहणम् = अपहरणमेव प्रयोजनम् = फलं यस्य तत् । ते मूर्खा मदर्थविचारणेन केवलं स्वपाण्डित्यं प्रख्याप्यं परधनमेवापहरन्ति न तु मत्तत्त्वमवधारयन्तीति भावः ।

कृष्णाजिनेति । अथ = अनन्तरम्, मया = उपनिषदा, अध्वनि = मार्गे, कृष्णाजिनाग्निसमिदाज्यजुहूस्रुवादिपात्रैः—कृष्णाजिनम् = कृष्णमृगचर्म, अग्नयः = गार्हपत्यादयस्त्रयोऽग्नयः, समिधः = होमकाष्ठानि, आज्यम् = घृतम्, जुहूः = पात्रभेदः, स्रुवः, आदिपदात् उपभृत् ध्रुवा इत्यादीनि पात्राणि तैः, तथा इष्टिपशुसोममुखैः—इष्टिः = दर्शपूर्णमासेष्टिः, पशुः, सोममुखाः = अग्निष्टोमादयः, तैः मखैः = यागैः, किल = निश्चयेन, परिवृता = वेष्टिता, अखिलकर्मकाण्डव्यादिष्टपद्धतिः—अखिले कर्मकाण्डे व्यादिष्टा = प्रतिपादिता, पद्धतिः = इति कर्त्तव्यताक्रमः, यस्याः सा, यज्ञविद्या दृष्टा । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १३ ॥

इस लिए मेरे सम्बन्ध में विचार करने का उनका प्रयोजन केवल दूसरों के धन को ग्रहण करना ही है ।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—उसके बाद कभी—

मैंने मार्ग में कृष्णमृगचर्म, तीनों अग्नि, समित्, घृत, जुहू, स्रुवा आदि पात्रों तथा इष्टि, पशु और अग्निष्टोम आदि यागों से परिवृत, कर्मकाण्डोक्तपद्धति वाली यज्ञविद्या को देखा ॥ १३ ॥

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततो मया चिन्तितम् । अपि नामैषा पुस्तकभारवाहिनी मे ज्ञास्यति तत्त्वम । अत एवास्याः सन्निधौ कानिचिद्वासराणि नयामि ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततस्तामहमुपस्थिता । तया चाहमुक्तास्मि । भद्रे, किं ते समीहितमिति । ततो मयोक्तम् । आर्य, अनाथास्मि त्वयि निवस्तुमिच्छामीति ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततस्तयोक्तं, भद्रे किं ते कर्मेति ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततो मयोक्तम् ।

उपनिषदिति । चिन्तितम् = विचारितम् । अपीति सभावनायाम् । एषा = यज्ञविद्या । पुस्तकभारवाहिनी–पुस्तकानाम् = अनेकेषां नानाविधानां पुस्तकानाम्, भारं वहतीति तच्छीला । तत्त्वम् = रहस्यम् । सन्निधौ = पार्श्वे । नयामि = यापयामि ।

ताम् = यज्ञविद्याम् । उपस्थिता = गता । तया = यज्ञविद्यया । समीहितम्= अभीष्टम् । निवस्तुम = वासं कर्तुम् ।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत—अनन्तर मैंने सोचा कि यह पुस्तकभारवाहिनी संभवतः मेरा तत्त्व जानती होगी इसलिए इसके पास कतिपय दिन बिताऊँ ।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—तदनन्तर मैं उसके पास गयी । उसने मुझसे कहा—भद्रे, तुम क्या चाहती हो ? तब मैंने कहा—आर्ये, मैं अनाथ हूँ, तुम्हारे पास रहना चाहती हूँ ।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—तब उसने कहा—भद्रे, तुम कौन सा काम करती हो ?

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत—तब मैंने कहा—

यस्माद्विश्वमुदेति यत्र रमते यस्मिन्पुनर्लीयते
भासा यस्य जगद्विभाति सहजानन्दोज्ज्वलं यन्महः ।
शान्तं शाश्वतमक्रियं यमपुनर्भावाय भूतेश्वरं
द्वैतध्वान्तमपास्य यान्ति कृतिनः प्रस्तौमि तं पूरुषम् ॥ १४ ॥

ततस्तयोक्तम् ।

पुमानकर्ता कथमीश्वरो भवेत
क्रिया भवोच्छेदकरी न वस्तुधीः ।

यस्मा दति । यस्मात् विश्वम् = जगत्, उदति = उत्पद्यते, यत्र रमते = स्थितिं लभते, यस्मिन्, पुनः=अन्ते, लीयते = विलीनं भवति, (एतेन 'जन्माद्यस्य यत' इति सूत्रार्थ उपवर्णितः) । यस्य भासा = दीप्त्या, जगत्, विभाति = प्रकाशते, (एतेन 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुत्यर्थं उपवर्णितः) । यन्महः —यस्य महः = तेजः, सहजानन्दोज्ज्वलम् = स्वाभाविकसुखप्रकाशाभिन्नम्, (एतेन स्वरूपमुक्तम् । कृतिनः = विद्वांसः, अपुन॰ र्भावाय = मुक्तये, द्वैतध्वान्तम् = द्वितमेव द्वैतम्, तदेव ध्वान्तम् तमः, भेदरूप-मन्धकारम्, अपास्य = तिरस्कृत्य, यम् शान्तम् = उदासीनम्, शाश्वतम्=नित्यम्, अक्रियम् = निर्विकारम्, भूतेश्वरम् = जगन्नियन्तारम्, यान्ति = आश्रयन्ति, तम् पूरुषम् = परमात्मानम्, प्रस्तौमि = निरूपयामि । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

पुमानिति । अकर्ता = कर्तृत्वशून्यः, पुमान् = पुरुषः, कथमीश्वरो भवेत् ? तव मते ईश्वरत्वं कर्तृत्वाद्युपाधिविशिष्टम् । अतः कर्तृत्वाद्यभावे कथमपि नेश्वरत्व-सिद्धिरित्यर्थः । नन्वेवमीश्वराराधनं विना कथं संसारनिरासस्तत्राह—क्रिया = ज्योतिष्टोमादिरूपा सैव भवोच्छेदकरी = संसारनिवर्तिका, न वस्तुधीः = परमार्थ-

जिससे जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित रहता है, पुनः जिसमें लीन हो जाता है, जिसके प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है और जिसका तेज स्वाभाविक सुख प्रकाशाभिन्न है, विद्वान् लोग मुक्ति के लिए द्वैतविनाश कर जिस शान्त नित्य, निर्विकार जगन्नियन्ता का आश्रय लेते हैं, मैं उस पुरुष का निरूपण करती हूँ ॥ १४ ॥

अकर्ता पुरुष ईश्वर कैसे हो सकता है ? (ज्योतिष्टोमादिरूपा) क्रिया ही संसारनिवर्तिका है, वस्तुधी (अर्थात् परमार्थ तत्त्वज्ञान) नहीं । जीव । जीव

कुर्वन्क्रिया एव नरो भवच्छिदः
शतं समाः शान्तमना जिजीविषेत ॥ १५ ॥

तन्मे नातिप्रयोजनं भवत्याः परिग्रहेण तथापि यदि कर्तारं भोक्तारं पुरुष म् ्वन्तो भवती कियन्तं कालमत्र वस्तुमिच्छति । को दोषः ।

राजा—(सोपहासम्) अहो धूमान्धकारश्यामलितदृशो दुष्प्रज्ञत्वं यज्ञविद्यायाः येनैवं कुतर्कोपहता ।

अयः स्वभावादचलं बलाच्चल-
त्यचेतनं चुम्बकसंनिधाविव ।

सद्ब्रह्मज्ञानं न भवोच्छेदे हेतुरित्यर्थः । 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादिश्रुतेः । नरः = जीवः, भवच्छिदः = संसारविच्छेदिकाः, क्रियाः = कर्माणि, कुर्वन्नेव, शान्तमनाः = समाहितचित्तः सन् शतं समाः = वर्षाणि, जिजीविषेत् = जीवितुमिच्छेत् । तथा च श्रूयते—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्यादि । उपजातिर्वृत्तम्, वंशस्थेन्द्रवंशयोः संवलनात् ॥ १५ ॥

तन्म इति । परिग्रहेण = स्वीकारेण, संरक्षणप्रदानेनेत्यर्थः ।

राजेति । धूमान्धकारश्यामलितदृशः धूम एवान्धकारस्तेन श्यामलिते = मलिनीकृते, दृशौ=नेत्रे यस्यास्तादृश्याः । दुष्प्रज्ञत्वम्=दुर्विदग्धत्वम् । कुतर्कोपहता—कुतर्केण = असत्तर्केण, उपहता = विमोहिता ।

अयः स्वभावादिति । स्वभावाद् अचेतनम्, अतएव अचलम् = जडम्, अयः = लोहम्, चुम्बकसन्निधौ = चुम्बकसंनिकर्षे, इव = यथा, बलाद् = प्रसिद्ध-

भवोच्छेदक कर्म करता हुआ ही, शान्तमना ही सौ वर्ष तक जीते रहने की कामना करे ॥ १५ ॥

अतः मुझे तुम्हारे संरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता नहीं है; फिर भी यदि कर्ता भोक्ता पुरुष का स्तुति करती हुई तुम कुछ समय तक यहाँ रहना चाहो तो क्या दोष है ?

राजा—(उपहासपूर्वक) यज्ञधूम के अन्धकार से अन्धी आँखों वाली यज्ञविद्या की दुष्प्रज्ञता आश्चर्यजनक है, जिससे इस तरह वह बुरे तर्कों से विमोहित है ।

स्वभाव से अचेतन अत एव अचल लोह चुम्बक के संनिधान में जैसे बलात्

तनोति विश्वेक्षितुरीक्षितेरिता
जगन्ति मायेश्वरतेयमीशितुः ॥ १६ ॥

तस्मात्तमोऽन्धानामियमनीश्वरदृष्टिः । अबोधप्रभवं संसारं कर्मभिः शमयन्ती यज्ञविद्या नूनमन्धतमसमन्धकारेणापि निनीषति ।

स्वभावलीनानि तमोमयानि
प्र ाशयेद्यो भुवनानि सप्त ।

हेत्वन्तराभावेऽपीत्यर्थः, चलति = स्पन्दते, तथैव माया=मूलाविद्या, विश्वेक्षि ुः = विश्वसाक्षिण. परमात्मनः, ईक्षितेरिता—ईक्षितेन = दर्शनेन, ई रता = प्रेरिता, जगन्ति = विश्वानि, तनोति, इयम्, ईशितुः = ईश्वरस्य परमात्मनः, ईश्वरता = ऐश्वर्यम् । ईश्वरेक्षणप्रेरितमायाया एव सृष्टिकर्तृत्वं न त्वीश्वरस्येति भावः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ १६ ॥

तस्मादिति । तमोऽन्धानाम=यज्ञधूमान्धकारमलिनीकृतदृशाम्, अज्ञानिनाम् । अनीश्वरदृष्टिः = ईश्वराभावबुद्धिः । अबोधप्रभवम् = अज्ञानजातम् । कर्मभिः = यागादिभिः । शमयन्ती = अपनयन्ती, नूनम् = निश्चयेन, अन्धतमसम् = घारान्धकारम्, अन्धकारेण, अपनिनीषति – अपनेतुम् = तिरोधातुम् इच्छति । यथा तमस्तमो दूरीकर्तुं न शक्नोति तथैव क्रिया अज्ञानप्रभवं जगन्नाशयितुमशक्ता: ज्ञानेनैवाज्ञाननिवृत्तेरिति भावः ।

स्वभावलीनानि तमोमयानीति । स्वभावलीनानि—स्वभावेन लीनानि= नश्वराणि, तमोमयानि = अज्ञानस्वरूपाणि सप्तभुवनान=भूर्भुवस्वरादिलोकान् यः प्रकाशयेत् = स्वरूपप्रकाशेन प्रभासयेत् 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा

चल हो जाता है वैसे ही विश्वसाक्षी परमात्मा के ईक्षण से प्ररित माया (मूलाविद्या) विश्वसृष्टि करती है, यही ईश्वर की ईश्वरता है ॥ १६ ॥

इसलिए अज्ञानान्धों की यह अनीश्वरभावना है । अज्ञान से उत्पन्न संसार को कर्मद्वारा निवृत्त करने वाली यज्ञविद्या मानों अन्धकार को अन्धकार से हटाना चाहती है ।

स्वभाव से नश्वर, तमोमय (अर्थात् अज्ञानस्वरूप) सप्त भुवन को (स्वरूप प्रकाश से) जो प्रकाशित करे, उसी (स्वप्रकाश परमात्मा) को

तमेव विद्वानतिमृत्युमेति
नान्योऽस्ति पन्था भवमुक्तिहेतुः ॥ १७ ॥

पुरुषः—ततस्ततः ?

उपनिषत्—ततो यज्ञविद्यया विमृश्योक्तम् । सखि, त्वत्संनिकर्षाद् दुर्वासनापहतैरस्मदन्तेवासिभिः कर्मसु श्लथादरैर्भवितव्यम् । तत्प्रसीदतु भवती स्वाभिलषितदेशगमनाय ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततोऽहं तामतिक्रम्य प्रस्थिता ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः । तमेव = स्वप्रकाशं परमात्मानम्, विद्वान् = जानन्, अतिमृत्युम् = मृत्युमतिक्रान्तं परं ब्रह्म, एति = प्राप्नोति । भवमुक्तिहेतुः—भवः= संसारः, तस्मान्मुक्तिः, तस्या हेतुः, पन्थाः = मार्गः, उपाय इत्यर्थः, अन्यो नास्ति, 'तमेव विद्वानति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः । उपजाति-वृत्तम् ॥ १७ ॥

उपनिषदिति । विमृश्य = विचार्य । त्वत्संनिकर्षाद्–तव = उपनिषदः संनिकर्षाद् = संसर्गाद् । दुर्वासनोपहतैः = दुर्बुद्धिग्रस्तैः, अस्मदन्तेवासिभिः = अस्माकं शिष्यैः, श्लथादरैः = मन्दादरैः, स्वाभिलषितदेशगमनाय = स्वाभीष्ट-स्थानं गन्तुम्, प्रसीदतु = अनुगृह्णातु ।

तामतिक्रम्य = यज्ञविद्यां परित्यज्य । प्रस्थिता = अग्रे चलिता ।

जानकर विद्वान् लोग मृत्यु से छुटकारा पाते हैं । संसार से मुक्ति का दूसरा उपाय नहीं है ॥ १७ ॥

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—तब यज्ञविद्या ने विचार कर कहा–सखि, तुम्हारे संसर्ग से हमारे शिष्य दुर्वासना से ग्रस्त होकर कर्मों में अपना आदर कम कर देंगे । इस लिये तुम अपने अभीष्ट देश जाने की कृपा करो ।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—तब मैं उसे छोड़ कर चल पड़ी ।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—ततः कर्मकाण्डसहचरी मीमांसा मया दृष्टा—

विभिद्य कर्माण्यधिकारभाञ्जि
श्रुत्यादिभिश्चानुगता प्रमाणैः ।
अङ्गैर्विचित्रैरभियोजयन्ती
प्राप्तोपदेशैरतिदेशिकैश्च ॥ १८ ॥

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततोऽहं तामपि तथैवाश्रयमभ्यर्थितवती । अथ तयाप्युक्तास्मि भद्रे, किंकर्मासीति । ततो मया तदेवोक्तम् ।

यस्माद्विश्वमित्यादि पठितम् ।

विभिद्येति । अधिकारभाञ्जि-अधिकारम् = कर्मफलभागित्वरूपं, भजन्ते, तानि कर्माणि = ज्योतिष्टोमादीनि, विभिद्य = भेदेन ज्ञपयित्वा, फलभेदात्कर्मभेदं प्रतिपाद्येत्यर्थः, विचित्रैः = नानाभेदभिन्नैः, सन्निपत्यारादुपकारिभिः अङ्गैः प्राप्तोपदेशैः = साक्षादुपदिष्टैः, अतिदेशिकैश्च = अन्यत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धोऽतिदेशः, तेनापि प्रमाणेन प्राप्तैः, अभियोजयन्ती = उपकुर्वाणा, श्रुत्यादिभिः = श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यारूपैः, प्रमाणैश्च = षट्प्रमाणैश्च अनुगता = युक्ता, मीमांसा मया दृष्टेति पूर्वोक्तेनान्वयः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १८ ॥

उपनिषदिति । तामपि = मीमांसामपि । तथैव = यथा यज्ञविद्यां तथा । आश्रयमभ्यर्थितवती = आश्रयं याचितवती । तयाप्युक्तास्मि = यथा यज्ञविद्या तथैव सा मीमांसा मामपृच्छदित्यर्थः । किंकर्मासि = तव किं कर्म । ततः = तदनन्तरम् । मया = उपनिषदा । तदेवोक्तम् = पूर्वोक्तमेवोत्तरं दत्तम् ।

उपनिषत्—तत्र कर्मकाण्डसहचरी मीमांसा मुझे मिली ।

जो कर्मफल भेद से कर्मों का विभाजन कर, श्रुत्यादिषड्विध प्रमाणों से अनुगत हो उपदेशों और अतिदेशों के द्वारा विचित्र (विविध) अङ्गों से युक्त थी ॥ १८ ॥

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषद्—इसके बाद उस (मीमांसा) से भी उसी प्रकार आश्रय की याचना की । उसने भी मुझसे कहा—'भद्रे, तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है ? तब मैंने वही कहा, 'यस्माद्विश्वमित्यादि' पढ़ा ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततो मीमांसया पार्श्ववर्तिनां मुखमालोक्याभिहितम् । अस्त्येवास्माकमस्याः लोकान्तरफलोपभोगयोग्यपुरुषोपनयनेनोपयोगः । तत्क्रियतामेषा कर्मोपयुक्ता । तत्र तेषामन्तेवासिनां मध्ये केनाप्यन्तेवासिनैतदनुमोदितमेव । अपरेण तु प्रसिद्धप्रतिष्ठेन मीमांसाहृदयाधिदैवतेन कुमारिलस्वामिनैवं प्रोक्तं देवि, नेयं कर्मोपयुक्तं पुरुषमुपनयति, किंतु अकर्तारमभोक्तारमीश्वरम् । न चासावीश्वरः कर्मसूपयुज्यते ।

पार्श्ववर्तिनाम् = समीपस्थानाम् । अभिहितम् = उक्तम् ।

किमभिहितं तदाह—अस्त्येवेति । अस्याः = उपनिषदः, लोकान्तरफलोपभोगयोग्यपुरुषोपनयनेन—लोकान्तरफलम् = स्वर्गसुखादिरूपम्, तस्य उपभोगे योग्यस्य पुरुषस्य = चेतनस्य स्थिरस्य च पुरुषस्य, उपनयनेन = प्रतिपादनेन, उपयोगः = प्रयोजनम् (अस्त्येव) । तत् = तस्मात्, एषा = उपनिषत्, कर्मोपयुक्ता क्रियताम् = कर्मणि नियुक्ता क्रियताम् । केनाप्यन्तेवासिना=प्रभाकरेणेत्यर्थः, अनुमोदितमेव=साधु इति स्वीकृतमेव, तस्य ज्ञानकर्मसमुच्चयवादित्वादिति भावः । अपरेण = अन्येन, प्रसिद्धप्रतिष्ठेन—प्रसिद्धा=ख्याता, प्रतिष्ठा यस्य तेन । मीमांसाहृदयाधिदैवतेन—मीमांसाया हृदयस्य = तत्त्वस्य, अधिदैवतेन = अधिष्ठातृदेवतया, मीमांसारहस्यविदेत्यर्थः । कुमारिलस्वामिना = भट्टाचार्येण, प्रोक्तम्=प्रतिपादितम् । किं प्रोक्तं तदाह—देवीति । इयम् = उपनिषत् । उपनयति = प्रतिपादयति । अकर्तारम्, अभोक्तारमीश्वरम् = यः कर्ता न भोक्ता तादृशमीश्वरं प्रतिपादयतीत्यर्थः । असौ = अकर्ता अभोक्ता च । ईश्वरः, कर्मसु = यागादिषु, नोपयुज्यते =

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—इसके बाद मीमांसा ने पार्श्ववर्त्तियों का मुख देखकर कहा—लोकान्तर में (स्वर्गादि सुख रूप) फल का उपभोग करने योग्य (चेतन और स्थिर) पुरुष का प्रतिपादन करने से इसका हमारे लिए उपयोग है, अतः इसे कर्म में लगा दो । वहाँ उन शिष्यों में से किसी शिष्य ने इसका अनुमोदन भी किया । दूसरे प्रसिद्ध प्रतिष्ठ, मीमांसा हृदय के अधिदेवता (अर्थात् मीमांसारहस्यविद्) कुमारिलस्वामी ने ऐसा कहा—देवि, यह कर्मोपयुक्त पुरुष का यह प्रतिपादन नहीं करती है, किन्तु अकर्ता, अभोक्ता ईश्वर का (प्रतिपादन करती है)।

ततोऽपरेणोक्तम् । अथ किं लौकिकात्पुरुषादन्य ईश्वरो नामास्ति । ततस्तेन विहस्य पुनरुक्तम् । अस्ति । तथाहि—

एकः पश्यति चेष्टितानि जगतामन्यस्तु मोहान्धधी-
रेकः कर्मफलानि वाञ्छति ददात्यन्यस्तु तान्यर्थिने ।
एकः कर्मसु शिष्यते तनुभृतां शास्तैव देवोऽपरो
निःसङ्गः पुरुषः क्रियासु स कथं कर्तेति संभाव्यते ॥ १९ ॥

नाधिक्रियते । अपरेण = प्रभाकरमतानुयायिना शालिनाथेन । किं तेनोक्तं तदाह–अथेति । लौकिकात् पुरुषात्=लोकान्तरफलभोक्तुः पुरुषात् । तेन=कुमारिलस्वामिना । विहस्य=स्वर्गार्हो जीव एवेश्वरो न तदन्य इति मन्यमानं शालिनाथं तिरस्कृत्येत्यर्थः । कुमारिलस्वामिना किं पुनरुक्तं तदाह–अस्ति (जीवादन्य ईश्वर इति शेषः) ।

कुमारिलस्वामिनेश्वरस्याकर्तृत्वमुपपाद्यते—एक इत्यादिना । एकः = ईश्वरः, जगताम्, चेष्टितानि = कर्माणि, पश्यति विश्वसाक्षित्वादिति भावः । तु = पुनः, अन्यः = जीवात्मा (चेष्टितकर्तृतया) मोहान्धधीः = मोहावृतज्ञानः । (उक्तं च गीतायाम्–'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इति) । एकः = जीवात्मा, कर्मफलानि = पुत्रादीनि, वाञ्छति = कामयते । तु = पुनः, अन्यः = ईश्वरः, तानि = कर्मफलानि, अर्थिने = कर्मफलाभिलाषवते ददाति । एकः = जीवात्मा, कर्मसु = ज्योतिष्टोमादिषु, शिष्यते = नियोज्यते, आज्ञाप्यत इत्यर्थः, अपरः देवः = ईश्वरः, तनुभृताम् = प्राणिनाम्, शास्ता = नियन्ता एव । निःसङ्गः=सङ्गरहितः, ('असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादिश्रुतेः), पुरुषः = परमात्मा, सः, क्रियासु = कर्मसु कर्ता इति कथं सम्भाव्यते, न कथमपि संभावयितुं शक्यते इत्यर्थः ॥ १९ ॥

और वैसा पुरुष कर्मोपयोगी नहीं होता । तब दूसरे ने कहा–क्या लौकिक (लोकान्तरफलभोक्ता) पुरुष से अन्य ईश्वर है ? तब हँस कर उसने पुनः कहा है, जैसे—

एक संसार के कर्मों को (विश्वसाक्षितया) देखा करता है, किन्तु दूसरा (जीवात्मा) मोहान्धबुद्धि है । एक (अर्थात् जीवात्मा) कर्मफल की कामना रखता है किन्तु दूसरा (ईश्वर) कर्मफलार्थी के लिए उन कर्मफलों को देता है । एक (जीवात्मा) को कर्मोपदेश किया जाता है किन्तु दूसरा देव (ईश्वर) प्राणियों का नियन्ता ही है (अर्थात् प्राणियों को उपदेश देता है) । इस प्रकार एक निःसङ्ग पुरुष कर्मों का कर्ता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? ॥ १९ ॥

राजा—(सहर्षम्) साधु कुमारिलस्वामिन्, साधुप्रज्ञोऽस्यायुष्मन्,

द्वौ तौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ
समानवृक्षं परिषस्वजाते।
एकस्तयोः पिप्पलमत्ति पक्व-
मन्यस्त्वनश्नन्नभिचाकशीति ॥ २० ॥

पुरुषः—ततस्ततः।
उपनिषत्—ततोऽहं मीमांसामभिमन्त्र्य प्रस्थिता।

LIBRARY 15480 SRINGERI

राजेति। साधुप्रज्ञोऽसि = उत्कृष्टबुद्धिरसि, सम्यग्जानासि वेदान्तरहस्यमिति भावः।

द्वाविति। तौ = प्रसिद्धौ, द्वौ = जीवात्मपरमात्मानौ, सुपर्णौ–सुष्ठु पर्णम् = गतिर्ययोस्तादृशौ, अव्याहतज्ञानावित्यर्थः, ('पर्णं गतौ सहाये च पतत्राङ्करुहेषु च' इति विश्वः) सयुजौ = सहयोगिनौ, सखायौ = परस्परानुकूलौ, समानवृक्षम् = एकं वृक्षम् = शरीरम्, परिषस्वजाते = आलिङ्गितवन्तौ, आश्रितवन्तावित्यर्थः। तयोः = जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये, एकः = जीवात्मा, पक्वं पिप्पलम् = कर्मफलम्; अत्ति = भुङ्क्ते, अन्यः = ईश्वरः, अनश्नन् = अभुञ्जानः, अभिचाकशीति = प्रकाशते। उपजातिर्वृत्तम् ॥ २० ॥

उपनिषदिति। अभिमन्त्र्य=अन्यत्र गमनाय मीमांसामापृच्छ्य। प्रस्थिता = चलिता। शिष्यैः = अन्तेवासिभिः, उपास्यमानाः = सेव्यमानाः, तर्कविद्याः = योगसांख्यन्यायवैशेषिकविद्याः।

राजा—बहुत ठीक कुमारिलस्वामिन्, आयुष्मन्! तुम साधुप्रज्ञ हो (अर्थात् वेदान्त का रहस्य भली प्रकार जानते हो)।

वे दो (जीवात्मा और परमात्मा) परस्पर सहयोगी एवम् सखाभाव को प्राप्त सुन्दर पक्षी हैं जो एक ही (देहरूप) वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें एक (जीवात्मा) (कर्मफलरूप) पक्व पिप्पल फल खाता है और दूसरा (ईश्वर) विना खाये प्रकाशमान रहता है (अर्थात् साक्षिरूपेण देखता रहता है) ॥२०॥

पुरुष उसके बाद?

उपनिषत्—तब मैं मीमांसा से पूछ कर चल पड़ी।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—ततो मया बहुभिः शिष्यैरुपास्यमानास्तर्कविद्या अवलोकिताः ।

काचिद् द्वित्वविशेषकल्पनपरा न्यायैः परा तन्वती
वादं सच्छलजातिनिग्रहमयैर्जल्पं वितण्डामपि ।
अन्या तु प्रकृतेर्विभज्य पुरुषस्योदाहरन्ती भिदां
तत्त्वानां गणनापरा महदहंकारादिसर्गक्रमैः ॥ २१ ॥

काचिदिति । काचिद् = वैशेषिकविद्या, द्वित्वविशेषकल्पनपरा — द्वित्वस्य = 'अयमेकः अयमेकः इतीमौ द्वौ' एतादृशापेक्षाबुद्धिजन्यस्य द्वित्वस्य, विशेषस्य = 'अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः' इति लक्षितस्य विशेषाख्यपञ्चमपदार्थस्य, कल्पने = निरूपणे, परा = संसक्ता, परा=गौतमप्रणीता न्यायविद्या, सच्छलजातिनिग्रहमयैः- छलम् = अर्थान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरवर्णनम्, तेन सहितं यथा स्यात्तथा, जातिः = असदुत्तरम्, निग्रहः = पराहंकारनिराकरणम्, तन्मयैः = तत्प्रचुरै, न्यायैः = पञ्चावयवानुमानवाक्यैः, वादम् = तत्त्वबुभुत्सुकथाम्, जल्पम् = विजिगीषुकथाम्, वितण्डाम् = परपक्षदूषणावसानां कथामपि, तन्वती = विस्तारयन्ती, अन्या तु = सांख्यविद्या, प्रकृतेः = मूलप्रकृते, पुरुषस्य भिदाम् = भेदम्, विभज्य उदाहरन्ती = प्रतिपादयन्ती महदहंकारादिसर्गक्रमैः—महदहङ्कारादीनां सर्गः = सृष्टिः, तत्क्रमैः, तत्त्वानाम् = पञ्चविंशतितत्त्वानां गणनापरा— गणना = संख्या, तस्यां परा = लग्ना, 'पञ्चविंशतिरात्मा भवति' इति श्रुतेः । पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रसिद्धानि । 'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चतन्मात्रेभ्यो भूतानि, भूतेभ्योऽखिलं जगत्' इति सर्गक्रमः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २१ ॥

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—तब मैंने बहुत से शिष्यों से उपास्यमान तर्कविद्याओं को देखा । (उनमें) कोई द्वित्व और विशेष के निरूपण में संसक्त थी, कोई छलपूर्वक जाति (असदुत्तर) और निग्रह (पराहंकारनिराकरण) प्रधान न्यायों (पञ्चावयवानुमानवाक्यों) के द्वारा वाद, जल्प और वितण्डा का विस्तार कर रही थी, और कोई मूलप्रकृति से पृथक् कर पुरुष की भिन्नता का प्रतिपादन करती हुई, महत्—अहङ्कार आदि सृष्टिक्रमानुसार तत्त्वों की गणना में संलग्न थी ॥२१॥

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—तथैवाहं ताः समुपस्थिताः । ताभिश्चानुयुक्तया मया तदेव कर्मोदाहृतम् । यस्माद्विश्वमित्यादि । ततस्ताभिः सप्रकाशोपहासमुक्तम्—आः वाचाले, परमाणुभ्यो विश्वमुत्पद्यते । निमित्तकारणमीश्वरः । अन्यया तु सक्रोधमुक्तम्—आः पापे, कथमीश्वरमेव विकारिणं कृत्वा विनाशधर्मिणमुपपादयसि । ननु रे प्रधानाद्विश्वोत्पत्तिः ।

राजा—अहो दुर्मतयस्तर्कविद्या एतदपि न जानन्ति । सर्वं प्रमेयजातं घटादिवत्कार्यमिति परमाणुप्रधानोपादानकारणमप्यपेक्षणीयमेवेति । तथाहि—

उपनिषदिति । तथैव = मीमांसामिव । अनुयुक्तया = अनुयुक्ता = पृष्टा, तया । कर्मोदाहृतम् = कार्यमुक्तम् । सप्रकाशोपहासम् = स्पष्टोपहाससहितं यथा स्यात्तथा । आः इति कोपे । वाचाले=अनुपयुक्तभाषिणि । परमाणुभ्यो जगदुत्पद्यते—अतस्त एवोपादानभूता इत्यर्थः । निमित्तकारणमीश्वरः—घटं प्रति कुलालवदीश्वरः कर्तृत्वाज्जगत्प्रति निमित्तकारणमिति भावः । अन्यया = सांख्यविद्यया । कथमीश्वरमेव विकारिणं कृत्वा विनाशधर्मिणमुपपादयसि—ब्रह्मण उपादानत्वे विकारित्वापत्तौ विनश्वरत्वप्रसङ्ग इति तदुक्तेराशयः । प्रधानात् = प्रकृतेरेवोपादानात् ।

राजेति । दुर्मतयः = कुबुद्धयः । सर्वं प्रमेयजातमित्यादिः—अयमाशयः—परमाणूनां दृश्यत्वेन कार्यत्वात्तदुपादानवादो न सङ्गच्छते । ईश्वरस्य निमित्त-

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—उसी प्रकार मैं उनके पास भी गयी । उनके पूछने पर मैंने वही 'यस्माद्विश्वमित्यादि' अपना कर्म बताया । तब उन लोगों ने स्पष्ट उपहासपूर्वक कहा—अरी बहुभाषिणि, विश्व की उत्पत्ति परमाणुओं से होती है । ईश्वर तो उसमें निमित्त कारण है । दूसरी ने सक्रोध कहा—आः पापाचारे, तू क्यों ईश्वर को ही विकारयुक्त बता कर विनश्वर बना रही है । विश्व की उत्पत्ति तो प्रधान (प्रकृति) से होती है ।

राजा—ओह ! मूर्ख तर्कविद्याएँ यह भी नहीं जानती हैं । सभी प्रमेय

अम्भःशीतकरान्तरिक्षनगरस्वप्नेन्द्रजालादिवत्
कार्यं मेयमसत्यमेतदुदयध्वंसादियुक्तं जगत् ।
शुक्तौ रूप्यमिव स्रजीव भुजगः स्वात्मावबोधे हरा-
वज्ञाते प्रभवत्यथास्तमयते तत्त्वावबोधोदयात् ॥ २२ ॥

कारणत्व च 'यतो वा' इत्याद्यभिन्ननिमित्तापादानत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधादयुक्तम् । प्रधानस्याचेतनत्वे 'तदैक्षत' इत्यादिचेतनोपादानत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् प्रधानोपादानवादोऽप्ययुक्तः । तस्मादात्मन एवोपादानकारणत्वं स्वीकर्त्तव्यम् । न चैवमात्मनो विकारित्वापत्तिरिति वाच्यम्, अधिष्ठातृत्वेनाऽविकारित्वस्योपपादनीयत्वादिति ।

अम्भःशीतकरेति । एतत् = दृश्यमानम्, जगत्, मेयम् = ज्ञानगोचरम्, जगतो जडत्वेनास्वप्रकाशतया ज्ञानविषयत्वम्, तस्मादिदं कार्यम्, कार्यत्वात् उदयध्वंसादियुक्तम् = उत्पत्तिविनाशशीलम्, अम्भःशीतकरान्तरिक्षनगरस्वप्नेन्द्रजालादिवत् असत्यम्—अम्भःशीतकरः = जलचन्द्रः, अन्तरिक्षनगरम् = गन्धर्वनगरम्, यदाकाशेऽवलोक्यमस्थायि च भवति, स्वप्नः, इन्द्रजालः = मायामन्त्रादिनाऽन्यथावस्तुनोऽन्यथाप्रदर्शनम्, आदिपदेनान्ये भ्रमाः, तद्वत् असत्यम्, यथा जलचन्द्रादयो भासन्त एव, न ते वास्तवाः, तथैवेदं जगदपि न वास्तवमिति भावः ।

स्वात्मावबोधे = स्वप्रकाशे, हरौ = परब्रह्मणि, अज्ञाते, शुक्तौ रूप्यमिव = रजतमिव, स्रजि = मालायाम्, भुजग इव = सर्प इव, प्रभवति = उत्पद्यते । अथ तत्त्वावबोधोदयात् = अद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारोदयात्, अस्तमयते = विलयं याति । यथा मालाऽज्ञाने शुक्त्यज्ञाने च सर्परजते उत्पद्येते, मालाशुक्त्योश्च ज्ञानादुभयं विलीयते तथैवात्मनोऽज्ञाने जगद् विवर्तते, आत्मज्ञानाद्विलीयत इति भावः । उपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

घटादि की तरह कार्य होते हैं अतः परमाणु और प्रकृति को भी उपादान कारण की अपेक्षा होगी ही । क्योंकि—

यह दृश्यमान जगत् (जड और स्वप्रकाशरहित होने से) मेय (ज्ञानगोचर) है, अतः कार्य है, (कार्य होने से) उत्पत्तिविनाशशील है, जलचन्द्र, गन्धर्वनगर, स्वप्न, इन्द्रजालादि की तरह असत्य है । यह, स्वप्रकाश परब्रह्म का ज्ञान न होने तक सीप में चांदी, माला में सर्प की तरह उत्पन्न होता है और तत्त्वावबोध हो जाने पर विलीन हो जाता है ॥ २२ ॥

विकारशङ्का तु मुग्धवधूविकल्पविलसितमिव। तथाहि—

शान्तं ज्योतिः कथमनुदितानस्तनित्यप्रकाशं
विश्वोत्पत्तौ व्रजति विकृतिं निष्कलं निर्मलं च।
शश्वन्नीलोत्पलदलरुचामम्बुवाहावलीनां
प्रादुर्भावे भवति नभसः कीदृशो वा विकारः॥ २३॥

पुरुषः—साधु साधु, प्रीणयति मानसं ममायं प्रज्ञावतो विमर्शः। (उपनिषदं प्रति) ततस्ततः।

विकारशङ्केति। मुग्धवधूविकल्पविलसितमिव—मुग्धवधूनाम् = बालवनितानाम्, विकल्पः = वचनानि, तस्य विलसितमिव, अविमृश्यवचनमिवेत्यर्थः।

तमेव विकाराभावं प्रदर्शयति—शान्तमित्यादिना। शान्तम् = निर्विकारम्, ज्योतिः = प्रकाशस्वरूपम्, अनुदितः = अनुत्पन्नः, अनस्तः = कदाचिदपि न नाशं गतः, अतएव नित्यः यः प्रकाशः, तद्रूपम्, निष्कलम् = निरंशम्, निर्मलं च = स्वभावशुद्धं च ब्रह्म, विश्वोत्पत्तौ = जगत्सृष्टौ, कथं विकृतिम्=विकारम्, व्रजति = प्राप्नोति। न कथमपीति भावः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति—शश्वदिति। शश्वत् = निरन्तरम्, नीलोत्पलदलरुचाम्—नीलोत्पलदलवत् रुक् = कान्तिः यासां तासाम्, अम्बुवाहावलीनाम् = मेघपङ्क्तीनाम्, प्रादुर्भावे=उत्पत्तौ, नभसः= आकाशस्य कीदृशो वा विकारः भवति, अपि तु नेत्यर्थः। अतो विकारशङ्काऽविमृश्य वचनमिति पूर्वोक्तं युक्तियुक्तमेवेति भावः। प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः। एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥' इति॥ मन्दाक्रान्ता वृत्तम्॥ २३॥

पुरुष इति। प्रज्ञावतः = बुद्धियुक्तस्य, राज्ञो विवेकस्येत्यर्थः। अयं विमर्शः= विचारः। मम = पुरुषस्य। मानसम् = हृदयम्। प्रीणयति = संतोषयति।

(ईश्वर में) विकारशङ्का तो बालवनिताओं के वचन-विलास की ही तरह (अर्थात् तथ्यहीन) है। क्योंकि—

निर्विकार, प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अविनाशी, नित्यप्रकाशरूप निष्कल निर्मल ब्रह्म विश्वोत्पत्ति में विकृत कैसे हो जायगा ? सतत नीलोत्पलदलसदृश श्याम मेघों के प्रादुर्भूत होने पर आकाश में क्या विकार आ जाता है ?॥ २३॥

पुरुष—साधु साधु, बुद्धिमान् (राजा विवेक) का यह विचार मेरे हृदय को प्रसन्न कर रहा है। (उपनिषद् के प्रति) उसके बाद ?

उपनिषत्—ततस्ताभिः सर्वाभिरेव क्रुद्धाभिरुक्तम्—अहो, विश्वविलयेन मुक्तिमेषा वदन्ती नास्तिकपथं प्रस्थिता निगृह्यतामिति। ततः ससंरम्भं मां निग्रहीतुं प्रधाविताः सर्वाः।

पुरुषः—(सत्रासम्) ततस्ततः।

उपनिषत्—ततोऽहं सत्वरतरं परिक्रम्य दण्डकारण्यं प्रविष्टा। ततो मन्दारशैलोपकल्पितस्य मधुसूदनायतनस्य नातिदूरे—

बाह्वोर्भग्ना दलितमणयः श्रेण्यः कङ्कणानां
चूडारत्नग्रहनिकृतिभिर्दूषितः केशपाशः।
इत्याद्यवस्था मम संजाता।

पुरुषः—ततस्ततः।

उपनिषदिति विश्वविलयेन = जगतो मिथ्यात्वज्ञानेन। एषा = उपनिषत्। नास्तिकपथम् = वेदनिन्दितमार्गम्। निगृह्यताम् = बध्यताम्। ससंरम्भम् = सक्रोधम्।

सत्वरतरम् = अतिशीघ्रम्। परिक्रम्य =धावित्वा। मन्दारशैलोपकल्पितस्य= मन्दारपर्वतसमीपे निर्मितस्य। मधुसूदनायतनस्य = विष्णुमन्दिरस्य। नातिदूरे = समीपे।

बाह्वोर्भग्ना इति। अस्मिन्नेवाङ्के नवमे श्लोके व्याख्यातमिदमिति तत्रैव द्रष्टव्यम्। देवायतनात्=विष्णुमन्दिरात्। दिगन्तमतिक्रान्ताः=दिशामन्तं पलायिता।

उपनिषत्—तब उन सब ने क्रुद्ध होकर कहा—विश्वविलय (जगत् के मिथ्यात्वज्ञान) से मोक्ष को कहने वाली यह नास्तिक पथ को जा रही है, इसे निगृहीत करो। इस पर क्रोध पूर्वक सभी मुझे निगृहीत करने के लिए दौड़ पड़ीं।

पुरुष—(भय पूर्वक) उसके बाद ?

उपनिषत्—तब मैं जल्दी से दौड़कर दण्डक वन में पैठ गयी, फिर वहाँ से मन्दार पर्वत पर बने मधुसूदन के मन्दिर के निकट—

मेरे हाथों के कङ्कणों की मणियाँ टूट-फूट गयीं। चूडामणि के अपहरण रूप तिरस्कार से केशपाश शोभा-रहित हो गया। इत्यादि मेरी अवस्था हो गयी।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—ततो देवायतनान्निर्गत्य गदापाणिभिः पुरुषैरतिनिर्दयं ताड्यमानास्ता दिगन्तमतिक्रान्ताः सर्वाः ।

राजा—(सहर्षम्) न खलु भवतीमतिक्रामतो भगवान् विश्वसाक्षी क्षमते ।

पुरुषः—ततस्ततः ।

उपनिषत्—

छिन्ना मुक्तावलिरपहृतं स्रस्तमङ्गाद् दुकूलं
भीता गीताश्रममथ गलन्नूपुराहं प्रविष्टा ॥ २४ ॥

तत्र वत्सया गीतया मां तत्रागतामालोक्य ससंभ्रमं मातर्मातरिति परिरभ्योपवेशितास्मि । विदितवृत्तान्तया तया चोक्तम् । अम्ब, नात्र

छिन्नेति । मुक्तावलिः = मुक्ताहारः, छिन्ना = त्रोटिता, अङ्गात् = शरीरात्, स्रस्तम् = स्खलितम्, दुकूलम् = उत्तरीयवस्त्रम्, अपहृतम् = केनापि गृहीतम्, अथ = अनन्तरम् । भीता = त्रस्ता, गलन्नूपुरा = गलन्तौ = धावनवशात् स्खलन्तौ नूपुरौ यस्यास्तादृशी, अहम्, गीताश्रमम् = गीतायाः=स्वपुत्र्याः, आश्रमं प्रविष्टा । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २४ ॥

तत्र वत्सयेति । वत्सया = पुत्र्या, गीताया उपनिषन्मूलत्वादिति भावः । मातर्मातरिति संभ्रमाद्द्विरुक्तिः, उक्त्वेति शेषः । परिरभ्य = आलिङ्ग्य । विदितवृत्तान्तयाविदितम् = ज्ञातम्, वृत्तान्तम् = समाचारः यया तया ।

उपनिषत्—इसके बाद गदापाणि पुरुषों ने मन्दिर से निकल कर उन सबों को अतिनिर्दयता पूर्वक पीटना प्रारम्भ किया और ये सब दिगन्त को भाग गयीं ।

राजा—(हर्ष से) आप पर अतिक्रमण करने वालों को विश्वसाक्षी भगवान् क्षमा नहीं करते हैं ।

पुरुष—उसके बाद ?

उपनिषत्—

मेरी मोती-माला टूट गयी, शरीर से खिसके उत्तरीय वस्त्र को (किसी ने) ले लिया । तब डरी हुई मैं पतितनूपुरा हो गीताश्रम में प्रविष्ट हो गयी ॥ २४ ॥

वहाँ वत्सा गीता ने मुझे आयी देखकर हड़बड़ा कर मातः ! मातः ! कहती हुई लिपट कर बैठाया । सारा समाचार जान कर उसने कहा–माँ, यहाँ मन को दुःखी करने की आवश्यकता नहीं है । आसुरी प्रकृति को प्राप्त जो लोग तुम्हें

खेदयितव्यं मनः। ये खलु त्वामप्रमाणीकृत्य यथेष्टमसुरसत्त्वाः प्रचरिष्यन्ति तेषामीश्वर एव शास्ता। उक्तं च तेन भगवता तानधिकृत्य। तथा च गीतायाम्—'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' इति।

पुरुषः—(सकौतुकम्) देवि, त्वत्प्रसादाज्ज्ञातुमिच्छामि कोऽयमीश्वरो नामेति।

उपनिषत्—(सकोपमिव) को नामात्मानमजानन्तमन्धमिव प्रत्युत्तरं दास्यति।

पुरुषः—(सहर्षम्) कथमहमात्मा पुरुषः परमेश्वरः।

अप्रमाणीकृत्य = तिरस्कृत्येत्यर्थः। असुरसत्त्वाः = असुराणाम् = दैत्यानामिव सत्त्वम् = चेतो येषां तादृशा जनाः। यथेष्टम् = यथेच्छम्, प्रचरिष्यन्ति = प्रवर्तिष्यन्ते। शास्ता = दण्डकर्ता।

तानहमिति। अहम् = ईश्वरः, तान् क्रूरान्, द्विषतः = द्वेषयुक्तान्, नराधमान्, अशुभान् संसारेषु आसुरीष्वेव योनिषु, अजस्रम् = सततम्, क्षिपामि। नास्ति तेषां संसारान्मुक्तिः कदापीति भावः।

को नामेति। आत्मानम् = स्वं रूपम्। स्वं रूपमजानतस्तव, स्वविषये प्रश्नस्तथैव यथा कोऽप्यन्धः किं स्वरूपोऽहमिति पृच्छेदिति भावः।

अप्रमाण मान कर मनमाना आचरण करेंगे उनका शासक भगवान् ही है। उनके विषय में उन भगवान् ने गीता में ऐसा कहा है—'द्वेष करने वाले नराधम दुष्ट उन क्रूर जनों को मैं संसार की आसुरी योनियों में ही निरन्तर डालता रहता हूँ।'

पुरुष—(कौतुक से) देवि, तुम्हारी कृपा से जानना चाहता हूँ कि यह ईश्वर कौन है?

उपनिषत्—(कुपित-सी होकर) अपने को न जानने वाले अन्धे को कौन प्रत्युत्तर दे पायेगा (अर्थात् अपने स्वरूप को न जानने वाले तुम्हारा, अपने ही विषय में यह प्रश्न वैसा ही है जैसे कोई अन्धा पूछे कि मेरा स्वरूप कैसा है)।

पुरुष—(सहर्ष) क्या मैं आत्मा पुरुष परमेश्वररूप हूँ?

उपनिषत्—एवमेतत् । तथाहि—

असौ त्वदन्यो न सनातनः पुमान्
भवान्न देवात्पुरुषोत्तमात्परः ।
स एष भिन्नस्त्वदनादिमायया
द्विधेव बिम्बं सलिले विवस्वतः ॥ २५ ॥

पुरुषः—(विवेकं प्रति) भगवन्, उक्तमप्यर्थं भगवत्या न सम्यगवधारयामि ।

अवच्छिन्नस्य भिन्नस्य जरामरणधर्मिणः ।

असाविति । असौ = अपरोक्षः, सनातनः = नित्यः, पुमान् = परमेश्वरः, त्वदन्यो न = त्वत्तोऽन्यः = भिन्नो न (भवति) । भवान् = जीवः, पुरुषोत्तमात् देवात् = परमात्मनः, परो न = भिन्नो न (भवति) 'तत्त्वमसि' इति श्रुत्या द्वयोरैक्यात् । स एषः = परमात्मा, अनादिमायया, त्वत् = त्वत्तः, भिन्नः = पृथक् (प्रतीयते) सलिले = जले, विवस्वतः = सूर्यस्य, द्विधा = द्वित्वं गतम्, विम्बमिव = मण्डलमिव । यथैकमपि सूर्यविम्वं तरङ्गवशाद् द्विधा प्रतीयते तथैव परमेश्वरादभिन्नोऽपि जीवोऽनादिमायावशाद्भिन्न इव प्रतीयत इति भावः । उपमाऽलङ्कारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ २५ ॥

अवच्छिन्नस्येति । इयम् = एषा, देवी = उपनिषत्, अवच्छिन्नस्य = लिङ्गदेहाद्यवच्छिन्नस्य, परिच्छिन्नस्येति यावत् । (अत एव) भिन्नस्य = प्रतिशरीरं भेदबुद्ध्या गृहीतस्य, जरामरणधर्म्मिणः—जरामरणे धर्मौ यस्येति

उपनिषत्—हाँ ऐसा ही है । क्योंकि—

वह (अपरोक्ष) नित्य परमेश्वर तुम से भिन्न नहीं और न तुम परमेश्वर से भिन्न हो । यह ईश्वर अनादि माया के कारण तुम से भिन्न प्रतीत होता है जैसे एक ही सूर्य का विम्व जल में (तरङ्ग भेद से) भिन्न भिन्न-सा प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

पुरुष—(विवेक के प्रति) भगवन्, भगवती (उपनिषत्) की कही हुई भी बात को मैं ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ ।

यह देवी (उपनिषत्) मुझ-जैसे परिच्छिन्न, भिन्न (अर्थात् प्रतिशरीर

मम ब्रवीति देवीयं सत्यानन्दचिदात्मताम् ॥ २६ ॥

विवेकः—पदार्थानवज्ञानाद्वाक्यार्थो नावगम्यते । आर्येणोक्तं तत्सत्यमेव ।

पुरुषः—तदवबोधाय भगवानुपायमाज्ञापयतु ।

विवेकः—अयमुच्यते—

एषोऽस्मीति विविच्य नेतिपदतश्चित्तेन सार्धं कृते
तत्त्वानां विलये चिदात्मनि परिज्ञाते त्वमर्थे पुनः ।

तादृशस्य मम सत्यानन्दचिदात्मताम्—सत्यानन्दज्ञानस्वरूपताम्, ब्रवीति = निरूपयति, तन्न प्रतीयते इत्यर्थः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २६ ॥

विवेक इति । पदार्थानवज्ञानात्—तत्त्वं पदार्थयोः सम्यक् अनवबोधात् ।

वाक्यार्थः—तत्त्वमस्यादि महावाक्यस्यार्थः । नावगम्यते—न प्रतीयते ।

पुरुष इति । तदवबोधाय—तस्य = तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्य जीवपरमात्मनोऽभेदरूपस्य, अवबोधाय = सम्यक् ज्ञानाय । भगवान् = विवेकः । आज्ञापयतु = कथयतु ।

एषोऽस्मीति । नेतिपदतः = नेति नेतीति श्रुत्या, चित्तेन सार्धम् = अंतःकरणेन सहितम्' विविच्य = अयमन्तःकरणांशः, अयमात्मांश इति विभज्येत्यर्थः, एषोऽस्मीति, तत्त्वानाम् = भूतानाम् उपसंहारेण स्वात्मना विलये कृते, तत्त्वं पदार्थयोः शोधने कृते सतीति यावत् । पुनः तदनन्तरम्, चिदात्मनि = तत्पदार्थे

भेद-बुद्धि से गृहीत), जरामरण धर्मी जीव को सत्य-आनन्द चित्स्वरूप बता रही है ॥ २६ ॥

विवेक—बिना पदार्थ जाने वाक्यार्थ समझ में नहीं आता है । आप ने जो कहा है वह ठीक ही है ।

पुरुष—तो उसके जानने का आप उपाय बताएँ ।

विवेक—यह (उपाय) कह रहा हूँ—

'एषोऽस्मि' 'नेति' इत्यादि पदों से चित्तापेक्षया विवेक करके सब तत्त्वों के विलय का ज्ञान करने पर (अर्थात् अध्यारोप और अपवाद से ब्रह्म और जीव के वास्तविक सम्बन्ध को जान लेने पर) चिदात्मा (तत्पदार्थ) और जीवात्मा

श्रुत्वा तत्त्वमसीति बाधितभवध्वान्तं तदात्मप्रभं
शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरुदितानन्दः समुद्द्योतते ॥ २७ ॥

पुरुषः—(सानन्दम्) श्रुतमर्थं परिभावयति ।

(ततः प्रविशति निदिध्यासनम्)

निदिध्यासनम्—आदिष्टोऽस्मि भगवत्या विष्णुभक्त्या । यथा निगूढमस्मदभिप्रायमुपनिषद्विवेकेन सह बोधयितव्या । त्वया च पुरुषे वस्तव्यमिति । (विलोक्य) एषा देवी विवेकपुरुषाभ्यां नातिदूरे

परमात्मनि, त्वमर्थे = जीवात्मनि परिज्ञाते = संलक्षिते, तत्त्वमसीति श्रुत्वा = तत्त्वमसीति वाक्यश्रवणानन्तरं वाक्यजनितापरोक्षज्ञानेनेत्यर्थः, बाधितभवध्वान्तम्—बाधितम् = तिरस्कृतम्, भवस्य = संसारस्य, ध्वान्तम् = मूलकारणभूतमज्ञानं येन तत्, तदात्मप्रभम् = तत् प्रसिद्धम्, स्वस्वरूपप्रकाशम्, शान्तम् = निर्विकारम्, ज्योतिः = तेजोरूपम्, अनन्तम् = वस्तुतो देशतः कालतश्चेति त्रिविधपरिच्छेदशून्यम्, अन्तः = अन्तःकरणसाक्षात्कारवृत्तौ, उदितानन्दः = प्रतिफलितस्वरूपः सन्, एष जीवः समुद्द्योत्यते = सम्यक् प्रकाशत इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

निदिध्यासनमिति । निगूढम् = नितरां गुप्तं यथा स्यात्तथा । उपनिषद् विवेकेन सह बोधयितव्या = विवेकोपनिषदौ बोधयितव्यावित्यर्थः । त्वया = निदिध्यासनेन । नातिदूरे = समीपे । जनान्तिकम्—'त्रिपताकरेणान्यानपवार्य-

(त्वं पदार्थ) का परिज्ञान होता है—'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अर्थ पूर्णतः समझ में आ जाता है । और तब 'तत्त्वमसि' वाक्य को सुनने पर अन्तःकरण में प्रतिफलित स्वरूप होता हुआ यह जीव संसारतमोनिवर्तक शान्त अनन्त स्वस्वरूप प्रकाश तेजोरूप में प्रकाशित होता है (अर्थात् 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थरूप ब्रह्म-जीव का अभेद अवगत होता है) ॥ २७ ॥

पुरुष—(सानन्द) श्रुत अर्थ का विचार करता है ।

(तदनन्तर निदिध्यासन का प्रवेश)

निदिध्यासन—भगवती विष्णुभक्ति ने मुझे आदेश दिया है—'गुप्त रूप से हमारा अभिप्राय उपनिषत् और विवेक को समझा दो और तुम (निदिध्यासन), पुरुष के पास रहो ।' (देखकर) यह देवी (उपनिषत्) विवेक और पुरुष के

वर्तते। यावदुपसर्पामि (उपसृत्य उपनिषदं प्रति जनान्तिकम्) देव्या विष्णुभक्त्या समादिष्टं यथा संकल्पयोनयो देवता भवन्ति। मया च समाधानेन विदितं तथा आपन्नसत्त्वा भवतीति। तत्र च क्रूरसत्त्वा विद्या नाम कन्या त्वदुदरे वर्तते प्रबोधोदयश्च। तत्र विद्यां सङ्कर्ष-विद्यया मनसि संक्रामयिष्यसि। प्रबोधचन्द्रं पुरुषे समर्प्य वत्सविवेकेन सह मत्समीपमागमिष्यसीति।

उपनिषत्—यदादिशति देवी। (इति विवेकमादाय निष्क्रान्ता)

न्तराकथाम्। अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम्।' इति जनान्तिक-लक्षणमुक्तं साहित्यदर्पणकारेण। सङ्कल्पयोनयः—सङ्कल्पः = मानसो व्यापारः एव योनिः = उत्पत्तिकारणं यासां ताः। देवतानामुत्पत्तिः सङ्कल्पमात्रादेव भवति, न तु तत्र द्वन्द्वसंसर्गापेक्षेति भावः। समाधानेन = योगसामर्थ्यजन्य-ध्यानेन। आपन्नसत्त्वा = गर्भिणी। विवेकसंकल्पादेव गर्भाधानमिति भावः। क्रूरसत्त्वा = क्रूरस्वभावा, महामोहकुलविवेककुलयोर्नाशकत्वादिति भावः। सङ्कर्ष-विद्यया = योगजनिताकर्षणरूपया विद्यया। सङ्कर्षविद्यैव संकर्षणविद्येत्यप्युच्यते, यतः संकर्षणो वलभद्रोऽनयैव विद्यया देवकीगर्भाद्रोहिणीगर्भं प्रापितः। मनसि संक्रामयिष्यसि = मनसः पार्श्वं प्रैषयिष्यसि। विद्याया अन्तःकरणधर्म-त्वादिति भावः।

उपनिषदिति। देवी = विष्णुभक्तिः।

समीप में ही तो हैं। समीप जाता हूँ। (समीप जाकर केवल उपनिषत् को सुनाकर) देवी विष्णु भक्ति ने कहा है कि देवता संकल्पयोनि हुआ करते हैं (अर्थात् इनकी उत्पत्ति में मात्र संकल्प की अपेक्षा होती है, द्वन्द्वसंसर्ग की नहीं)। मैं (विष्णुभक्ति) ने योग सामर्थ्यजन्यध्यान से जान लिया है कि तुम गर्भवती हो। तुम्हारे उदर में विद्या नाम की क्रूरस्वभावा कन्या तथा प्रबोधोदय है। उनमें से विद्या को संकर्ष विद्या द्वारा मन के पास कर देना और प्रबोधचन्द्रोदय को पुरुष के हवाले कर तुम वत्सविवेक सहित मेरे पास चली आना।

उपनिषत्—देवी की जो आज्ञा। (विवेक को साथ लेकर चली जाती है)

(निदिध्यासनं पुरुषं विशति)

पुरुषः—(ध्यानं नाटयति) (नेपथ्ये आश्चर्यमाश्चर्यम्)

उद्दामद्युतिदामभिस्तडिदिव प्रद्योतयन्ती दिशः
प्रत्यग्रस्फुटदुत्कटास्थि मनसो निर्भिद्य वक्षःस्थलम् ।
कन्येयं सहसा समं परिकरैर्मोहं ग्रसन्ती भज-
त्यन्तर्धानमुपैति चैकपुरुषं श्रीमान्प्रबोधोदयः ॥ २८ ॥

(ततः प्रविशति प्रबोधोदयः)

प्रबोधोदयः—किं वाप्तं किमपोहितं किमुदितं किं वा समुत्सारितं

उद्दामद्युतिदामभिरिति । उद्दामद्युतिदामभिः—उद्दामाः = अप्रतिहताः, द्युतय एव दामानि = मालाः, तैः, तडिदिव = विद्युदिव, दिशः = प्रद्योतयन्ती = प्रकाशयन्ती, प्रत्यग्रस्फुटदुत्कटास्थि—प्रत्यग्रम = अभिनवं यथा तथा स्फुटन्ति = दलन्ति, उत्कटानि = स्थूलानि, अस्थीनि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा, मनसः वक्षःस्थलम् = उरोदेशम्, निर्भिद्य = विदार्य, इयं कन्या=विद्या, परिकरैः सह = कामादिभिरनुगामिभिः सह, मोहम् ग्रसन्ती=नाशयन्ती, अन्तर्धानं भजति । जातमात्रा विद्याऽविद्यां नाशयित्वा स्वयमपि नश्यतीति भावः । श्रीमान् प्रबोधोदयश्च, एकं पुरुषम् उपैति = एकं पुरुषं=क्षेत्रज्ञं प्राप्नोति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२८॥

किं वाप्तमिति । यस्मिन्=प्रबोधोदये, अभ्युदिते=जाते, सहजप्रकाशदलितम्—सहजप्रकाशेन = स्वाभाविकप्रकाशेन, परिपूर्णब्रह्माकारवृत्त्येति भावः, दलितम् = बाधितं सत्, त्रैलोक्यम्, आप्तं किंवा अपोहितं किम्=प्राप्तं नापि बाधितमित्यर्थः ।

(निदिध्यासन पुरुष में समाविष्ट होता है)

पुरुष—(ध्यान का अभिनय करता है) (नेपथ्य में आश्चर्य ! आश्चर्य !)

विद्युत् की तरह उद्दाम द्युतिमाला से दिशाओं को प्रकाशित करती हुई उत्कट हड्डियों को तोड़ती हुई, मन के वक्षःस्थल को विदीर्ण कर यह कन्या (विद्या) परिकरसहित मोह को ग्रसती हुई अन्तर्हित हो रही है और श्रीमान् प्रबोधोदय पुरुष को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

(तदनन्तर प्रबोधोदय का प्रवेश)

प्रबोधोदय—

जिसके अभ्युदित होने पर स्वाभाविक प्रकाश से बाधित यह त्रैलोक्य "क्या

स्यूतं किं नु विलायितं न् किमिदं किञ्चिन्न वा किञ्चन ।
यस्मिन्नभ्युदिते वितर्कपदवीं नैवं समारोहति
त्रैलोक्य सहजप्रकाशदलितं सोऽहं प्रबोधोदयः ॥ २९ ॥

(परिक्रम्य) एष पुरुषः । यावदुपसर्पामि । (उपसृत्य) भगवन्, प्रबोधचन्द्रोदयोऽहमभिवादये ।

पुरुषः—(साह्लादम्) एहि पुत्र, परिष्वजस्व माम् ।

(प्रबोधोदयस्तथा करोति)

पुरुषः—(सानन्दम्) अहो, विघटिततिमिरपटलं प्रभातं संजातम् ।

उदितं किम्, समुत्सारितं किं वा = नोत्पन्नं नापि नष्टमित्यर्थः । स्यूत किं नु विलायितं किं नु =वस्त्रादिवद्ग्रथितं किं नु, आकाशादिक्रमेण कारणे लीनं किं नु ? न स्यूतं नाप्याकाशादिक्रमेण कारणे लीनमित्यर्थः । इदम् = त्रैलोक्यम्, किंचित् = सद्रूपम् ? न वा किञ्चन = असद्रूपम् ? न सद्रूपं नाप्यसद्रूपम्, सदसत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयमित्यर्थः । एवं वितर्कपदवीम् = तर्कविषयम्, न समारोहति = न प्राप्नोति । यस्मिन् प्रबोधोदये जाते, त्रैलोक्यमीदृकतया इदन्तया च परिच्छेत्तुमशक्यतया नित्यानित्यभिन्नत्वेनानिर्वचनीयं जायते सोऽहं प्रबोधोदयः = तादृशोऽहं प्रबोधोदयोऽस्मि । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

पुरुष इति । विघटिततिमिरपटलम्—विघटितम् = विनाशितम्, तिमिरम् = अज्ञानरूपं तमः, तदेव पटलम् = आवरणं यस्मिन् तत् । प्रभातम् = बोधः ।

प्राप्त है ? अथवा बाधित है ? उत्पन्न है ? या नष्ट है ? क्या स्यूत है या (कारण में आकाशादि क्रम से) लीन है ? क्या सद्रूप है या असद्रूप है ?" इस प्रकार तर्क का विषय नहीं बनता (अर्थात् सर्वथा अपरिच्छेद्य अत एव नित्यानित्यभिन्न होने के कारण यह त्रैलोक्य अनिर्वचनीय हो जाता है) मैं वह प्रबोधोदय हूँ ।२९॥

(चलकर) यह पुरुष है । इनके समीप जाऊँ । (समीप जाकर) भगवन्, मैं प्रबोध चन्द्रोदय अभिवादन करता हूँ ।

पुरुष—(आह्लादपूर्वक) आओ वत्स, मेरा आलिङ्गन करो ।

(प्रबोधोदय वैसा करता है)

पुरुष—(आनन्द से) अहो, अन्धकारसमूह को विनष्ट कर प्रभात हो गया है । क्योंकि—

तथाहि—

मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रा-
मुन्मथ्य कोऽप्यजनि बोधतुषाररश्मिः।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन
विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः॥ ३०॥

सर्वथा कृतकृत्योऽस्मि भगवत्या विष्णुभक्तेः प्रसादात्। सोऽहमिदानीम्—

सङ्गं न केनचिदुपेत्य किमप्यपृच्छन्
गच्छन्नतर्कितफलं विदिशं दिशं वा।

मोहान्धकारमिति। मोहान्धकारम् = मोहः = अज्ञानमेवान्धकारः = तमः, तम् अवधूय = तिरस्कृत्य, विकल्पनिद्राम् = विकल्पः = भ्रम एव निद्रा, ताम्, उन्मथ्य = विनाश्य, श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन—श्रद्धा = गुरुवेदवाक्यविश्वासः, विवेकमतिः = नित्यानित्यवस्तुविवेचना, शान्तिः = औदासीन्यम्, यमः = चित्तवृत्तिनिरोधः, तदादिकेन परिवारेण सह, कोपि = अनिर्वचनीयः, बोधतुषाररश्मिः = ज्ञानचन्द्रः, अजनि = प्रादुर्भूतः। (येन) विश्वात्मकः सन् यः स्फुरति स एष विष्णुरहम्। ज्ञानोदये सति पराभिन्नो जातोऽहमिति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ३०॥

सङ्गं न केनचिदिति। न केनचित् सङ्गमुपेत्य = सर्वत्रासङ्गः सन्नित्यर्थः, किमप्यपृच्छन् = अजिज्ञासमान इत्यर्थः, अतर्कितफलम्—न तर्कितं फलम् = प्रयोजनं यथा स्यात्तथा, निरुद्देश्यमित्यर्थः, दिशम् = प्राच्यादिम्, विदिशं वा =

मोहरूप अन्धकार को तिरस्कृत कर, विकल्प (भ्रम) रूप निद्रा का विनाश कर, श्रद्धा-विवेक-मति-शान्ति-यम आदि परिवार के साथ अनिर्वचनीय ज्ञानचन्द्र उदित हो गया (जिससे सम्प्रति) जो विश्वात्मक विष्णु (व्यापक) परब्रह्म स्फुरित हो रहा है, वह मैं हूँ (अर्थात् ज्ञानोदय होते ही मैं परब्रह्माभिन्न हो गया)॥ ३०॥

भगवती विष्णुभक्ति की कृपा से मैं सर्वथा कृतार्थ हो गया। यह मैं अब—असङ्ग, जिज्ञासा-रहित, निरुद्देश्य भाव से दिशा-विदिशाओं में घूमता

शान्तो व्यपेतभयशोककषायमोहः
स्वायंभुवो मुनिरहं भवितास्मि सद्यः ॥ ३१ ॥

(ततः प्रविशति विष्णुभक्तिः)

विष्णुभक्तिः—(सहर्षमुपसृत्य) चिरेण खल्वस्माकं संपन्नाः सर्वे मनोरथाः । येन प्रशान्ताराति भवन्तमवलोकयामि ।

पुरुषः—देव्या विष्णुभक्तेः प्रसादात्किं नाम दुष्करम् । (इति पादयोः पतति)

विष्णुभक्तिः—(पुरुषमुत्थापयति) उत्तिष्ठ वत्स किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

पुरुषः—अतः परमपि किं प्रियमस्ति । यतः—

प्रशान्ताराातिरगमद्विवेकः कृतकृत्यताम् ।

आग्नेय्यादिं वा, गच्छन् = भ्रमन्, शान्तः = रागद्वेषादिशून्यः, व्यपेतभयशोककषायमोहः = व्यपेताः = गताः, भयम् = भीतिः, शोकः = दुःखम्, कषायः = प्रारब्धातिरिक्तकर्मफलभोगः, मोहः = अज्ञानं यस्मात्तादृशः, सद्यः, स्वायंभुवः = नित्यमुक्त इत्यर्थः, मुनिः, भवितास्मि = भवामीत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥३१॥

विष्णुभक्तिरिति । प्रशान्ताराातिम् = प्रशान्ताः = विनष्टाः, अरातयः = शत्रवः, मोहादय इत्यर्थः, यस्य तादृशम् ।

प्रशान्ताराातिरिति । प्रशान्ताराातिः-प्रशान्तः = विनष्टः, अरातिः = महामोहरूपः शत्रुर्यस्य सः, विवेकः, कृतकृत्यताम् = कृतार्थताम्, अगमत् = प्राप्तः ।

हुआ, शान्त, भय-शोक-कषाय (प्रारब्धातिरिक्तकर्मफलभोग)—मोह से रहित होकर मैं अब स्वायंभुव (नित्यमुक्त) मुनि होने जा रहा हूँ ॥ ३१ ॥

(तदनन्तर विष्णुभक्ति का प्रवेश)

विष्णुभक्ति—(सहर्ष समीप जाकर) बहुत दिनों पर हमारे सकल मनोरथ पूर्ण हुए हैं, जो आप को शत्रु-रहित देख रही हूँ ।

पुरुष—देवी विष्णुभक्ति की कृपा से दुष्कर क्या है ? (चरणों पर गिरता है)

विष्णुभक्ति-(पुरुष को उठाती है) उठो वत्स, तुम्हारा और क्या प्रिय करूँ ।

पुरुष—इससे बढ़कर भी क्या प्रिय हो सकता है ? क्योंकि—

विवेक के शत्रु मारे गये, वह कृतकृत्य हो गया और मैं निर्मल सदानन्द

नीरजस्के सदानन्दे पदे चाहं निवेशिताः ॥ ३२ ॥

तथाप्येतदस्तु—(भरतवाक्यम्)

पर्जन्योऽस्मिञ् जगति महतीं वृष्टिमिष्टां विधत्तां
राजानः क्ष्मां गलितविविधोपप्लवाः पालयन्तु ।
तत्त्वोन्मेषोपहततमसस्त्वत्प्रसादान्महान्तः

अहम् = पुरुषश्च, नीरजस्के = निर्मले नित्यशुद्धे, सदानन्दे = नित्यानन्दरूपे, पदे = वस्तुनि, अविनाशिपरब्रह्मपदे इत्यर्थः, निवेशितः = प्रतिष्ठापितः । भगवत्या महा-मोहरूपं शत्रुं विनाश्य विवेको मम सुहृत् कृतकृत्यः कृतः, अहं च सारूप्यं प्रापितः । इदानीमतः परमात्मनः प्रियान्तरं न पश्यामीत्यर्थः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३२ ॥

तथाप्येतदस्त्विति । भरतवाक्यम्—रूपकेषु निर्वहणसन्धेश्चतुर्दशाङ्गानि भवन्ति । तेषु 'काव्यसंहारः' 'प्रशस्तिश्च' इति द्वेऽन्तिमेऽङ्गे स्तः । रूपकस्यान्ते किन्ते भूयः प्रियमुपकरोमि' इति वाक्यरूपेण काव्यसंहारयोजना क्रियते । तदनन्तरमेव भरतवाक्यरूपेण प्रशस्तियोजना क्रियते । प्रशस्तिः शुभशंसना । "नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते" इति साहित्यदर्पणकारः । इयं शुभ-शंसनात्मिका प्रशस्तिरभिनयसमाप्तौ भरतेन (नटेन) समुपस्थाप्यतेऽतो भरत-वाक्यम् (नटवाक्यम्) इत्यभिधीयते ।

तदेव प्रदर्शयति पर्जन्य इत्यादिना । पर्जन्यः = मेघः, अस्मिन् जगति = संसारे, इष्टाम् = यदा यावदपेक्षिताम्, महतीम्=महत्त्वपूर्णाम्, वृष्टिम्, विधत्ताम् = करोतु । गलितविविधोपप्लवाः—गलितः = विनष्टः, विविधः, उपप्लवः = अति-वृष्ट्यादीतिर्येभ्यस्तादृशाः, ईतिभीतिरहिताः सन्त इत्यर्थः । उक्तं च—'अतिवृष्टि-रनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः खगाः । अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' इति । राजानः = भूपालाः, क्ष्माम् = पृथिवीम्, पालयन्तु = रक्षन्तु । त्वत्प्र-सादात्—तव = विष्णुभक्तेः, प्रसादात् = अनुग्रहात्, तत्त्वोन्मेषोपहततमसः—तत्त्वस्य = स्वरूपज्ञानस्य, उन्मेषः = उदयः, तस्मात् उपहतम् = विनष्टम्, तमः=

पद पर प्रतिष्ठित किया गया ॥ ३२ ॥

तथापि यह हो, (भरतवाक्य)

मेघ इस धरा पर यथेच्छ वृष्टि करें, विविध उपद्रवों से रहित राजा लोग पृथ्वी का पालन करें, तुम्हारी कृपा से तत्त्व (स्वरूप ज्ञान) के उदय से अज्ञान

संसाराब्धिं विषयममतातङ्कपङ्कं तरन्तु ॥ ३३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीकृष्णमिश्रविरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाम्नि नाटके
जीवन्मुक्तिर्नाम षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तमिदं नाटकम् ॥

अज्ञानं येषां तादृशाः, महान्तः = महाजनाः, विषयममतातङ्कपङ्कम्—विषयेषु=स्त्रा-पुत्रादिसांसारिकविषयेषु या ममता = ममत्वाभिमानः, तेन य आतङ्कः = तत्कृत-नानाविधभयम्, स एव पङ्कः = कर्दमः, यस्मिस्तादृशम्, संसाराब्धिम् = भव-सागरम्, तरन्तु । रूपकमलङ्कारः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३३ ॥

इति निष्क्रान्ताः सर्वे = अङ्कसमाप्तौ सर्वेषां निष्क्रमणमित्यर्थः ।

समाप्तमिदं नाटकम् = षड्भिरङ्कैरिदं प्रबोधचन्द्रोदयाभिधं नाटकमुदाहृत-मित्यर्थः ।

इति कल्याण्याख्यायां प्रबोधचन्द्रोदयसंस्कृत-
व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

शुभमस्तु ।

को विनष्ट कर महान् जन, विषयममताजन्य आतङ्करूप पङ्कवाले भवसागर को पार करें ॥ ३३ ॥

(सब का प्रस्थान)

इस प्रकार 'प्रबोधचन्द्रोदय' की 'कल्याणी' हिन्दी-व्याख्या
में छठा अङ्क समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

शुभमस्तु ।

परिशिष्टम्

[१]

हिन्दी नोट्स

समवधान—पृष्ठ संख्या का निर्देश पं० श्रीरामचन्द्रमिश्र वाले संस्करण के अनुसार किया गया है ।

प्रथम अङ्क

पृ० १ प्रबोधचन्द्रोदयम्—प्रबोध एव चन्द्रः इति प्रबोधचन्द्रः, तस्य उदय इति प्रबोधचन्द्रोदयः, प्रबोधरूप चन्द्र का उदय, अभेदोपचार से नाटक भी 'प्रबोधचन्द्रोदयम्' कहलाता है । नाटक की संज्ञा होने से नपुं० लिङ्ग **मध्याह्न-मरीचिकास्विव**—जिसको न जानने के कारण मृगमरीचिका में जलराशि की तरह यह संसार आकाशादि क्रम से प्रकट होता है और जिसको जानने पर माला सर्प की भांति विलीन हो जाता है उस आनन्दस्वरूप तथा स्वप्रकाशरूप ब्रह्म की हम उपासना करते हैं ।

यहाँ मृगमरीचिकासु पयःपूर इव' यह उदाहरण संसारिविषयक है और 'स्रग्भोगिभोगोपमम्' यह उदाहरण मुक्तजन विषयक है ।

इस श्लोक में 'मृगमरीचिका में पयःपूर की तरह जगत् ब्रह्म में उत्पन्न होता है, स्थित होता है और विलीन होता है'—ऐसा कह कर 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुत्युक्त ब्रह्म का जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूप तटस्थलक्षण कहा गया है और 'सान्द्रानन्दम्' इत्यादि के द्वारा उसका स्वरूप लक्षण प्रतिपादित किया गया है ।

किसी भी ग्रन्थ का आरम्भ करते समय चार प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होते हैं—

(१) इसको कौन पढ़ सकता है अर्थात् इसके पढ़ने का कौन अधिकारी हो सकता है । (२) इसमें कौन सा विषय लिखा है । (३) इसमें

उल्लिखित विषय तथा ग्रन्थ में क्या सम्बन्ध है (४) इस ग्रन्थ को पढ़ने का क्या प्रयोजन है। इस प्रश्न-चतुष्टय के उत्तरों को अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं। यहाँ यह अनुबन्ध-चतुष्टय इस प्रकार समझिए—इस नाटक का प्रयोजन 'अज्ञान-निवृत्ति' है अतः अज्ञाननिवृत्ति चाहने वाला व्यक्ति इसको देखने या पढ़ने का 'अधिकारी' है। प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रतिपाद्य विषय है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है, और वह यह कि दशरूपकों का प्रयोजन तो स्वसंवेद्यपरमानन्दस्वरूप रसास्वाद कहा जाया करता है, फिर इस नाटक का प्रयोजन अज्ञाननिवृत्ति कैसे हो सकता है। रूपकों के प्रयोजन के विषय में बात तो ऐसी ही है तथापि इस ग्रन्थ का यह वैशिष्ट्य है कि यह वेदान्तशास्त्र की गूढ बातों को अभिनय द्वारा सुकुमारमति लोगों के भी हृदय में सरस ढंग से निविष्ट करता है अर्थात् यह प्रकारान्तर से रूपकभूमिकापन्नवेदान्तशास्त्र के रूप में अज्ञाननिवृत्ति रूप परम प्रयोजन रखता है और रसास्वादरूप अवान्तरप्रयोजन भी। मुखप्रतिमुखसन्धि आदि में रसास्वाद रूप प्रयोजन है तो अन्त में अज्ञान-निवृत्तिरूप प्रयोजन है।

पृष्ठ २ **अन्तर्नाडीनियमितमरुल्लङ्घितब्रह्मरन्ध्रम्**—अन्तर्नाड्याम् = सुषुम्नायाम्, नियमितः = सन्निरुद्धः, मरुत् = वायुः, तेन लङ्घितं ब्रह्मरन्ध्रं येन तादृशम्, सुषुम्नामाविश्य ब्रह्मरन्ध्रप्रविष्टमित्यर्थः। सुषुम्ना में प्रवेशित वायु के साथ ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट। एतद्विषयक उक्ति प्रसिद्ध है—'सुषुम्ना तिसृषु श्रेष्ठा वैष्णवी मुक्तिमार्गदा। सुषुम्नया ब्रह्मरन्ध्रमारोहत्यवरोहति। जीवः प्राणसमारूढो ब्रह्मरन्ध्रं विशत्यसौ। नाडीषु वध्यमानासु मध्यनाडीं विशत्यसौ।'

पृष्ठ ३ **स्वान्ते शान्तिप्रणयिनि समुन्मीलत्**—शान्त हृदय में प्रकाशमान। इस विषय में प्रमाण—'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।' यह श्रुति है।

प्रत्यग्ज्योतिः—प्रातिकूल्येन = जडानृताहङ्कारादिभ्यः प्रातिकूल्येन, सत्य-ज्ञानानन्दादिरूपत्वेन अञ्चति = प्रकाशते इति प्रत्यक् = जीवात्मा, तच्च ज्योतिः= प्रकाशरूपम्।

चन्द्रार्धमौलेः प्रत्यग्ज्योतिः—वस्तुतः चन्द्रार्धमौलि और प्रत्यग्ज्योति में भेद नहीं है जैसे ब्रह्म और आनन्द में। तथापि ऐसा भेदोपचार से कहा गया है, जैसा कि 'ब्रह्मण आनन्दम्' कहा ही जाता है।

पृष्ठ १७ **अहल्यायै जारः सुरपतिः**—अहल्या गौतम की स्त्री का नाम था। इन्द्र ने इसका सतीत्वभङ्ग किया था। यह पौराणिक कथा प्रसिद्ध है।

आत्मतनयां प्रजानाथोऽयासीत्—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में यह कथा आयी है कि ब्रह्मा ने अपनी कन्या शतरूपा के साथ कामक्रीडा का प्रयास किया था। दण्डीकृत दशकुमारचरित तथा पुष्पदन्तकृत शिवमहिम्नः स्तोत्र में भी इसकी चर्चा आयी है।

अथ द्वितीय अङ्क

लोकायतमेव शास्त्रम्—लोके आयतम् = विस्तृतम्, 'लोक में विस्तृत' यह 'लोकायत' पद का अभिहित अर्थ है। लोकायत मत चार्वाक का चलाया हुआ है, इसे चार्वाकदर्शन भी कहते हैं। नाटककार ने लोकायतमत के स्वरूप का चित्रण यहाँ 'महामोह' और स्वयं चार्वाक के द्वारा किया है। लोकायत मत नितान्त भूतवादी है, सांसारिक सुख को ही जीवन का अन्तिम ध्येय मानता है। इस मत के मानने वाले 'प्रत्यक्ष' को ही प्रमाण मानते हैं, अनुमान या शब्द प्रमाण की सत्ता नहीं मानते हैं। इनका कथन है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों से ही संसार का निर्माण हुआ है। इन्हीं चारों के संमिश्रण से ही शरीर की उत्पत्ति है। चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। इन्हीं चारों जड़ तत्त्वों के संमिश्रण से शरीर में चेतनता उत्पन्न हो जाती है, जैसे समान घृत-मधु के संयोग से विष की अथवा कत्था-चूना या हल्दी चूना के संयोग से लालिमा की उत्पत्ति हो जाती है। ये लोग ईश्वर को नहीं मानते। इनके मत से जगत् की उत्पत्ति और विनाश एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। मरण ही मोक्ष है। स्वर्ग-नरक की सत्ता नहीं है। संसार में सुख भोगना ही स्वर्ग है और दुःख भोगना ही नरक है। इस प्रकार इनका सिद्धान्त है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

इनका कथन है कि वेदों का कोई प्रामाण्य नहीं। ब्राह्मणों ने अपनी जीविका के लिए वैदिक विधानों की कल्पना की है, यह सब वास्तव में ढोंग है। यदि यज्ञ में बलिदान किया हुआ पशु स्वर्ग जाता है तो यजमान अपने पिता का ही बलिदान कर उसे क्यों नहीं स्वर्ग को भेज देता? इस प्रकार वेदों की निन्दा करने के ही कारण इन्हें नास्तिक कहा जाता है (नास्तिको वेदनिन्दकः)।

पृष्ठ ८५ **विभ्रमावती**—यह 'मिथ्यादृष्टि' की सखी का नाम है। अत एव संज्ञा में 'अमरावती' की तरह यहाँ भी 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्' (६।३।११९) से मकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ हुआ है। असंज्ञा में 'मलयवती' की तरह 'विभ्रमवती' ही होगा क्योंकि इस सूत्र की प्रवृत्ति संज्ञा में ही होती है।

अथ तृतीय अङ्क

पृष्ठ १०० **दिगम्बर सिद्धान्त**—जैनमत का एक भेदविशेष है। जैनमत में ईश्वर को 'अर्हन्' कहा गया है जैसा कि 'अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता.' उक्ति प्रसिद्ध ही है।

नवद्वारपुरी मध्ये आत्मा दीप इव ज्वलति। एष जिनवरभाषितः परमार्थोऽयं मोक्षसुखदः—यहाँ शरीर को पुरी और नौ इन्द्रियों को उसके नौ द्वार कहा गया है उसमें आत्मा को दीप कहा गया है। दिगम्बर जैन के सिद्धान्तानुसार अंगुष्ठपरिमाण आत्मा हृत्पुण्डरीककोश में दीप की तरह प्रकाशमान है। जिस प्रकार गृह के भीतर वर्तमान दीप सारे गृह को प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार उसी आत्मचैतन्य से यह शरीर चैतन्ययुक्त रहता है। पिंजरे में शुक की तरह, अनादिवासनाओं के कारण वह आत्मा शरीर में पड़कर बँध जाता है और सुख-दुःख भोगता है। पिंजरे से मुक्त तोते की भाँति आत्मा विमुक्त होते ही ऊर्ध्वग हो जाता है। 'पञ्जरस्थः शुको यद्वद् विमुक्तो बन्धनाद् व्रजेत्। त्वरितं तद्वदेवात्मा विमुक्तश्चोर्ध्वगो भवेत्।'

पृष्ठ १०३ (श्लोक सं० ८)—सर्वे क्षणक्षयिण एव निरात्मकाश्च। इस श्लोक में बुद्धागम के अनुसार बन्धन क्या है? और जीवन्मुक्ति क्या है? संक्षेप में नाटककार ने इसी का प्रतिपादन किया है। इस मत में सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर और सत्ताशून्य हैं, फिर भी ये सांसारिक वासनाओं के द्वारा घी

धीसन्तति (विज्ञानपरम्परा) में प्रतिफलित होकर प्रतिभासमान होते हैं। यह वन्धन की स्थिति है। किन्तु सांसारिक वासनाओं के नष्ट हो जाने पर, जब विषयों के सम्बन्ध से रहित केवल शुद्ध धीसन्तति ही प्रकाशित होती है, तब जीवन्मुक्ति की स्थिति समझनी चाहिए।

पृष्ठ १११— तस्माल्लोकद्वयविरुद्धादार्हतमताद्वरं सुगतमतमेव-यहाँ बौद्धमतावलम्बी भिक्षु, आर्हतमतावलम्बी क्षपणक की आलोचना कर रहा है। आर्हत मत लोकद्वयविरुद्ध है। इह लोक विरुद्ध इस लिए है कि केशोल्लुञ्चन, शरीरासंस्कार आदि पिशाचकार्य हैं। परलोकविरुद्ध इसलिए है कि सततोर्ध्वगमनरूप परलोक क्लेशकर है। चन्द्रिकाटीकार ने इस मत का संक्षिप्त वर्णन किया है—'जीवोऽजीवश्चेति द्वौ पदार्थौ। जीवश्चेतनः शरीरपरिमाणः सावयवः अत्र जीवः षड्विधः। अभ्रभूभूधरादिरेकः आश्रवसंवरणनिर्जरवन्धमोक्षाख्याः पञ्च। आश्रवत्यनेन जीवो विषयेष्विति। आश्रव इन्द्रियसंघातः। संवृणोति विवेकमित्यविवेकादिः संवरणः। निःशेषेण जीर्यतेऽनेन कामक्रोधादिः केशोल्लुञ्चनतप्तशिलाधिरोहणादिकं ततो निर्जरः। कर्माष्टकेन जन्मपरम्परा वन्धः। कर्माष्टकं तु-चत्वारि घातकर्माणि चत्वारि शुभानि, तेभ्योऽष्टाभ्यः कर्मभ्यो विनिर्गतस्य जीवस्य सततोर्ध्वगमनं मुक्तिः।' इति।

पृष्ठ १११—सोमसिद्धान्तः—उमया सहितः सोमः, सोमो यथा पार्वत्या सह कैलासे मोदते तद्वद् भक्तः पार्वतीतुल्यकान्तया सहितः सन् ईश्वरवेषधारी कैलासे मोदते सैव मुक्तिः। इति चन्द्रिकाकारः। इस प्रकार सोमसिद्धान्त के अनुसार स्त्रीसंभोगादि के अतिरिक्त दूसरा सुख नहीं है और यह सुख नित्य है क्योंकि यह कभी दुःखाभिभूत नहीं होता है।

पृष्ठ ११८—रजसः सुता श्रद्धा—यहाँ ग्रन्थकार ने सोमसिद्धान्तवादी कापालिक की श्रद्धा को राजसी कहा है। इसका कारण यह है कि यद्यपि आचार से कापालिक तामस है फिर भी सोमसिद्धान्त में सामीप्यमुक्तिरूप अभिलाषविशेष की प्रधानता है। अतः ऐसी श्रद्धा को राजसी ही कहना उचित है।

अथ चतुर्थ अङ्क

श्लोक सं० ५—ध्यायन्निमामिति। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ये चार चित्तवृत्तियाँ हैं। सुखियों के प्रति मैत्री, दुःखियों के प्रति करुणा, धर्मात्माओं

के प्रति मुदिता और दुर्बुद्धियों के प्रति उपेक्षावृत्ति रखने से रागादिदूषित भी अन्तरात्मा अपनी स्वाभाविक निर्मलता को प्राप्त करता है। उपेक्षा से कुमति-संसर्ग के निरस्त होने के कारण रागादि नष्ट हो जाते हैं। मुदिता के आलम्बन से सुकृतियों की संगति के माहात्म्य द्वारा मोह नष्ट होता है। करुणा से क्रोधादि विनष्ट होते हैं। सुखियों के प्रति मैत्रीवृत्ति अपनाने से द्वेष प्रशान्त होता है। इस प्रकार मैत्री आदि वृत्तियों के द्वारा चित्त निर्मल कर दिये जाने पर अन्तरात्मा की निर्मलता भासित होने लगती है।

षष्ठ अङ्क, पृष्ठ २०३—मधुमत्या विद्यया सहोपसर्गाः प्रेषिताः। बृहदारण्यक में सातवाँ काण्ड 'मधुकाण्ड' है। मधु का अर्थ है इन्द्रियाधिष्ठानदेवता। तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानदेवताओं की उपासना की विधायिका होने से उपनिषत् को भी मधुमती कहते हैं। 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' के अनुसार मन को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना कर साधक मनोराज्यरूप उपासनाफल प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार चक्षु की उपासना से दूरदर्शिता, श्रोत्रोपासना से दूरश्रवण, पाण्युपासना से पाणि द्वारा सूर्यमण्डलस्पर्श, पादोपासना से पैरों द्वारा समुद्रसन्तरण, वागुपासना से नूतनवाग्वैखरीविलास आदि लौकिक सिद्धियाँ साधक प्राप्त करते हैं। किन्तु योगिजन इन लौकिकसिद्धियों को योग में विघ्नकारिणी होने के कारण हेय मानते हैं।

उपसर्ग—योग के विघ्नहेतुओं को 'उपसर्ग' कहा गया है। दत्तात्रेय के अनुसार ये विघ्नहेतु पाँच प्रकार के हैं—'प्रातिभः श्रावणो दैवो भ्रमावर्तौ तथापरो। पञ्चैते योगिनां योगविघ्नं कुर्वन्ति सर्वदा॥'

पद्य संख्या १५—क्रियाः भवोच्छेदकरी न वस्तुधीः—यह याज्ञिकों का मत है। उनके मत से अपरिमितनिःश्रेयसस्वरूप मोक्ष, ज्योतिष्टोमादि कर्मों से ही प्राप्त होता है, ब्रह्मज्ञान से नहीं। इसमें 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। धूर्तस्वामी के सूत्र 'पञ्चहोतारं चाग्नीध्रे स्वर्गः कामः स जुहुयात्'। तथा 'स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्याम्', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि स्थलों में भाष्यकारों ने स्वर्गशब्द को अपरिमितनिःश्रेयसस्वरूप मोक्ष का वाचक कहा है और इस प्रकार मोक्ष, साक्षात् कर्मसाध्य प्रतिपादित है। ऐसी श्रुति भी है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।' इत्यादि स्मृतिवचनों से भी मोक्ष की कर्मसाध्यता सिद्ध है।

[२]

नाटकीय विषयों की संक्षिप्त व्याख्या

अङ्क—जैसे श्रव्यकाव्य (महाकाव्य) का विभाजन 'सर्ग' में होता है, वैसे ही दृश्यकाव्य का विभाजन 'अङ्क' में होता है। 'अङ्क' का स्वरूप है—इसमें एक दिन में, सम्पन्न होने वाली घटना का विवरण रहता है। नायक का चरित साक्षात् चित्रित न होने पर भी, यत्र-तत्र अभिव्यङ्ग्य रूप से विद्यमान रहा करता है। इसमें तीन या चार पात्रों के अभिनय का आनन्द लिया जाया करता है। सभी समाविष्ट आवश्यक कार्य परस्पर अविरुद्ध होते हैं। इसके अन्त में सभी पात्र अपना अपना अभिनय समाप्त कर रङ्गमञ्च से निकलते दिखायी दिया करते हैं।

'अङ्क' का अभिप्राय गोद भी है। नाटक के एक-एक अवच्छेद (विभाग) रसभावों के लालन-पालन के लिए गोद का काम किया करते हैं इसलिए भी इन अवच्छेदों को 'अङ्क' कहा जाता है—

'रसालङ्कारवस्तूनामुपलालनकाङ्क्षिणाम् ।
जनकाङ्कवदाधारभूतत्वादङ्क उच्यते ॥'

(रसार्णवसुधाकर ३।१६७)

नान्दी—व्युत्पत्ति—नन्दयति देवादीन् स्तुत्या, आनन्दयति च सामाजिकान् स्तुतदेवप्रसादात् इति नान्दी।

नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनि ने नान्दी की परिभाषा की है—

'देवद्विजनृपादीनामाशीर्वादपरायणा ।
नन्दन्ति देवता यस्मात्तस्मान्नान्दीति कीर्तिता ॥'

श्री विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में कहा है—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥'

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए, उस रूपक के अभिनय की सानन्द सम्पन्नता के लिए मङ्गलाचरणरूप पद्य जो रूपक ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि द्वारा निबद्ध किया जाता है उसे 'नान्दो' कहते हैं। इसमें रङ्ग-सामाजिकों की शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित रहा करता है। इस नान्दीगीति के लिए यह अपेक्षित है कि इसके द्वारा शंख, चन्द्र, कमल, चक्रवाक, कैरव आदि मङ्गलास्पद वस्तुओं की अभिव्यंजना हो जाय। यह 'अष्टपदा' भी हो सकती है और 'द्वादशपदा' भी।

प्रस्तुत नाटक में दो पद्यों के द्वारा 'अष्टपदा' नान्दी की रचना है; क्योंकि श्लोक के एक-एक पाद का एक-एक पद के रूप में व्यवहार-विधान है। जैसा कि नाट्य प्रदीप में कहा गया है—

'श्लोकपादः पदं केचित् सुमिङन्तमथापरे।
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे॥'

नाटककार ने नान्दीरूप प्रथम श्लोक में प्रकाशवाची 'महः' शब्द से प्रकाशवाची चन्द्रपद का स्मरण किया है अत एव चन्द्रपद का निबन्धन सिद्ध है। दूसरे श्लोक में 'चन्द्रार्धमौले.' के अन्तर्गत चन्द्रपद का उपादान स्पष्ट है। इस प्रकार चन्द्राशंसिनी होने से इस नान्दी का अपना एक विशेष महत्त्व है। जैसा कि भारतीविलास में कहा गया है—

'चन्द्रनामाङ्किता नान्दी रसानां संयतो निधिः।
स्फीते चन्द्रमसि स्फीता श्रीधृतिप्रीतिकीर्तिदा॥'

सूत्रधार—सूत्रमभिनेयसूचनं धारयतीति सूत्रधारः। वह प्रधान नट जो सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर आकर अभिनय किये जाने वाले नाटक की सूचना तथा उसका संक्षिप्त परिचय सामाजिकों को देता है, सूत्रधार कहलाता है। कहा गया है—'वर्णनीयं कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते॥' भरतमुनि के मतानुसार—

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥'

अर्थात् नाट्य के उपकरणों को सूत्र कहते हैं, उसे जो सँभालता है उसे सूत्रधार कहा जाता है।

प्रस्तावना—नाटक के उस भाग विशेष को 'प्रस्तावना' अथवा 'ग्रामुख' कहते हैं जिसमें नटी अथवा विदूषक कि वा पारिपार्श्विक, सूत्रधार के साथ ऐसे स्वाभिप्राय सूचक चित्र-विचित्र वाक्यों में संलाप करते हैं जिनसे नाटक की कथा वस्तु का आक्षेप (प्रस्तुतीकरण) हो जाता है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

"नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहितः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
ग्रामुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥" (६।३१-३२)

नेपथ्य— 'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते।'

कुशीलवा नटाः, तेषां कुटुम्बस्य वृन्दस्य स्थलं वेषपरिग्रहस्थानं नेपथ्यम्। अर्थात् रङ्गमञ्च के पर्दे के समीप, पर्दे के पीछे जहाँ नट लोग अपनी वेष-भूषा धारण किया करते हैं, उस स्थान को नेपथ्य कहते हैं।

विष्कम्भक— विष्कम्भक, किसी भी अङ्क में आदि में आने वाला वह भाग है जिसमें भूत या भविष्यत् के ऐसे कथाभागों की सूचना दी जाती है जिनका निबन्धन अङ्क में इस कारण से नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे या तो रञ्जक नहीं हैं या एक दिन में अभिनय के लिए असंभावनीय होते हैं। इसके दो प्रकार हैं—पहला वह, जिसे 'शुद्ध विष्कम्भक' कहते हैं जिसमें मध्यम प्रकृति के एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा भूत अथवा भावी घटनाओं की सूचना दी जाती है। दूसरा वह जिसे 'मिश्र' अथवा 'सङ्कीर्ण' विष्कम्भक कहा गया है, क्योंकि इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा भूत और भावी घटनाएँ सूचित की जाती हैं—

"वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥'

यहाँ उक्तकारिका में 'संक्षिप्तार्थं' का यह आशय है कि विष्कम्भक, अङ्क की अपेक्षा कम विस्तार रखा करता है।

प्रवेशक—"प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥" (सा०द०६।५७)

अर्थात् प्रवेशक भी विष्कम्भक की ही तरह भूत और भावी वृत्तान्तों का सूचक हुआ करता है। इसका प्रयोग दो अङ्कों के बीच में हुआ करता है, अतः प्रथम अङ्क के आरम्भ में कभी नहीं आता। इसमें निम्नकोटि के पात्र होते हैं, अतः इसकी भाषा प्राकृत होती है।

प्रवेशक और विष्कम्भक में अन्तर—(१) प्रवेशक प्रथम अङ्क के आरम्भ में कभी नहीं आता, जब कभी इसका प्रयोग होता है तब दो अङ्कों के बीच में। विष्कम्भक के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है, वह किसी भी अङ्क के प्रारम्भ में प्रयुक्त हो सकता है। (२) विष्कम्भक के दो भेद हैं १–शुद्ध, २–मिश्र या सङ्कीर्ण, किन्तु प्रवेशक में इस प्रकार का कोई भेद नहीं होता। (३) विष्कम्भक (शुद्ध) में मध्यम प्रकृति के पात्र होने के कारण भाषा संस्कृत होती है और जहाँ (मिश्र या संकीर्ण में) मध्यम एवं नीच पात्र होते हैं, वहाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ होती हैं। प्रवेशक में नीच कोटि के ही पात्र होते हैं अतः केवल प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है।

विशेष—प्रस्तुत नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' में द्वितीय अङ्क में आये हुए 'प्रवेशक' के अन्तर्गत दम्भ और अहंकार–जैसे सर्वदूषक अत एव नीच पात्र होने के कारण प्राकृत भाषा ही होनी चाहिए तथापि 'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः' इस आलंकारिक वचन प्रामाण्य से संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। अर्थात् दम्भ और अहङ्कार दूषकतावश ही नीच हैं, जाति से नहीं। इस प्रकार वे नीच होते हुए भी विद्वान् हैं अतः संस्कृत भाषा का आश्रयण लिया गया है। इसी प्रकार पञ्चम अङ्क में भी 'प्रवेशक' की भाषा संस्कृत है क्योंकि श्रद्धा और विष्णु-भक्ति-जैसे पात्र उत्तम कोटि के हैं अतः 'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः' का पालन किया गया है। यही बात षष्ठ अङ्क के प्रवेशक में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के विषय में भी जाननी चाहिए।

आत्मगतम या स्वगतम्—अभिनय की आवश्यकता के अनुसार नाट्य-शास्त्रकारों के द्वारा कथावस्तु तीन भागों में बाँटी गयी है—

(१) सर्वश्राव्य (२) नियतश्राव्य (३) अश्राव्य।

आत्मगतम् या स्वगतम् का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ कथावस्तु का भाग किसी भी पात्र को सुनाना अभीष्ट नहीं होता अर्थात् अश्राव्य होता है। 'आत्मगत' या 'स्वगत' का आशय 'पात्र का अपने मन में ही बोलना' होता है अर्थात् कोई पात्र किसी स्थिति-विशेष में मन ही मन बोलता है जिससे उसके मानसिक भाव अभिव्यक्त होते हैं और उसके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। कभी-कभी इससे सामाजिकों को, कथावस्तु के अनुक्रम को समझने में भी सहायता मिलती है।

प्रकाशम्—सर्वश्राव्य अर्थात् जिसका रंगमञ्च के सभी पात्रों को सुनाना अभीष्ट होता है, ऐसी कथावस्तु को प्रदर्शित करने के लिए 'प्रकाशम्' शब्द का प्रयोग होता है।

जनान्तिकम्—नियतश्राव्य अर्थात् जिसका रंगमंच के सभी पात्रों को सुनाना अभीष्ट नहीं होता है बल्कि कुछ नियत व्यक्तियों को ही सुनाया जाता है, ऐसी कथावस्तु के लिए 'जनान्तिकम्' का प्रयोग होता है। इसका आशय है कि जब कोई पात्र किसी पात्र के प्रति कोई बात गोपनीय रखना चाहता है तब वह ऐसी हस्त-मुद्रा बनाया करता है जिससे सब (तीनों) अँगुलियाँ तो ऊपर उठी रहें और अनामिका झुकी रहे। इस 'हस्तमुद्रा' को 'त्रिपताक-कर' कहते हैं। इस प्रकार 'त्रिपताक' दिखाकर, एक को सुनने से मनाकर दूसरे को सुनायी गयी बात 'जनान्तिक' है! जैसा कि दर्पणकार ने कहा है—

'त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम्॥' (सा० द० ६।१३९)

अपवारितम्—इसका भी प्रयोग नियतश्राव्य कथावस्तु के लिए होता है। इसका आशय है—जिसे किसी के प्रति गोपनीय समझकर, उसके अन्यत्र हटकर उसकी ओर पीठ करके, दूसरे पात्रविशेष से किसी रहस्य का प्रकाशन किया जाता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं। दर्पणकार के शब्दों में—

... ...तद्भवेदपवारितम्।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते॥ (६।१३८)

भरतवाक्यम्—रूपकों में निर्वहणसन्धि के चौदह अङ्ग होते हैं। उनमें 'काव्यसंहार' और 'प्रशस्ति' ये दो अन्तिम अङ्ग होते हैं। रूपक के अन्त में 'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि' इत्यादि वाक्यों से 'काव्य-संहार' की योजना की जाती

है और उसके बाद ही तत्काल 'भरतवाक्य' के द्वारा 'प्रशस्ति' की योजना की जाती है। प्रशस्ति का अर्थ है—शुभशंसना। 'नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते'। अभिनय समाप्त होने पर यह प्रशस्ति भरत (नट) के द्वारा समुपस्थित की जाती है अतः इसे 'भरतवाक्य' कहते हैं।

कतिपय विद्वानों का मत है कि नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनि के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए इस शुभशंसनात्मक अन्तिम श्लोक को 'भरत-वाक्य' कहा जाता है।

[३]

नाटकगत शाश्वत सत्य-परक वाक्य एवं सुभाषित

प्रथम अङ्क

१—प्रभवति मनसि विवेको विदुषामपि शास्त्रसंभवस्तावत्।
निपतन्ति दृष्टिविशिखा यावन्नेन्दीवराक्षीणाम्॥

सूत्रधार के मुख से, विवेक द्वारा महामोह के पराजय की बात निकलने पर कुपित काम की सूत्रधार के प्रति उक्ति—

अरे रे नटाधम, विद्वानों के भी हृदय में शास्त्रजन्य ज्ञान तभी तक ठहर पाता है जब तक सुन्दरियों के नयन उनके ऊपर नहीं पड़ते। अतः नारी-जगत् के रहते विवेक, महामोह के सामने ठहर भी नहीं सकता, जीतना तो दूर रहे। बड़े-बड़े ज्ञानी ऋषि-मुनि इन सुन्दरियों के अवलोकन मात्र से विवेक खोकर पथ-भ्रष्ट हो चुके हैं। उनकी पुराणों में यत्र-तत्र विकीर्ण कथाओं को सभी पढ़ते हैं। अतः ललनाकटाक्षरूप मेरा अमोघ अस्त्र यदि है तो विवेक, महामोह का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है बल्कि वह स्वयं नष्ट हो जायगा।

२—स्मरणमपि कामिनीनामलमिह मनसो विकाराय।

भयभीत पत्नी (रति) को आश्वस्त करने के लिए काम की उक्ति—

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधि ये सब विवेक के सहायक और अमात्य हैं किन्तु इनका बल निर्विकार मन पर निर्भर है। मन विकृत हुआ नहीं कि इनकी सत्ता समाप्त। मन को विकृत करने के लिए मेरे (काम के) पास कामिनी-रूप अमोघ अस्त्र है। कामिनियों के द्वारा मनोविकार

उत्पन्न कर यम-नियमादि का विनाश सुकर है। इनके विलोकन, भाषण, विलास, परिहास, क्रीडा, आलिङ्गन आदि के प्रभाव का वर्णन क्या करूँ, अरे इनका स्मरणमात्र करने से मन विकृत हो जाता है अतः यम-नियमादि का उन्मूलन मेरे लिए सुकर हैं।

३—एकामिषप्रभवमेव सहोदराणामुज्जृम्भते जगति वैरमिति प्रसिद्धम्।

मन से विवेकादि और कामादि की उत्पत्ति होने से उनका सहोदरभाव सिद्ध है फिर भी उन सहोदरों में परस्पर ऐसा विरोध क्यों?—रति के ऐसा पूछने पर उत्तर रूप में काम का कथन है—

प्रिये, यह बात सभी जानते हैं कि सहोदरों में परस्पर वैर तभी बढ़ता है जब उन सब की अभिलाषा एक ही उपभोग्यवस्तु में होती है। उस एक उपभोग्य वस्तु को सभी सहोदर अपने-अपने अधिकार में करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी संघर्ष की स्थिति में परस्पर वैर हो जाना स्वाभाविक है। हम सहोदरों में भी परस्पर वैर का यही कारण है। आखिर कौरवों और पाण्डवों में भी तो एक उपभोग्य वस्तु पृथ्वी के लिए ही वह विरोध हुआ था जिसकी तीव्रता इतनी बढ़ी कि महाभारत-युद्ध होकर ही रहा और जिसमें संसार ही एक प्रकार से समाप्त हो गया।

४—सहजमलिनवक्रभावभाजां भवति भवः प्रभवात्मनाशहेतुः।

ये विवेकादि, विद्या की उत्पत्ति की श्लाघा क्यों करते हैं जब कि उससे इन सबका भी विनाश निश्चित है, रति के ऐसा पूछने पर कामदेव का उत्तर है—

जो स्वभावतः मलिन एवं कुटिल होते हैं; वे पैदा होकर जनक का तथा अपना भी विनाश करते हैं विवेकादि पापी कुल के विनाश में लगे हैं, उन्हें स्व-पर का ज्ञान कैसे होगा? देखिए धूम भी जो स्वभावतः मलिन और कुटिल है, मेघ बनने पर बरस कर अग्नि (जनक) को विनष्ट कर स्वयं भी विनष्ट होता है।

५—गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥

काम द्वारा की गयी अपनी निन्दा सुनकर उसके उत्तर में विवेक की उक्ति—

अरे दुरात्मन्, हमीं को पापी क्यों कह रहा है। इस हमारे जनक (मन) ने अहङ्कार के साथ मिलकर जगदीश्वर को बाँध रखा है और मोहादि ने उस बन्धन को दृढ किया है। ऐसे पापकर्मा जनक का परित्याग कर देना ही उचित होता है। पुराणवेत्ता लोगों का कहना है कि जो गर्व से उद्धत हो गया हो, कृत्याकृत्य का ज्ञान न रखता हो, कुमार्गगामी हो गया हो, वह अपना गुरु ही क्यों न हो, उसका परित्याग कर देने में ही अपना कल्याण है।

६—किं नाम वामनयना न समाचरन्ति।

क्या कारण है कि वह दुर्विदग्धा अविद्या वैसे महोच्चस्वभाव पुरुष को धोखे में डाल देती है,–ऐसा पत्नी (मति) के पूछने पर उत्तर में राजा विवेक की उक्ति—

अविद्या किसी कारण वा प्रयोजन को दृष्टि में रखकर नहीं प्रवृत्त होती हैं। अरे, इन स्त्री-पिशाचियों का स्वभाव ही ऐसा होता है। देखो, पुरुषों के भावुक हृदय को धोखे से अपने वश में करके उसके साथ कौन सा दुष्कृत्य नहीं करती हैं? उसे कभी संमोहित करती हैं, कभी मत्त बनाती हैं, कभी तिरस्कृत करती हैं, धिक्कारती हैं, कभी खुश करती हैं, कभी दुःखी करती हैं।

७—सेर्ष्यं प्रायेण योषितां भवति हृदयम्।

मति ने विवेक से पूछा कि प्रबोधोदय कैसे होगा। विवेक के लिए इस प्रश्न का उत्तर लज्जा का विषय था, अतः चुप रहा। मति ने पुनः जोर देकर लज्जा का कारण और उत्तर न देने का हेतु पूछा, तब विवेक को कहना ही पड़ा—

मेरे साथ उपनिषत् देवी का संसर्ग होने पर ही प्रबोध का उदय हो सकेगा। किन्तु ऐसा उत्तर देने में मुझे जो हिचक हो रही थी, उसका एक मात्र कारण यह है कि कहीं तुम मुझे कृतापराध न समझ लो। क्योंकि स्त्रियों का हृदय प्रायः ईर्ष्यालु होता है। वे अपने प्रिय को अन्य स्त्री की ओर आकृष्ट समझ कर उससे रुष्ट होती ही हैं, उस अन्य स्त्री के प्रति भी उनका हृदय ईर्ष्या से कलुषित हो जाता है। देवी उपनिषत् मेरे प्रति उदासीन हैं। वे मुझे अपनी ओर आकृष्ट करने का अपराध नहीं कर सकतीं। फिर भी मेरे उक्त उत्तर से उन अनपराद्ध देवी उपनिषत् के प्रति तुम्हारे हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न कर मैं अपराध का भागी हूँगा।

द्वितीय अङ्क

१—लघीयस्यपि रिपौ नानवहितेन जिगीषुणा भवितव्यम् ।

मन में विष्णुभक्ति से त्रस्त होने पर भी महामोह ने चार्वाक से कहा कि कामक्रोधादि के सामने विष्णुभक्ति सिर नहीं उठा सकेगी अतः उससे घबराने की आवश्यकता नहीं । इस पर चार्वाक की उक्ति है—

आप की बात ठीक है, फिर भी विजिगीषु व्यक्ति को छोटे से शत्रु के प्रति भी असावधान नहीं होना चाहिए । छोटा भी शत्रु परिणाम में भयङ्कर होता है और राजाओं के मर्म को दुखाता रहता है । छोटा-सा भी काँटा पैर में चुभने पर उद्विग्न किये बिना नहीं रहता । अतः शत्रु को कभी छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

तृतीय अङ्क

१—वामा विधेर्वृत्तयः ।

करुणा ने शान्ति से कहा कि सात्त्विकी श्रद्धा की ऐसी दुर्गति की संभावना मैं नहीं करती क्योंकि वैसी पुण्यमयी इस तरह की असंभावनीय विपत्ति नहीं भोगती हैं ।

इस पर शान्ति की उक्ति है—

विधाता की वृत्तियाँ कुटिल होती हैं । उसमें कारण ढूँढना व्यर्थ है । विधाता के प्रतिकूल होने पर क्या नहीं हो सकता है ? देखो, देवी श्री सीता जी को राक्षसराज रावण के घर रहना पड़ा, वेदत्रयी को दानवों ने पाताल में पहुँचा दिया, गन्धर्वकन्या मदालसा को पातालकेतु दैत्येन्द्र ने छल से हर लिया; अत एव विधि की प्रतिकूलता से संभव है कि श्रद्धा भी किसी महती विपत्ति में पड़ गयी हो ।

चतुर्थ अङ्क

१—अनुष्य संसारतरोरबोधमूलस्य नोन्मूलविनाशनाय ।
विश्वेश्वराराधनबीजजातात्तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः ॥ ।

अज्ञानमूलक महामोह की निवृत्ति का उपाय बताते हुए राजा विवेक की उक्ति है—

इस भवबन्धनरूप वृक्ष का मूल, अज्ञान है अतएव इस संसार वृक्ष का समूल विनाश तत्त्वज्ञान ही कर सकता है क्योंकि अज्ञान और तत्कार्य की निवृत्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय इसके लिए नहीं है। और वह तत्त्वज्ञान भगवदाराधन से ही संभव है क्योंकि भक्तियोग के अनन्तर ज्ञानयोग होता है।

२—निरयो नारीति नाम्ना कृतः।

खनखनाते हुए मणियों से युक्त मुक्ताहार, सोने के नूपुर, कुङ्कुम राग, सुगन्धित पुष्पों की विचित्र मालाएँ, रङ्ग-विरङ्गी कपड़े, इन सब वस्तुओं की, मूर्खों ने नारी में कल्पना कर ली है अर्थात् नारी स्वतः सुन्दर नहीं है किन्तु मूर्खों ने उक्त वस्तुओं का सौन्दर्य उसमें आरोपित कर उसे देख कर मत्त होते, प्रसन्न होते, क्रीडा करते और प्रशंसा करते हैं इस प्रकार स्वयम् अपने लिए बन्धन प्रस्तुत कर लेते हैं। बाहर-भीतर सब प्रकार से विचार करने वाले बुद्धिमान् लोगों को वही नारी मांस से लिपटी हुई हड्डी-स्वरूप, स्वभावतः दुर्गन्धपूर्ण बीभत्स ही दिखायी देती है इस प्रकार उनकी दृष्टि में नारी साक्षात् नरक है। इस प्रकार वस्तुविचार नामक विवेकपक्षपाती ने काम के प्रतिकूल नारी का वास्तविकरूप सांसारिकजनों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

पञ्चम अङ्क

१—निर्दहति कुलविशेषं ज्ञातीनां वैरसंभवः क्रोधः।

विवेकादि और महामोहादि के पारस्परिक संघर्ष पर विचार करती हुई श्रद्धा की उक्ति है—

बन्धुओं का पारस्परिक संघर्ष भयावह होता है। उनका वैरजनित क्रोध पूरे कुल को विनष्ट कर देता है। देखो, जंगल की दो डालियाँ वायुवेगवश जब निघृष्ट होती हैं, उस समय उनके पारस्परिक घर्षण से वह आग पैदा होती है जो समूचे वन को जला कर राख कर देती है अतः बन्धुओं का आपसी विरोध कभी श्रेयस्कर नहीं होता।

२— यदप्यभ्युदयः प्रायः प्रमाणादवधार्यते ।
कामं तथापि सुहृदामनिष्टाशङ्कि मानसम् ॥

विष्णुभक्ति विवेक के विषय में अपनी स्वाभाविक चिन्ता का कारण बताती हुई कह रही है—

यद्यपि विवेक की विजय निश्चित है, इसके अनेक पुष्ट प्रमाण हैं किन्तु शुभचिन्तक होने के कारण मेरा मन स्नेहवश जय की सम्भावना पर विश्वास कम करता है और वार-वार यही सोचता है कि कहीं विवेक का कोई अनिष्ट न हो जाय। यह स्नेह की महिमा है कि प्रमाणसिद्ध वात तो कुछ और है किन्तु हृदय अनिष्ट की ही कल्पना किया करता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में कविकुल गुरु कालिदास ने भी स्नेह की इस प्रकृति को व्यक्त किया है—

"अतिस्नेहः पापशङ्की"।

२— समानान्वयजातानां परस्परविरोधिनाम् ।
परैः प्रत्यभिभूतानां प्रसूते संगतिः श्रियम् ॥

शान्ति ने श्रद्धा से पूछा कि महामोहादि का मुकाविला करने के लिए स्वभावविरोधी आगमों और तर्कों में मेल क्यों कर हो गया। इस पर श्रद्धा ने उत्तर दिया—यद्यपि आगमों में परस्पर विरोध है और तर्क भी परस्पर विरुद्ध हैं किन्तु वे सव वेदरूप एक ही वंश से सम्वन्ध रखते हैं अतः नास्तिक पक्ष द्वारा अपमान उपस्थित होने की दशा में उनमें परस्पर मेल हो गया और यह मेल अब उनकी अपराजेयता का सूचक है, उनकी विजय अवश्य होगी। लोक में भी देखा जाता है कि यदि समान वंश में उत्पन्न परस्परविरोधी लोग शत्रु का सामना करने के लिए संगठित हो जाते हैं तो उनका अभ्युदय होता है। महाभारत में युधिष्ठिर ने भी यही वात कही है—'वयं पञ्च वयं पञ्च वयं पञ्च शतञ्च ते। अन्यैः सह विवादे तु वयं पञ्चशतोत्तरम् ॥' इति।

३— अनादरपरो विद्वानीहमानः स्थिरां श्रियम् ।
अग्नेः शेषमृणाच्छेषं शत्रोः शेषं न शेषयेत् ॥

श्रद्धा के मुख से यह सुन कर कि महामोह अपने कुछ अनुजीवियों के साथ भाग कर कहीं छिप गया है, विष्णुभक्ति का कथन है—

तब तो अनर्थ की जड़ शेष ही है। महामोह को ऐसी अवस्था में छोड़ देना ठीक नहीं किन्तु उसे ढूँढ कर विनष्ट ही कर देना चाहिए। शत्रुओं के उन्मूलन में प्रवृत्त बुद्धिमान् यदि स्थिर श्री चाहता है तो उसे अग्नि, ऋण और शत्रु के अवशिष्ट अंश को छोड़ना नहीं चाहिए क्योंकि ये आगे चलकर शीघ्र ही पुनः बढ़ जाते हैं और फिर उनके विनाश के लिए बड़ा आयास करना पड़ता है। हिन्दी के एक कवि ने भी यही बात कही है—

वैरी, पावक, रोग, रिन, सपनेहुँ राखिय नाहिं।
ये थोरे में बढ़हिं पुनि, महा जतन सों जाहिं॥

श्लोकानुक्रमणिका

	अङ्क	श्लोक
अकाण्डपात	५	२९
अग्निहोत्रं त्रयो	२	२६
अत्रानुज्झित	३	२२
अद्याप्युन्मद	१	५
अनादरपरो	४	११
अनुग्रहविधौ	६	११
अन्तर्नाडी	१	२
अन्धीकरोमि	२	२९
अपि यदि विशि	१	१३
अप्येतद्वारितं	५	३०
अमी धारायन्त्र	४	२७
अमुष्य संसार	४	७
अम्भःशीतकरा	६	२२
अयःस्वभावा	६	१६
अयि पीणघण	३	१९
अरे क इव वासवः	२	११
अवच्छिन्नस्य	६	२६
असतां निग्रहो	६	२
असावहंकार	१	२४
असौ त्वदन्यो	६	२५
अस्तं गतेषु	६	१
अस्ति प्रत्यर्थि	१	४
अस्पृष्टचरणा	२	८

	अङ्क	श्लोक
असाचीनव	५	२३
अहल्यायै जारः	१	१४
अहिंसा क्व	१	१५
आज्ञामवाप्य	२	२४
आत्मास्ति	२	१६
आवासो लयनं	३	९
इदं पवित्रममृतं	३	२०
उत्तुङ्गपीवरकुच	१	१०
उद्दामद्युति	६	२८
उद्धूतपांसु	४	२६
उप्यन्ते त्रिष	५	१६
एकः पश्यति	६	१९
एकमेव सदा	५	१५
एकामिषप्रभव	१	१८
एकोऽपि वहुधा	१	२८
एतत्कराल	३	१५
एष देवः पुराविद्भिः	४	३०
एषोऽस्मीति	६	२७
कनकसिकतिल	६	६
कल्पान्तवात	१	६
क्वचिद्विश्व	६	२१
कान्तेत्युत्पल	४	८
कालरात्रिकराला	४	२

	अङ्क	श्लोक
किं वाप्तं किमपोहितं	६	२६
कृष्णाजिनाग्नि	६	१३
केयं माता	२	३३
क्रुद्धे स्मेरमुखाः	४	१८
क्रोधान्धकार	४	१५
क्लमो न वाचां	४	१६
क्वचिदुपकृति	५	१७
क्वालिङ्गनं	२	२२
क्षेत्रग्राम	२	३२
गङ्गातीरतरङ्ग	२	५
गुरोरप्यव	१	२२
गौडं राष्ट्र	२	७
घोरां नारक	४	१
चन्द्रश्चन्दन	४	१३
जातोऽहं जनको	१	२९
ज्ञातुं वपुःपरि	३	११
ज्योतिः शान्त	५	९
ज्वलन्निवाभि	२	२
णत्थि जले	२	२४
णत्थि जले णत्थि	३	२५
तं पापकारिण	४	१७
तीर्णाः क्लेश	६	८
तीर्णाः पूर्णाः	५	१८
तुल्यत्वे वपुषां	२	१८
तोयार्द्राः सुर	४	२८
त्याज्यं सुखं	२	२३
त्वत्सङ्गाच्छा	५	३३

	अङ्क	श्लोक
त्वाष्ट्रं वृत्र	२	३१
दलितकुच	२	३५
दुराचारा	३	७
दूरे चलण	३	६
दृढतरमपि	४	११
दृष्टं क्वापि सुखं	३	१६
द्वौ तौ सुपर्णौ	६	२०
धनं तावल्लब्धं	४	२२
धाता विश्व	२	२८
ध्यायन्निमां	४	५
ध्रुवं ध्वंसो भावी	५	२
न कति पितरो	५	२७
नरास्थिमाला	३	१२
नानामुखं	४	२४
नार्यस्ता नव	५	३२
नास्माकं जननी	२	६
निकृन्ततीव	५	३
नित्यं स्मरञ्जलद	५	३१
नित्यानित्यविचार	६	३
निपीता वेश्याभिः	३	२१
निरन्तराभ्यास	५	२६
निर्दहति कुल	५	१
निष्यन्दैश्चन्दनानां	२	१५
निहतस्य पशोर्यज्ञे	२	२०
नीताः क्षयं	१	३
नीतान्यमूनि	६	१२
नीवाराङ्कित	३	३

	अङ्क	श्लोक
नैवाश्रावि	२	३
परममविदुषां	२	१६
पर्जन्योऽस्मिन्	६	३३
पान्थानामिव	५	२५
पुमानकर्ता	६	१५
पुरा हि धर्माध्वनि	६	१०
पुंसः सङ्गसमु	१	१९
प्रतिकूलामकुलजां	२	३८
प्रत्यक्षादिप्रमा	२	४
प्रभवति मनसि	१	११
प्रशान्ताराति	६	३२
प्रादुर्भवन्ति	५	२१
प्रायः सुकृति	४	७
फलं स्वेच्छालभ्यं	४	१९
वद्ध्वैको वहुधा	१	३१
वहुलरुधिर	५	१०
वालानामिव	४	१०
वाह्वोर्भग्ना	६	९
वाह्वोर्भग्ना	६	२४
भगवति तव	५	२८
भवसागरतार	६	७
भूत्वाकल्प	५	१४
भ्रूभङ्गभीम	४	४
मध्याह्नार्क	१	९
मलमय	३	५
मस्तिष्कान्त	३	१३
मार्जारभक्षिते	५	२०
मानिन्याश्चिर	१	३०
मामनालोक्य	३	२
मुक्तातङ्ककुरङ्ग	३	१
मुक्ताहारलता	४	९
मूलं देवी	३	२६
मृतानामपि	२	२१
मृत्युर्नृत्यति	४	२३
मृद्बिन्दुलाञ्छित	२	६
मोहान्धकार	६	३०
यदप्यभ्युदयः	५	४
यन्नास्त्येव	२	१७
यः प्रागासीदभि	२	३६
यस्माद्विश्वमुदेति	६	१४
यस्य हस्तौ च	२	१४
येन निःसृत	१	७
रण्डाः पीनपयो	१	१८
रम्यं हर्म्यतलं	१	१२
रागादिभिः सरस	१	२३
लभ्यं लब्धं	४	२१
ललितानां	५	१९
वशं प्राप्ते मृत्योः	५	२२
विद्याधरीं वाथ	३	२३
विद्याप्रबोधोदय	२	१२
विष्पट्टणीलुप्पल	३	१७
विपाकदारुणो	२	२७
विपुलपुलिना,	४	१[illegible]
विभिद्यकर्मा	६	१८

	अङ्क	श्लोक		अङ्क	श्लोक
विवेकेनेव	१	९	सन्त्येते मम	२	३०
विष्णोरायतना	५	५	संभूतः प्रथम	१	१७
विसर्पंति	५	१२	समानान्वय	५	८
वेदोपवेदाङ्ग	५	६	समारम्भा भग्नाः	४	२०
वेश्यावेश्मसु	२	१	संमोहयन्ति	१	२७
व्यतीतवैदार्थ	२	२५	सर्वे क्षणक्षयिण	३	८
शब्दानेष श्रृणोति	६	५	सहजमलिन	१	२१
शान्तेऽनन्तमहिम्नि	४	६	साङ्खचनन्याय	५	७
शान्तं ज्योतिः	६	२३	सैषान्तर्दधती	४	२९
श्येनावपात	४	३	सोऽपि स्ववीर्या	१	८
स्त्रियो ज्वाला	५	२४	सोऽहं प्रकीर्णैः	४	१४
श्री देवी जनका	३	४	स्फटिकमणि	१	२६
श्रोणीभारभरालसा	२	३४	स्फुरद्रोमोद्भेद	२	३७
सङ्गं न केनचि	६	३१	स्वप्नेऽपि देवी	५	१३
सज्ज्यन्तां कुम्भ	४	२५	स्मर्यते सा हि	२	३७
सततधृति	१	२५	स्वभावलीनानि	६	१७
सदनमुपगतो	२	१०	स्वर्गः कर्तृक्रिया	२	१९
स नरकादिव	६	४	स्वाराज्यं प्राज्य	३	१०
सन्तु विलोकन	१	१६	हरिहरसुरज्येष्ठ	३	१४

परीक्षोपयोगी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

चन्द्रालोकः । 'पौर्णमासी' संस्कृत तथा 'कथाभट्टी' हिन्दीटीका १८
ध्वन्यालोकः । 'दीधिति' संस्कृत-हिन्दी टीका ४५
सांख्यकारिका । गौड़पाद भाष्य तथा हिन्दी टीका १०-
भट्टिकाव्यम् । 'चंद्रकला' 'विद्योतिनी' सं. हि. टीका १-६ सर्ग २५-००, ७-११ सर्ग २५-००, १२-२२ सर्ग २५-००, १-४ सर्ग १५-००, ५-८ सर्ग २०-
प्रतिमानाटकम् । 'प्रकाश' सं० हि० टीका १५-
मालविकाग्निमित्रम् । 'प्रकाश' सं० हि० टीका २०-
अर्थसंग्रहः । 'मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी' सं० हि० टीका १५-
तर्कभाषा । 'तत्त्वालोक' सं० हि० टीका १५-०
मुद्राराक्षसनाटकम् । 'शशिकला' सं० हि० टीका २५-०
मालतीमाधवम् । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका ३५-०
चैतन्यचन्द्रोदयनामनाटकम् । 'प्रकाश' हिन्दी टीका २५-
अमरुशतकम् । 'रसिकसंजीविनी' तथा 'प्रकाश' हिन्दी टीका १२-
साहित्यदर्पणम् । 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका १-६ परिच्छेद ५५-
७-१० परिच्छेद ४५-०० संपूर्ण १००-०
सांख्यतत्त्वकौमुदी । 'तत्त्वचंद्रिका' हिन्दी व्याख्या सहित २५-०
रामायणमंजरी । क्षेमेन्द्रविरचित । सम्पा०—काशीनाथ पाण्डुरंग ७०-०
शिशुपालवधम् । मल्लिनाथ सूरि कृत 'सर्वंकषा' व्याख्या ७०-०
रत्नावलीनाटिका । 'कमलेश्वरी' संस्कृत हिन्दी टीका १२-०
अविमारकम् । 'कमलेश्वरी' संस्कृत हिन्दी टीका
वेणीसंहारनाटकम् । 'कमलेश्वरी' संस्कृत हिन्दी टीका
विक्रमोर्वशीयम् । 'विनोद' सं. हि. टीका
ऋग्वेदभाष्यभूमिका । हिन्दी व्याख्या सहित १०-०
दशकुमारचरितम् । 'चन्द्रकला' सं. हि. व्याख्या, पूर्वपीठिका सहित १०-०
मृच्छकटिकम् । सविमर्श 'भावप्रकाशिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार डॉ० जयशंकर लाल त्रिपाठी ५५-००
शिशुपालवधम् । 'आशुबोधिनी' सं. हि. व्याख्या । प्रथम सर्ग, ५-०० द्वितीय सर्ग ५-००, तृतीय सर्ग ५-००, चतुर्थ सर्ग ५-००, १-४ सर्ग २०-००
कुमारसंभवम् । सान्वय 'सुधा' सं. हि. टीका १-५ सर्ग
प्र. सर्ग २-५०, द्वि. सर्ग २-५०, तृ. सर्ग ३-००, च. सर्ग २-५०, ...

प्राप्तिस्थानम्—कृष्णदास अकादमी, पो० बा० १११८, वाराणसी-२२१००१